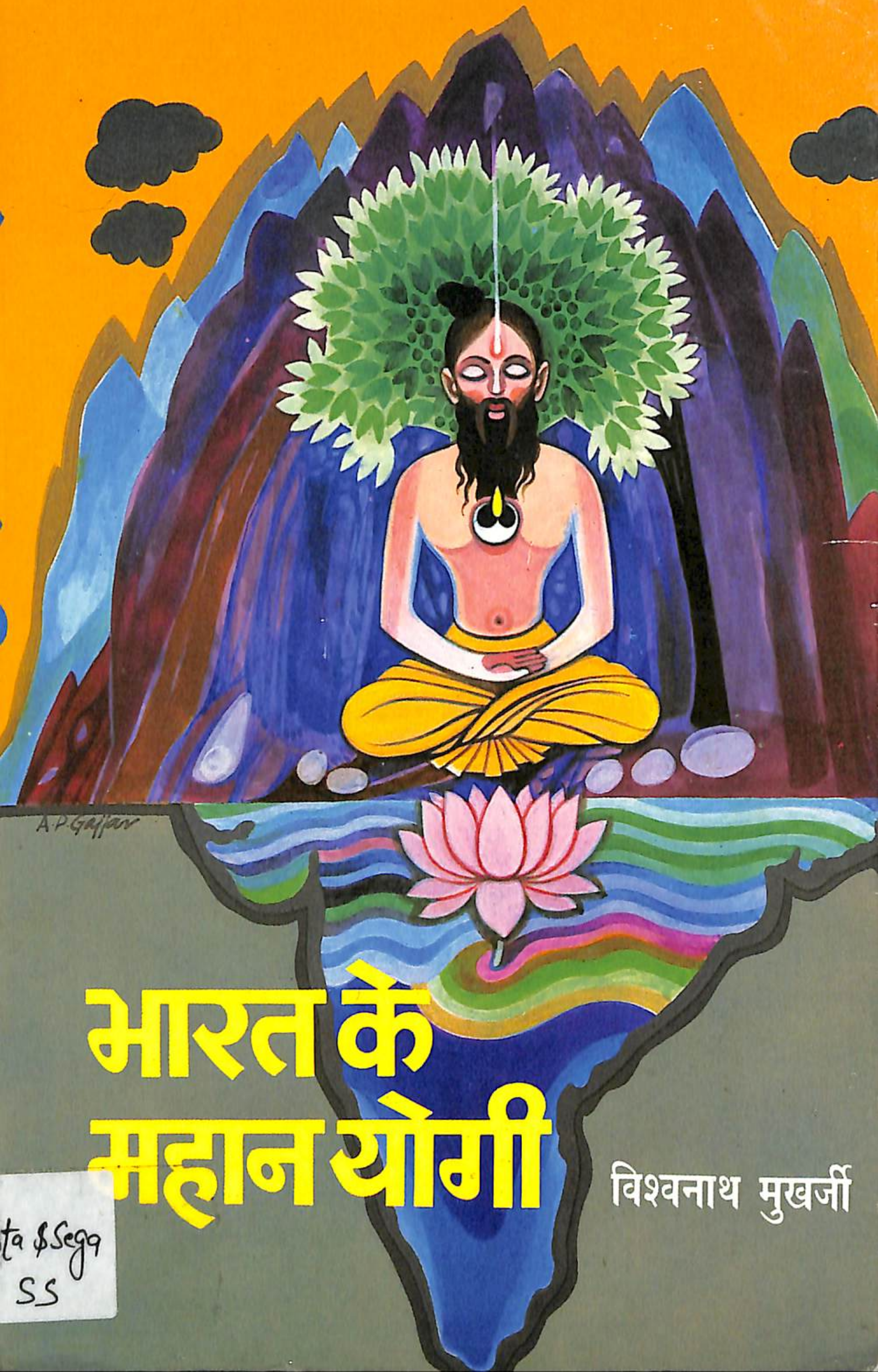
तेरह-चौदह



भारत के महान योगी

विश्वनाथ मुखर्जी

55-18

भारत के महान् योगी

(भाग १३-१४)

विश्वनाथ मुखर्जी

अनुराग प्रकाशन, वाराणसी

BHARAT KE MAHAN YOGI

(Part 13-14)

by

Vishwanath Mukherjee

ISBN : 81-89498-14-2

प्रथम संस्करण : 2006 ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2421472

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी–221 001

अनुक्रमणिका

●

१

श्री मधुसूदन सरस्वती

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध। बंगाल में एक छोटा-सा हिन्दू राज्य था। चंद्रदीप (वर्तमान वारिसाल अंचल में)। इसकी राजधानी कापचा थी। राजा कन्दर्प नारायण गुणीजनों का बहुत सम्मान करते थे लेकिन मुगलों के आक्रमणों और उनकी अधीनता स्वीकार करने के दबाव से काफी चिंतित रहा करते थे।

इसी समय कोटालिपाड़ा के अनसिया गाँव के प्रसिद्ध पंडित श्री प्रमोदन पुरन्दराचार्य अपने प्रतिभाशाली पुत्र मधुसूदन के साथ राजा के दरबार में पधारे। वे अपने पुत्र की प्रतिभा से राजा को परिचित कराना चाहते थे लेकिन राजा मुगलों के आक्रमण की खबर से इतने चिंतित थे कि इसके लिए समय न निकाल सके।

इस अपमान से क्षुब्ध पुरन्दराचार्य जब अपने पुत्र के साथ नाव द्वारा घर लौट रहे थे तभी मधुसूदन उनके पावों के पास बैठकर बोला-पिताजी, मैने निश्चय कर लिया है कि अब घर नहीं जाऊंगा। मैंने सोचा है, मनुष्य की आराधना न कर भगवान की आराधना करूँ। राजप्रासाद की बजाय देवता के प्रासाद में ही मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। राजा की अवहेलना केवल मेरा ही अपमान नहीं, मेरे पिता का भी अपमान है। इससे समस्त ब्राह्मण, पण्डित समाज और विद्यावेत्ताओं की मर्यादा को आघात लगा है। यह हमारे देश का शास्त्र और धर्म-संस्कृति का, ब्राह्मण धर्म का अपमान है। बारह वर्षीय बालक मधुसूदन के ओठ रोष से काँपने लगे। मधुसूदन ने आगे कहा, 'सुना है नवद्वीप में श्री गौरांगदेव का आविर्भाव हुआ है, मैं उनकी ही शरण में जाऊँगा।'

पिता पुरन्दराचार्य ने मधुसूदन को अनुमति दे दी लेकिन उसे माँ की सहमति लेने के लिए भी कहा। मधुसूदन ने घर आकर माँ से कहा, 'माँ मैं संन्यास लेना चाहता हूँ, तुम्हें इसकी अनुमति देनी होगी।' इतना सुनते ही माँ पर वज्रपात हो गया। वह विलाप करने लगीं।

मधुसूदन ने माँ को आश्वस्त किया, 'माँ मैं नवद्वीप ही जा रहा हूँ। वहाँ गौरांग प्रभु के चरणों में रहूँगा। नवद्वीप कोई दूर नहीं है। तुम जब चाहो आकर मुझसे मिल सकती हो।

पिता ने कहा, 'बेटा नवद्वीप में शास्त्र-ज्ञान के लाभ का बड़ा सुयोग है। तुम पहले ज्ञान प्राप्त करना, उसके बाद संन्यास ग्रहण करना। शीघ्रता मत करना।'

मधुसूदन माता-पिता का आशीर्वाद प्राप्त करके नवद्वीप चले आए।

मधुसूदन की जन्मभूमि उनसिया संस्कृति सम्पन्न ब्राह्मणों का गाँव था। यह प्राचीन, विक्रमपुर का अंश-विशेष तथा वर्तमान फरीदपुर जिला के कोटालिपाड़ा परगना में पड़ता था। किसी समय कोटालिपाड़ा मदारीपुर का ही अंश माना जाता था। गंगा और ब्रह्मपुत्र की बहुमुखी धाराएं इस भूमि को अभिसिंचित करती हुई बहती हैं। मधुसूदन का जन्म अनुमानित तौर पर १५२५ में हुआ। वे अपने पिता के चतुर्थ पुत्र थे।

मात्र आठ वर्ष की आयु में मधुसूदन काव्य अलंकार और न्यायशास्त्र में पारंगत हो गए। पुरन्दर के घर प्रायः विद्वत्जनों का जमावड़ा रहता। जब भी मधुसूदन से कहा जाता उनके कण्ठ से स्वरचित श्लोकों की धारा फूट पड़ती। इस बालक की प्रतिभा देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते।

घर से निकल कर मधुसूदन मधुमती नदी के किनारे पहुंचे। समस्या थी कि नदी कैसे पार की जाय। कहीं कोई नाव नहीं। वे वहीं बैठकर देवी जाह्नवी का स्मरण करने लगे। दीर्घकाल तक आवाहन करने के बाद देवी प्रकट हुईं। आविर्भूत होकर कहा, 'वत्स, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। आशीर्वाद देती हूँ कि तुम शीघ्र ही नदी पार कर लोगे।'

'करुणामयी जननी! मुझे केवल इस नदी को पार करा देने से काम नहीं चलेगा। मुझे वह वर दो जिससे मैं भव-नदी पार कर सकूँ।' मधुसूदन ने कहा। 'तथास्तु' कहकर देवी अन्तर्ध्यान हो गईं।

कुछ देर बाद ही मछुआरे नाव लेकर आ गए। उन्हें बालक मधुसूदन पर दया आ गई। उन्होंने उसे नदी पार करा दी।

मधुसूदन जब नवद्वीप पहुँचे तो प्रेमावतार गौरांग हमेशा के लिए नवद्वीप त्यागकर नीलांचल चले गए थे। मधुसूदन वहीं रुककर न्यायशास्त्र का अध्ययन करने लगे। इनके गुरु थे प्रख्यात नैयायिक पण्डित मथुरानाथ। इस बालक की अद्भुत प्रतिभा पर वे मुग्ध थे। मधुसूदन एक के बाद एक ग्रंथ का पाठ पूरा करने लगे। उन्होंने नैयायिक श्रेष्ठ गंगेय उपाध्याय का ग्रंथ 'तत्व चिंतामणि', उसके बाद पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि और मुथरानाथ की टीकाओं पर भी अधिकार कर लिया। कुछ समय में ही न्यायशास्त्र पर अधिकार हो गया।

मधुसूदन ने न्यायशास्त्र का अध्ययन तो कर लिया किन्तु नवद्वीप के भक्तिमार्गीय साधकों के सानिध्य से उनका अंतर रससिक्त हो उठा। न्यायशास्त्र के मत में ईश्वर, जीव, जगत् सबकुछ ही पृथक है। इसी कारण इस शास्त्र का सिद्धान्त द्वैत-परक है। मधुसूदन ने एक अकाट्य द्वैतवादी ग्रंथ की रचना का संकल्प किया। लेकिन शंकर के अद्वैत मत का खण्डन किए बिना यह कार्य संभव नहीं हो सकता था। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि इसके लिए उन्हें वेदान्तविद्या के केन्द्र वाराणसी जाना होगा और मधुसूदन तमाम बाधाओं को पार करते हुए अपने ग्रन्थों को कंधे पर लादे वाराणसी जा पहुँचे।

काशीधाम विद्या का केन्द्र था। वहाँ हर समय शास्त्र-चर्चा और वैचारिक द्वन्द चला करता। देश के विख्यात विद्वान अपने शिष्यों के साथ काशी में निवास कर रहे थे। रामतीर्थ, उपेन्द्र, तीर्थनारायण, भट्ट, माधव सरस्वती, नृसिंहाश्रम, आप्पय दीक्षित, जगन्नाथ आश्रम, कृष्ण तीर्थ, विश्वेश्वर सरस्वती प्रभृति महापण्डितों की प्रतिभा की छटा से काशी का कोना-कोना आलोकित था। इनके बीच वेदान्त के मर्मज्ञ-आचार्य रामतीर्थ ही मधुसूदन की पसंद आए। उन्हीं के सानिध्य में वेदान्त का अध्ययन करने लगे। अपनी कुशाग्र बुद्धि, त्याग, वैराग्य और भक्ति भाव के कारण मधुसूदन जल्द ही वेदान्त के पंडित हो गए।

एक दिन दक्षिण भारत के प्रकाण्ड विद्वान पण्डित नारायण भट्ट के साथ काशी के प्रसिद्ध वेदान्तिक नृसिंहाश्रम और उपेन्द्र सरस्वती का विचार द्वन्द चल रहा था। इस विचार-द्वन्द में वेदान्तवादी पण्डित द्वय ने तरुण नैयायिक मधुसूदन की यथेष्ठ सहायता की। लेकिन नारायण भट्ट एक धुरंधर मीमांसा शास्त्रविद थे। उनके समक्ष काशी के दोनों विद्वान निरुत्तर हो गए। इस घटना ने मधुसूदन को सजग कर दिया। उन्होंने मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन भी शुरू कर दिया। काशी में उस समय माधव सरस्वती नैयायिक मीमांसक के रूप में खूब प्रख्यात थे। मधुसूदन ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया और थोड़े ही समय में मीमांसा-शास्त्र में भी पारंगत हो गए। इसके बाद भारतीय दर्शन और अध्यात्म का गहरा अध्ययन किया। एकनिष्ठ साधना और शास्त्रानुशीलन के परिणामस्वरूप उनके जीवन में अपरूप तपोज्वल बुद्धि विकसित हो उठी और उसी के साथ-साथ वेदान्त का निहितार्थ भी उनके अन्तर में उद्‌भासित होने लगा।

मधुसूदन ने पाया कि भगवान को अन्तर्रात्मा के रूप में जाने बिना जीवन के लिए सच्ची भक्ति, सच्चा आत्म-समर्पण कभी सम्भव नहीं होता और इस आत्मस्वरूप का बोध ही साधक के समस्त भेद-ज्ञान को समाप्त कर देता है अभेद और अद्वैतभाव उसके मन में उद्‌भासित हो उठता है। अन्तर्रात्मा तो मैं स्वयं हूँ। भक्ति और आत्मसर्पण में इसी से सामान्यतम भेद ज्ञान रहने से जीव का 'निजत्व' बचा रहा है—द्वैत वहाँ खड़ा हो जाता है। वृहदारण्यक में महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी परम अद्वैत ज्ञान आत्मप्रीति के उदाहरण द्वारा समझाया है—'न वा अरे पत्युः कामाय प्रतिः प्रियो भवति, आत्मनस्यु कामाय पतिः प्रियो भवति।' अर्थात् श्रुति कहती है, पति के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने लिए ही पति प्रिय होता है। इसका निहितार्थ प्रकृति प्रेम आत्मा से ही होता है एवं उसके साथ समन्वित हो यह दूसरे पर जन्मता है। पूर्णतम प्रेम इसी से केवल भगवान की—आत्मा की उपलब्धि करने से ही संभव हो सकता है। पूर्ण अभेद ज्ञान में ही पूर्ण भक्ति निहित रहती है। मधुसूदन ने समझा कि सर्वापेक्षा प्रामाणिक शास्त्र एवं श्रुति प्रकृत पक्ष में अद्वैत ब्रह्म का ही तत्त्वनिर्देश करती है।

मधुसूदन ने आचार्य रामतीर्थ के निकट अपने वेदान्त पाठ के प्रकृत उद्देश्य को गोपन ही देखा था। इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए उन्होंने गुरु से निवेदन किया—'भगवन् मैंने आपके चरणों में भयंकर अपराध किया है। आप कृपाकर मेरे इस पाप के लिए मुझे उपयुक्त दण्ड का विधान करें।'

स्वामी रामतीर्थ ने आश्चर्यचकित होकर कहा, 'यह क्या वत्स, तुम्हारे समान सदाचारी गुरुभक्त विद्यार्थी तो मेरे यहाँ कोई आया ही नहीं। कोई अन्याय आचरण भी तो मैंने करते तुम्हें नहीं देखा। तुम्हारे मुख से यह सब मैं क्या सुन रहा हूँ?'

मधुसूदन ने नवद्वीप यात्रा और अपने अध्ययन के उद्देश्य के बारे में बताते हुए कहा कि मैं अद्वैतवाद के खण्डन में एक ग्रंथ लिखना चाहता था किन्तु आप के पास आकर स्वयं अद्वैतवाद में रम गया। यह आपके साथ कपट था यद्यपि आपकी कृपा के बिना प्रकृत सत्य और सिद्धान्त की खोज मैं नहीं पा सकता था। इस कपट के लिए आप मुझे दण्डित करें।

रामतीर्थ का हृदय हर्ष और विस्मय से भर गया। उन्होंने मधुसूदन का स्नेहालिंगन किया और बोले, 'तुम प्रायश्चित की दृष्टि से संन्यास लो। संन्यास से पुनर्जन्म होगा। पाप का भी मोचन हो जाएगा। तुम मण्डलेश्वर विश्वेश्वर सरस्वती के निकट संन्यास ग्रहण करो।' थोड़ी देर रुकने के बाद रामतीर्थ ने पुनः कहा, 'एक बात और सुनो वत्स। मध्व सम्प्रदाय के व्यास रामतीर्थ ने हम लोगों के अद्वैतवाद का खण्डन के लिए एक सुविस्तृत ग्रंथ-'न्यायमृत' लिखा है। इस ग्रन्थ ने हमलोगों की अपूरणीय क्षति की है। तुम इसका खण्डन कर अद्वैत मत को सिद्ध करो, सुप्रतिष्ठित करो।' मधुसूदन सानन्द सम्मत हो गुरु-चरणों में प्रणत हुए।

मधुसूदन विश्वेश्वर सरस्वती के पास गए और संन्यास की इच्छा व्यक्त की। सरस्वती महाराज ने कहा, 'वत्स, मैं कुछ दिनों के लिए तीर्थ पर्यटन में जा रहा हूँ। वहां से लौटकर तुम्हें संन्यास-दीक्षा दूंगा। इस बीच तुम गीता पर एक टीका लिखो। उससे तुम्हारी योग्यता की परीक्षा होगी।' सरस्वती महाराज तीर्थयात्रा से लौटे। मधुसूदन द्वारा रचित टीका देखकर प्रसन्न हुए और उन्हें संन्यास-दीक्षा दे दी।

काफी दिनों के परिश्रम से मधुसूदन ने एक ग्रंथ की रचना की जिसका नाम था 'अद्वैत-सिद्धि'। इस पुस्तक में उन्होंने अद्वैत मत के समर्थन में अकाट्य तर्क दिए। इस ग्रंथ ने उन्हें देशव्यापी कीर्ति दी। कुछ दिनों बाद मधुसूदन विश्वेश्वर सरस्वती और अन्य गुरु-भाइयों के साथ तीर्थ यात्रा के लिए निकले। यमुनातट के एक स्थान पर गुरु बोले, 'मधुसूदन यह स्थान तुम्हारे साधन-भजन के लिए अत्यन्त अनुकूल है। यहाँ कुछ दिन तक तुम तपस्या करो, हम लौटते

समय तुमसे मिलेंगे।' गुरु का निर्देश पाकर मधुसूदन नदी तट पर आसन जमाकर बैठ गए। इसी बीच एक अलौकिक घटना घटी। सम्राट अकबर की राज महिषी उस समय शूल रोग से पीड़ित थीं। एक रात उन्होंने स्वप्न देखा कि यमुना के किनारे एक संन्यासी तपस्यारत हैं। उनसे औषधि पाते ही वह रोगमुक्त हो गई हैं।

सम्राट अकबर ने पता लगवाया कि यमुनातट पर कोई संन्यासी तपस्यारत है या नहीं। जब उन्हें इसकी सत्यता का पता लगा तो वे छद्मवेश में अपनी पत्नी के साथ वहाँ गए। दोनों लोगों ने देखा कि कृच्छव्रती तरुण तपस्वी एकान्त भाव से तपस्या में लीन है। उनका शरीर चारो ओर से बालुका से आच्छादित है। बहुत दिनों बाद इस साधु का ध्यान भंग हुआ। राज महिषी ने अपने रोग के बारे में मधुसूदन को बताया। मधुसूदन ने कृपापूर्वक कहा, 'माँ, तुम घर जाओ, भगवत कृपा से तुम शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाओगी।' राज महिषी घर लौटीं। उन्हें शीघ्र ही रोग से छुटकारा मिल गया। अकबर बेहद प्रसन्न हुए। उन्होंने मधुसूदन को भारी दौलत भेंट में देना चाहा लेकिन मधुसूदन ने सब कुछ अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा, 'सम्राट, आप प्रजा और धर्म के रक्षक हैं। इस कर्तव्य का पालन करते रहें, यही मैं चाहता हूँ।' तीर्थ से लौटकर स्वामी विश्वेश्वर सरस्वती को इस घटना का पता लगा। वे बहुत प्रसन्न हुए। अब मधुसूदन की कीर्ति चारो ओर फैल गई।

गीता की टीका और 'अद्वैतसिद्धि' के बाद मधुसूदन सरस्वती ने अनेक महान ग्रंथों की रचना की। उनकी कीर्ति पूरे देश में फैल चुकी थी। वे काशी के शास्त्र-मर्मज्ञों के सर्व स्वीकार्य प्रतिनिधि बन चुके थे। उनका आश्रम गंगा के योगिनी घाट पर था। भक्त तुलसीदास भी इसी के पास हरिश्चन्द्र घाट के समीप रहते थे। मधुसूदन सरस्वती और तुलसीदास के बीच बहुत ही घनिष्ठ स्नेह-भाव था।

काशी के पण्डित रामचरित मानस की रचना लोकभाषा अवधी में करने के कारण तुलसीदास के कट्टर विरोधी हो गए थे। उन्हें समझाने के लिए तुलसीदास ने एक दोहे की रचना की जो इस प्रकार है—

हरिहर यश सुरनर गिरा, वरणहि सन्त सुजान।
हाँड़ी हाटक चाक-चिक, रांधे स्वाद समान॥

अर्थात् हरिहर यश-वर्णन साधुगण देवभाषा में करें अथवा जनसमाज की भाषा में, उसका फल एक ही है। चमकते हुए सोने के बर्तन में रंधन कीजिए अथवा मिट्टी की हांड़ी में, भोजन का स्वाद एक ही रहेगा।

विक्षुब्ध पण्डितगण इस दोहे को लेकर संत-शिरोमणि मधुसूदन सरस्वती के पास गए। उन लोगों ने उनका मत जानना चाहा। मधुसूदन सरस्वती ने तत्काल एक श्लोक के माध्यम से पण्डितों को उत्तर दिया—

परमानन्द पत्रोऽयं, जङ्गमस्तुलसी तरुः।
कविता मंजरी यस्य, रामभ्रमर चुम्बिता॥

अर्थात् तुलसीदास रूप चलमान तुलसीतरु के परमानन्दमय हैं, उस तुलसीदास की मंजरी है तुलसीदास की कविता और वह कविता-मंजरी भी है राम-भ्रमर द्वारा चुम्बित।

प्रवीण वेदांतिक मधुसूदन सरस्वती की यह उदारता देखकर ब्राह्मण बड़े ही विस्मित हुए। फिर वे तुलसीदास का विरोध न कर सके। मधुसूदन के इस समर्थन ने काशी के शास्त्रज्ञ पण्डित समाज को तुलसीदास के गुणों के बारे में सजग कर दिया। इससे तुलसीदास को भक्तिभाव के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

भक्ति और ज्ञान की गंगा-यमुना मधुसूदन के जीवन-दर्शन और साधना में शामिल हो गई थी। द्वैतवाद के समस्त युक्ति-तर्कों का खण्डन कर जिन्होंने अद्वैतवाद को सिद्ध किया, उन्होंने प्रेमभक्ति से सिक्त रसमय श्लोकों की रचना की। जैसे—

अद्वैत-सामाज्य-पथाधिरुढ़ा स्तृणीकृताखण्डलवैभवाश्च।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधू विटेन॥

श्रीकृष्ण के परम मधुर रूप और अपनी उपासना का उल्लेख करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुण विम्बफलाधरोष्ठात्।
पुर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

मधुसूदन सरस्वती नहीं मानते कि श्रीकृष्ण तत्व से परे भी कोई तत्व है। बाहरी तौर पर यह बात अद्वैत-विरोधी लगती है किन्तु प्रकृत पक्ष में ऐसा नहीं है। वह जिस साकार कृष्ण की उपासना करने को कहते हैं वह 'उपास्य परम तत्व' है। उपास्य तत्व के बीच वे श्रेष्ठतम है किन्तु उनका 'श्रेय-तत्व', अवश्य ही निर्गुण और निर्विशेष है। मधुसूदन के अनुसार 'कृष्ण-तत्व' की इस बात से अद्वैत-तत्व खण्डित नहीं होता।

मधुसूदन सरस्वती कहते हैं, प्रथम स्तर में जीव अपने को भगवान का दास मानता है, द्वितीय स्तर में भावना करता है कि भगवान उसके भक्ति-प्रेम के अधीन है, तृतीय स्तर में वह अपने को भगवान से अभिन्न मानता है। यह अभेद उपासना ही भक्ति की चरम सीमा है।

मधुसूदन सरस्वती अपनी समन्वयवादी दृष्टि के कारण भी ख्यात हुए। वे ज्ञान और भक्ति में समन्वय करते थे। किन्तु उनकी ख्याति का सबसे बड़ा कारण उनकी अलौकिक योगशक्ति थी। वाराणसी स्थित उनके आश्रम में विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। उनके शिष्यों में प्रमुख थे बलभद्र, शेष गोविन्द, पुरुषोत्तम सरस्वती आदि। दौ अद्वैतवाद विरोधी प्रतिभाशाली छात्रों ने भी मधुसूदन सरस्वती

से शिक्षा ग्रहण की थी। इनमें से एक थे मध्व-सम्प्रदाय के पण्डित व्यासराम और दूसरे थे गौड़ीय वैष्णव-दर्शन के श्रेष्ठ प्रचारक श्री जीव गोस्वामी।

व्यासराम द्वैतवादी थे लेकिन छल से मधुसूदन सरस्वती से शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने द्वैतवाद पर एक पुस्तक भी लिखी—जिसे देखकर मधुसूदन सरस्वती ने कहा, 'वत्स, तुम द्वैतवादी मध्व-सम्प्रदाय-मुक्त व्यासराम के आदेश से ही अद्वैतवाद के खण्डन के लिए गुप्तरूप से मेरे आश्रम में आए। मैं सब जानता था। तुमने मेरा शिष्यत्व ग्रहण किया है, आचार्य होकर मैं तुम्हारे इस ग्रंथ का प्रतिवाद नहीं कर सकता। यह काम मेरा कोई शिष्य ही करेगा।' मधुसूदन के शिष्य बलभद्र ने अपनी सिद्धि व्याख्या में व्यासराम के ग्रंथ का समुचित उत्तर दिया।

रूप सनातन के भ्रातृष्वपुत्र, श्रेष्ठ गौड़ीय पण्डित श्रीजीव ने भी मधुसूदन सरस्वती के निकट ही अद्वैत-वेदान्त अध्ययन किया। परवर्ती काल में षट्सन्दा-र्भिति बहुत से ग्रंथों की रचना कर अद्वैतवाद के ऊपर उन्होंने करारा प्रहार किया। उनका अभिप्राय जानते हुए भी मधुसूदन सरस्वती ने उन्हें उदारतापूर्वक शास्त्र ज्ञान दिया।

एक समय जब हिन्दू संन्यासियों पर मुसलमानों का अत्याचार काफी बढ़ गया। तब बहुत से संन्यासीगण मधुसूदन सरस्वती के पास गए। सम्राट अकबर और उनके मंत्री टोडरमल से मधुसूदन का अच्छा परिचय था। दोनों उनका सम्मान करते थे। कुछ दिनों पूर्व ही टोडरमल के साथ पण्डितों का तर्क-वितर्क हुआ था। पण्डित टोडरमल को कायस्थ कह कर उनका उपहास करते थे। उस समय मधुसूदन के समर्थन से ही टोडरमल की मान-रक्षा हुई थी। पण्डितों ने मधुसूदन से अपना मत व्यक्त करने की याचना की। मधुसूदन ने टोडरमल को क्षत्रिय-वंशीय ठहराया। संन्यासियों की रक्षा के लिए मधूसूदन ने टोडरमल से कहा। टोडरमल ने सारी बात अकबर के कानों में पहुंचाई। अकबर मुल्लाओं को नाराज किए बिना इस समस्या का हल निकालना चाहते थे। उन्होंने सभी शास्त्रविदों की एक सभा बुलाई। इस सभा में मधुसूदन भी उपस्थित हुए। उनके दार्शनिक विचार, तर्कशक्ति विद्याध्ययन और आकर्षक व्यक्तित्व ने सभी को मोहित कर दिया। मुल्लाओं ने भी मधुसूदन की प्रशंसा की। पण्डितों ने मधुसूदन के सम्बन्ध में उस समय इस श्लोक की रचना की—

वेत्तिपारं सरस्वत्याः मधुसूदन सरस्वती।
मधुसूदन-सरस्वत्यः पारं वेत्ति सरस्वती॥

अर्थात् ज्ञानाधिष्ठात्री देवी सरस्वती का ओर-छोर मधुसूदन ही जानते हैं और मधुसूदन का थाह केवल देवी सरस्वती ही जान सकती हैं।

मधुसूदन ने बादशाह से संन्यासियों के रक्षार्थ निवेदन किया। मौलवी उस समय मधुसूदन की प्रतिभा, अध्यात्मशक्ति और गंभीर विद्या से मुग्ध हो रहे थे।

किसी ने उनका विरोध नहीं किया। चतुर बादशाह ने इतना ही आदेश दिया कि संन्यासीगण भी आत्मरक्षा करते रहें, किन्तु संघर्ष उपस्थित होने पर मुल्ला या संन्यासी किसी भी पक्ष को विचारालय में खींच कर नहीं लाया जा सकेगा। इसके बाद मधुसूदन के समर्थन से नागा संन्यासियों को अस्त्र-शस्त्र से सज्जित किया गया। अस्त्र में निपुण होने पर भी मुस्लिम शासन में वे उनका प्रयोग करने में डरते रहे। इस बार मधुसूदन की कृपा से उन्हें सुविधा मिली। इसके अलावा बहुत से हिन्दू योद्धाओं को भी इस समय मधुसूदन के निर्देशानुसार संन्यास मंत्र में दीक्षित किया गया। मधुसूदन के नेतृत्व में संन्यासीदल आत्मरक्षा में और अन्याय के प्रतिरोध में तत्पर हो गया।

मधुसूदन सरस्वती वृद्ध हो चुके थे। एक दिन महायोगी गोरक्षनाथ की विदेही सत्ता का साक्षात्कार हुआ। मधुसूदन जैसे ही गंगास्नान कर तट पर आए गोरक्षनाथ ज्योतिर्मण्डित सूक्ष्म देह में उनके सम्मुख आविर्भूत हुए। आत्मपरिचय देने के बाद योगेश्वर ने मधुर हंसी के साथ मधुसूदन के सम्मुख एक अमूल्य रत्न बढ़ा दिया और कहा, 'वत्स यह चिंतामणि रत्न है। इस परमवस्तु को मैं किसे दूँ, इसकी ही खोज कर रहा था। तुम्हीं इसे धारण करने के परम अधिकारी हो। यह तुम सदा अपने पास रखो, जब जिस वस्तु को चाहोगे, इसके प्रसाद से वह सुलभ हो जाएगी।'

मधूसूदन ने प्रणति ज्ञापित कर शान्त स्वर से कहा, 'योगिराज, मुझे तो किसी वस्तु का अभाव नहीं है। अत: चिन्तामणि का मैं अपने लिए कोई प्रयोजन नहीं देख पा रहा हूँ। आप योग्यतर पात्र ढूँढ़कर यह अमूल्य रत्न उसे दे दें।'

गोरक्षनाथ के काफी आग्रह पर मधुसूदन ने कहा, 'यदि आप मेरे सिवा किसी अन्य को यह रत्न नहीं देना चाहते तो दे दें। लेकिन पहले यह बात कह दें कि मैं इसके अधिकारी रूप में इसके साथ जो चाहूँगा करूँगा।' गोरक्षनाथ ने स्वीकृति दी और मधुसूदन ने उनके हाथ से रत्न ग्रहण कर लिया। इसके तुरन्त बाद उसे गंगा में फेंक दिया। गोरक्षनाथ हँसते हुए बोले, 'मधुसूदन, अब कहो, चिन्तामणि मैंने सच्चे अधिकारी को ही दी है अथवा नहीं।'

लगभग १९३२ ईस्वी में मधुसूदन १०७ वर्ष के हो चुके थे। अंतिम यात्रा के लिए वे हरिद्वार गए। सिद्ध पुरुष ने योग बल से जान लिया कि उनके महाप्रयाण का समय निकट है। जीवन के सारे बहिरंग कार्यों से मुक्त हो चुके हैं। शेष दिनों की बात भी अपने शिष्यों को बता चुके हैं। निर्दिष्ट पुण्य लग्न में आप्तकाम महापुरुष मोक्षदायिनी हरिद्वार की गंगा के तट पर समाधिमग्न हो गए। यह उनकी महासमाधि थी।

●

२

आचार्य रामानुज

रामानुज का जन्म १०१७ ई० में पेरेमबुदुर में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। पिता केशवाचार्य विद्वान और शास्त्रों के मर्मज्ञ थे और माता काँतिमती को भक्तिसम्पदा विरासत में मिली थी। माता और मातुल वंश की अतुलनीय भक्ति रामानुज को बचपन में ही उत्तराधिकार में प्राप्त हुई।

धीरे-धीरे रामानुज शैशवावस्था से बाल्यावस्था में प्रविष्ठ हुए। एक दिन वे अध्यापक के यहाँ से घर आ रहे थे। शाम का समय था। उनकी दृष्टि उधर से गुजरते हुए एक साधु पर पड़ी। रामानुज उस साधु के पास गए और घर चलने का हठ करने लगे। साधु को उनका हठ मानना पड़ा। साधु के साथ रामानुज घर गए। केशवाचार्य साधु को देखकर अति प्रसन्न हुए। बेटे से कहा, 'वत्स, काँचिपूर्ण इस क्षेत्र के एक प्रसिद्ध साधु और परमभागवत हैं। श्री वरदराज का निर्वाक विग्रह अपने इस परमभक्त के मुख से ही बोलता है। इन्हीं के मुख से सभी को उस देवता का निर्देश प्राप्त होता है। पूर्ण श्रद्धा और आदर से तुम इनकी सेवा और अभ्यर्थना करो।' तब रामानुज को पता चला कि जिस व्यक्ति को वे घर ले आए हैं वह कोई साधारण साधु नहीं है। वे विष्णु कांचि के जाग्रत विग्रह श्री वरदराज के परमभक्त और अनुग्रहीत हैं।

खाना खाने के बाद काँचिपूर्ण विस्तर पर लेटे। रामानुज उनके पैताने बैठे थे। जब उन्होंने साधु का चरण दबाने के लिए हाथ लगाया, तभी कांचिपूर्ण उठ बैठे। कहा, 'यह क्या, वत्स। तुम कैसे मेरी चरण-सेवा कर सकते हो? तुम ब्राह्मण-पत्र हो और मैं शूद्र। नहीं, नहीं, यह उचित नहीं होगा।'

प्रभो। उपवीत धारण करने मात्र से क्या कोई ब्राह्मण हो जाता है? मेरी समझ से तो हरिभक्ति-परायण व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है। विख्यात भक्त तिरूप्पान आलोचार क्या चांडाल होकर भी ब्राह्मणों के पूज्य नहीं हुए? लगता है मेरा अदृष्ट मंद है, तभी आप जैसे परमभागवत की सेवा का अधिकार मुझे नहीं मिल रहा है।' बालक की बातें सुनकर काँचिपूर्ण के विस्मय का पारावार नहीं रहा। उन्हें समझते देर नहीं लगी कि यह बालक भस्मावृत स्फुलिंग है। वरदराज के अत्यंत असाधारण कृपा-भाजन जाग्रत देव विग्रह श्री कांचिपूर्ण के पुण्य स्पर्श और मधुर स्मृति ने रामानुज के भीतर आध्यात्मिक जीवन को उसी दिन बीजारोपण कर दिया।

रामानुज जब १६ वर्ष के हुए तो उनका विवाह एक सुन्दर और सुशील कन्या से कर दिया गया। इस विवाह के एक माह ही हुए थे कि केशवाचार्य का निधन हो गया। रामनुज ने शास्त्रों का अध्ययन करने का निश्चय किया और काँची के प्रख्यात अद्वैतवादी विद्वान आचार्य यादव प्रकाश से शास्त्राध्ययन करने लगे। कुछ ही दिनों के भीतर वे आचार्य के चतुष्पाठी के उत्तम छात्र गिने जाने लगे।

एक दिन रामानुज आचार्य के स्नान से पूर्व उनकी देह-मालिश कर रहे थे। रामानुज ने आचार्य से छान्दोग्य उपनिषद् के इस पद की व्याख्या जाननी चाही—'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवभक्षिणी।' यादव प्रकाश ने इस छंद की बहुप्रचलित व्याख्या ही सुनाई—'स्वर्ण-वर्ण पुरुष की आंखें बंदर के गुदा-प्रदेश के समान रक्त वर्ण थी।' भगवन् के नयनकमल की यह कैसी अश्लील और घृणित उपमा? रामानुज इस व्याख्या से उद्वेलित हो उठे। क्या उपनिषद के मंत्र-स्रष्टा ऋषि को भगवान के कमलनयनों के लिए और कोई उपमा नहीं मिली? रामानुज रो पड़े। उनके अन्तर में बार-बार यह बात उठने लगी। नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। आचार्य की अनावृत्त जांघ पर रामानुज के आंसू की बूंदे गिर पड़ीं। आचार्य ने सिर उठाकर देखा, रामानुज रो रहे थे। आचार्य ने इसका कारण पूछा। रामानुज ने कहा, 'प्रभो, आपके जैसे महानुभाव के मुख से उपनिषद् की ऐसी व्याख्या सुनकर मर्माहत हूँ। सच्चिदानन्द विग्रह के नयन-कमल के साथ बंदर के अपान-देश की तुलना केवल अशोभनीय ही नहीं, पापजनक भी है। आपके समान प्रज्ञ महापुरुष के मुख से ऐसे कदर्थ की आशा मुझे कभी नहीं थी।'

'क्या इससे उत्कृष्ट व्याख्या तुम दे सकते हो?' आचार्य ने पूछा।

'प्रभो, आपके आशीर्वाद से सब कुछ संभव हो सकता है।' रामानुज बोले।

'बहुत अच्छा अपनी नई व्याख्या तुम दे डालो। लगता है तुम शंकराचार्य से आगे बढ़कर रहोगे।'

'जी हाँ, आपके आशीर्वाद से यह भी परे नहीं है।' रामानुज ने हाथ जोड़कर निवेदन किया। रामानुज ने व्याख्या की, 'कप्यास' पद के 'क' का अर्थ जल 'पि' का पीना, आकर्षित करना, 'आस' का 'आस'—धातु सम्बंध निहितार्थ विकसित होने वाला संभव है। इस प्रकार सम्पूर्ण पद का ध्वन्यर्थ कमल-जल को आकृष्ट करने वाले सूर्य द्वारा खिलाये जाना वाला हुआ। अर्थात् सूर्य-मंडल के मध्य में स्थित पुरुष की दोनों आँखें सूर्य द्वारा विकसित किये गये कमल-युगल की तरह हैं।'

यह व्याख्या सुनकर आचार्य रुष्ट हुए। बोले, 'तुमने जो कुछ कहा, वह प्रधान अर्थ नहीं है, गौण अर्थ हो सकता है। फिर भी तुम्हारी व्याख्या-चातुर्य

प्रशंसनीय है।' आचार्य यादव प्रकाश इस घटना से भीतर ही भीतर काफी क्रोधित थे किन्तु उन्होंने इसे प्रकट नहीं होने दिया।

आचार्य की प्रतिष्ठा तांत्रिक के रूप में भी थी। एक बार काँची की राजकन्या किसी दुष्ट प्रेतात्मा के गिरफ्त में आ गई। काफी चिकित्सा के बावजूद ठीक नहीं हुई। आचार्य को राज-प्रासाद में बुलाया गया। उन्होंने रोगिणी के निकट मंत्रपाठ किया। मंत्र-प्रेरित प्रेत ने राजकुमारी को मुक्त तो कर दिया लेकिन एक निराली बात कही। उसने अनुरोध किया, 'पण्डित जी, मैं राजकुमारी को छोड़कर तो चला जाऊँगा, किंतु इसके पहले सामने खड़े अपने शिष्य रामानुज को मेरे सिर पर चरणस्पर्श करने दो। तुम्हारे इस शिष्य की देह बहुत पवित्र है। यह एक अद्भुत विष्णुभक्त ब्राह्मण है।'

आचार्य यादव प्रकाश के आश्चर्य की सीमा न रही। लेकिन उन्हें प्रेत के अनुरोध की रक्षा करनी ही थी अतएव उन्होंने रामानुज को ऐसा करने का आदेश दिया। तदनुसार रामानुज ने सभी लोगों के सम्मुख राजकुमारी के प्रेतग्रस्त मस्तक पर चरण-स्थापन किया। राजकुमारी पूरी तरह स्वस्थ हो गईं।

इस साधारण घटना ने रामानुज को असाधारण ख्याति दिलाई। एक तरुण पुण्यात्मा साधक के रूप में समाज धीरे-धीरे उन्हें जानने लगा।

मत वैभिन्यता के कारण—रामानुज और आचार्य में दूरी बढ़ती गई। आचार्य की क्रोधाग्नि भीतर ही भीतर प्रज्वलित होती गई। इसमें योगदान था रामानुज के तर्क और युक्तपूर्ण तरीके से आचार्य की स्थापनाओं के खण्डन का। एक दिन आचार्य का क्रोध चरम पर पहुँच गया। फलस्वरूप उन्होंने न केवल रामानुज को अपनी भरी चटसार में अपमानित ही नहीं किया, वरन् आश्रम से निष्कासित कर दिया। गुरु की चरण-वंदना करके रामानुज आश्रम से चले गए। घर वापस होने के बाद एकांत विद्याध्ययन की साधना में लग गए।

रामानुज तो चले गए किन्तु आचार्य के मन की ईर्ष्या वेगवती होती गई। उन्हें रामानुज के भीतर अद्भुत आध्यत्मिक शक्ति का दर्शन हो चुका था। जिसके कारण उनका अपना वर्चस्व खतरे में पड़ सकता था। यादव प्रकाश ने रामानुज को रास्ते से हटाने के लिए एक भयंकर षड्यंत्र रच डाला।

यादव प्रकाश ने एक दिन रामानुज को बुलाया। उनके आने पर स्नेह का अभिनय करते हुए बोले, 'गुरु और शिष्य का सम्बंध क्या कभी टूट सकता है?' रामानुज गुरु के प्रिय थे ही, अतएव उन्हें इसमें कोई संदेह नहीं दिखाई पड़ा। उन्हें आश्रम में सादर स्थान दिया गया। इसके कुछ दिनों बाद आचार्य यादव प्रकाश ने घोषणा की कि वे कुछ शिष्यों के साथ तीर्थयात्रा पर निकलेंगे।

इस तीर्थयात्रा के रहस्य का रामानुज को पता नहीं थी। वे अपने गुरु के साथ उत्साहपूर्वक तीर्थयात्रा पर निकल पड़े। उस मण्डली में रामानुज के साथी

और मौसेरे भाई गोविन्द भी थे। ये लोग विन्ध्य प्रदेश के गोड्डा अरण्य में पहुँचे। इस गहन वन में मनुष्य का वास दूर-दूर तक नहीं था। चारो ओर जंगली जानवर विचरण कर रहे थे। षडयंत्रकारियों को लगा कि रामानुज की हत्या के लिए इससे उपयुक्त स्थान कोई अन्य नहीं हो सकता। काम तमाम करने के बाद यह बात फैला दी जाएगी कि रामानुज किसी हिन्स्र पशु की चपेट में आ गए। षडयंत्रकारी-योजना बना रहे थे कि इसकी भनक रामानुज के मौसेरे भाई गोविन्द को लग गई।

शाम के समय रामानुज पास के एक सरोवर में हाथ-पैर धोने गए। गोविन्द जी के लिए यह मौका अच्छा था। उन्होंने षडयंत्रकारियों की सारी बातें रामानुज को बता दी। उन्होंने कहा कि उन्हें तत्काल यहाँ से प्रस्थान कर जाना चाहिए। रामानुज तुरंत घर वापस हो लिए। काँची दक्षिण दिशाा में थी। वे उसी दिशा में तेजी से चल पड़े।

इधर रात होने पर भी जब रामानुज नहीं आए तो यादव प्रकाश और उनके शिष्यों ने उनकी तलाश शुरू कर दी। जंगल में सघन अंधकार था। किसी के लिए अकेले संभव नहीं था जंगल पार कर पाना। लिहाजा आचार्य और उनके शिष्यों ने मान लिया कि रामानुज किसी हिन्स्र पशु का शिकार हो गए। दूसरे दिन वे लोग निश्िंचत मन से भंभा-वीर के तीर्थ की ओर चल पड़े।

इधर रामानुज घने जंगल में चलते ही जा रहे थे। रात होने पर एक विशाल पेड़ की डाल पर चढ़ गए, वहीं रात बिताई। दूसरे दिन फिर चलना शुरु किया। भूखे-प्यासे चलते हुए अत्यंत शिथिल हो गए थे। शाम को एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। कुछ देर बाद वहीं मूर्छित हो गए। चेतना लौटने पर स्वयं को तरोताजा पाया। थकान मिट गई। उन्होंने देखा कि सिरहाने बैठकर एक व्याघ-दम्पति उनकी परिचर्या कर रहे हैं। रामानुज उठकर बैठ गए। व्याघ-पत्नी ने पूछा, 'बाबा तुम कौन हो? इस घोर जंगल में कैसे आना हुआ?'

रामानुज ने पूरी स्थिति बताने के बाद कांची नगर का मार्ग दिखाने की याचना की। व्याघ बोला, 'हम लोग भी वहीं जा रहे हैं। चलो, साथ ही चलते हैं।'

कुछ कंद-मूल खाकर रामानुज इन लोगों के साथ चल पड़े।

लेकिन थोड़ी देर में ही जंगल में अंधेरे का घटाटोप घिर आया। एक साफ-सुथरी जगह देखकर लोगों ने सोने का निश्चय किया। रामानुज सोने ही जा रहे थे कि उनके कानों में व्याघ-दम्पति की आवाज सुनाई पड़ी। पत्नी पति से कह रही थी कि उसे काफी तेज प्यास लगी है। निकट ही स्थित एक प्रसिद्ध कुएँ से ठंडा पानी ले आते तो वह अपना प्यास बुझा लेती। पति समझा रहा था, 'इस अंधेरी रात में क्यों दौड़ा रही हो, रात बिता लो, सुबह पानी लाएँगे।'

रामानुज ने जब यह बात सुनी तो व्याघ-दम्पति के पास गए और पानी लाने की इच्छा व्यक्त की। इस पर दोनों ही बोल उठे, 'बाबा, तुम्हें इतना घबराने की आवश्यकता नहीं। कल प्रात:काल ही उठकर पानी ले आना।'

दूसरे दिन तड़के ही व्याघ-पत्नी उठ गई। उसने रामानुज से कहा, 'बाबा, कल रात में तूने पानी लाने की इच्छा व्यक्त की थी। यहाँ से थोड़ी दूर ही वह कूप है, चलो, उसी दिशा में चलते हैं।'

वन से बाहर आने पर वह विशाल कुआं दिखाई दिया जिसमें पानी तक सीढ़ियाँ बनी थीं। लोग सीढ़ियां उतर कर पानी ला रहे थे। रामानुज ने पानी लेकर हाथ-मुंह धोया, फिर अंजुरी भर कर पानी व्याघ-पत्नी को पिलाने लगे। तीन बार अंजुरी भर कर पानी लाए लेकिन व्याघ-पत्नी की प्यास नहीं बुझी। वे चौथी बार पानी लेने गए। लेकिन जब पानी लेकर लौटे तो व्याघ-दम्पति का कोई पता नहीं था।

रामानुज के विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने वहाँ उपस्थित जनों से पूछा, 'भाई, इस स्थान का नाम क्या है? कांची यहाँ से कितनी दूर है?' कुछ लोग ठठा कर हँसे। आश्चर्य से पूछा, तुम्हें क्या हो गया है रामानुज, तुम अपनी चिरपरिचित काँची नगरी को भी नहीं पहचान रहे हो? तुम यादव प्रकाश के छात्र हो न? इतने ही दिनों में भूल गए इस स्थान को? देखते नहीं, पास ही स्थित श्रीवरदराज के मंदिर का शिखर! यह महातीर्थ शाल-कूप! यह भी याद नहीं है तुम्हें?'

यह कैसा इंद्रजाल? रामानुज के मन में सवाल उठने लगे। मध्य प्रदेश के वनांचल से महज एक मध्यान्ह चलकर सुदूर दक्षिण काँची कैसे पहुँच गए? उनकी आँखों में उल्लास के आंसू छलक आए। हो सकता है कि व्याघ-दम्पति के रूप में स्वयं वैकुण्ठपति और लक्ष्मी ने ही यह लीला रची हो। भाव के आवेग में रामानुज वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े।

रामानुज की चेतना लौटी। उनके आसपास भीड़ एकत्र थी। वह किसी के प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ थे। बस रोए जा रहे थे। उन्हें जीवन-पथ का आभास हो चुका था। वह घर जाकर शास्त्रों के अध्ययन में लीन हो गए। एक दिन सिद्ध भक्त वरदराज के साक्षात् विग्रह कांचिपूर्ण रामानुज के घर आए। रामानुज ने उन्हें पूरी कथा सुना कर दीक्षा देने का आग्रह किया लेकिन कांचिपूर्ण ने इसमें असमर्थता व्यक्त की। परन्तु रामानुज उस महाभक्त के चरणों में सदा के लिए स्वयं को समर्पित कर बैठे। पवित्र दास्यभक्ति का बीज उनके जीवन में कांचिपूर्ण के प्रसाद से ही अंकुरित होने लगा।

कुछ दिनों पश्चात् यादव प्रकाश तीर्थाटन से वापस आए और रामानुज उनके चटसार में आने-जाने लगे। रामानुज यादव प्रकाश के षड्यंत्र से जानबूझ कर अनभिज्ञ बने रहे।

एक बार सुप्रसिद्ध विष्णुभक्त श्री रंगनाथ के एकांत सेवक यामुनाचार्य कांची पहुंचे। जाग्रत-विग्रह श्री वरदराज के दर्शन और आराधना के लिए उनका यह आगमन था। रामानुज उनकी सेवा में थे। उनके बारे में जानने की उत्सुकता व्यक्त करने पर एक भक्त ने कहा—'महात्मन, यह युवक कांची का रत्न है। श्रीवरदराज के परम भक्त तथा महापुरुष श्री कांचिपूर्ण ने इन्हें अनुग्रहीत किया है। यह प्रतिभावान शास्त्रवेत्ता भी हैं। आजकल 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इस मंत्र की एक भक्ति-प्रधान, विस्तृत व्याख्या कर इस तरुण ने यहाँ के सुधी समाज में तहलका मचा दिया है।' यामुनाचार्य दाक्षिणात्य भक्ति-धर्म के श्रेष्ठ साधक थे। वे इस समाचार से पुलकित हो उठे। रामानुज की स्मृति उनके मानस पटल पर अंकित हो गई थी। अतएव देह-त्याग के पूर्व, बैष्णव जनता के भावी दिक्पाल के रूप में रामानुज को वह भक्तजनों के समक्ष चिन्हित कर गए। उस समय यामुनाचार्य के मुख से जो श्लोक स्फुरित हुए थे उसकी अंतिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

लक्ष्मीश, पुण्डरीकाक्ष, कृपां रामानुजे तव,
विधाय, स्वमतेनाथ, प्रविष्टः कर्त्तुमहसि।

अर्थात्, 'हे कमल नयन श्रीपते, श्री रामानुज के ऊपर अपनी कृपा करो। नाथ, उसे अपने मत में ले आओ।'

उपनिषद् की व्याख्या को लेकर एक दिन आचार्य यादव प्रकाश से विवाद हो गया। विवाद इतना बढ़ गया कि आचार्य ने रामानुज को अपने आश्रम से निष्कासित कर दिया। रामानुज घर आकर एकांतभाव से भक्तिवादी शास्त्रचर्चा में डूबे रहने लगे। प्रतिदिन पवित्र शालकूप से घड़ा भर कर जल लाते और श्रीवरदराज को स्नान कराते। परम भागवत श्री कांचिपूर्ण के निकट सम्पर्क के लाभ द्वारा उनका आध्यात्मिक जीवन भी प्रस्फुटित होने लगा।

यामुनाचार्य को जब ज्ञात हुआ कि रामानुज ने आचार्य यादव प्रकाश का चटसार छोड़ दिया है तब उन्हें बुलाने के लिए अपने एक शिष्य महापूर्ण को भेजा। रामानुज वरदराज को स्नान कराने के लिए शालकूप का जल लेकर आ रहे थे तभी महापूर्ण उनके समक्ष खड़े होकर मधुरकण्ठ से एक श्लोक की कुछ पंक्तियां गाने लगे—

धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं
परम पुरुष, योऽहँ योगिवऽर्य्याग्रागण्यः
विधि शिव सनकाद्यै ध्यातुमत्यंतदूरम्
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः।

अर्थात् 'हे प्रभो, मुझ अपवित्र, अविनीत, निर्दय और निर्लज्ज को धिक्कार है।

पुरुषोत्तम, योगियों में अग्रगण्य, विधि-शिव-सनक आदि भी जिसे ध्यान में पाने के समर्थ नहीं है, उस तुम्हारे दास्य भाव का मैं कामप्रकृत प्रार्थी हूँ।

रामानुज खड़े हो गए। कैसी अपूर्व स्तोत्रावली! उन्होंने आगे बढ़कर उस गेरुआ वस्त्रधारी वैष्णव साधक से पूछा—'प्रभो, दयाकर मुझे बताएँ, इस मधुर रसमयी स्तुति की रचना करने वाले कौन महापुरुष हैं?' महापूर्ण ने बताया कि इसके रचयिता मेरे प्रभु महामुनि यामुनाचार्य हैं। यहाँ आने का प्रयोजन पूछने पर महापूर्ण ने बताया, 'मेरे प्रभु यामुनाचार्य के शरीर त्याग का समय निकट आ गया है। वह तुमसे मिलने के लिए व्यग्र हैं। तुम्हें ले जाने के लिए ही मैं काँची आया हूँ। रामानुज ने जल को शीघ्र ही मंदिर पहुँचाया और घर सूचना दिए बिना ही महापूर्ण के साथ चल दिए।'

लेकिन रामानुज के पहुँचने से पूर्व ही यामुनाचार्य गोलोकवासी हो चुके थे। अंतिम दर्शन के लिए अपार जनसमूह उमड़ रहा था।

रामानुज ने देखा कि यामुनाचार्य के दाहिने हाथ की तीन उंगलियाँ बद्धमुष्ठि हैं। विचारमग्न रामानुज धीरे-धीरे भावाविष्ट हो गए। पवित्र शव को लक्ष्य कर वह उच्च कण्ठ से सद्यःरचित श्लोक में अपना संकल्प घोषित करने लगे जिसका आशय इस प्रकार है—

'वैष्णव मत में दृढ़ रह कर मैं अज्ञान-मुग्ध जनता को पंच-संस्कार युक्त द्रविड़ वे में शिक्षित और नारायण शरणागत कर, उसकी सर्वदा रक्षा करूँगा।'

रामानुज के इस श्लोक से पवित्र शव के दाहिने हाथ की बंधी मुट्ठी की एक उंगली सीधी हो गई। लोग यह चमत्कार देखकर दंग रह गए। रामानुज ने फिर एक श्लोक की रचना की जिसका आशय यह था—

'लोक रक्षा के उद्देश्य से मैं सर्वार्थ—संग्रह, कल्याणकर और तत्व ज्ञानमय श्रीभाष्य की रक्षा करुंगा।'

यामुनाचार्य के दाहिने हाथ की दूसरी उंगली भी सीधी हो गई।

रामानुज ने अपना तीसरा संकल्प श्लोक पढ़ा—

'जो कृपामय पराशर मुनि जीवों के उद्धार के लिए ईश्वर-तत्व और साधन-पद्धति की सरलता से समझाने वाले पुराण-रत्न विष्णु पुराण की रचना कर गए हैं, मैं किसी महापंडित वैष्णव को उन्हीं के नाम से अभिहित करूँगा।'

मृत यामुनाचार्य की तीसरी उंगली भी सीधी हो गई।

रामानुज की इस अलौकिक लीला को देखकर वहाँ उपस्थित जन समूह चमत्कृत था। वे शीघ्र ही सारे अंचल में प्रसिद्ध हो गए। लेकिन रामानुज शीघ्र ही कांचीपुरम लौट आए। उनके अंदर दीक्षाग्रहण की तीव्र आकांक्षा हिलोरें लेने लगी। रामानुज जब भी कांचिपूर्ण से दीक्षा-देने की याचना करते उनका उत्तर

होता—'वत्स, मेरे समान शूद्राधम को पाप में लिप्त नहीं करो। तुम्हारे समान पुण्यशील ब्राह्मण-संतान का गुरु होना तो दूर की बात है—किसी के भी गुरु होने की योग्यता मुझ में नहीं है।'

रामानुज ने इसके लिए एक युक्ति सोची। उन्होंने कांचिपूर्ण को अपने घर मध्याह्न भोजन को आमंत्रित किया। अतिथि-सत्कार के किए विस्तृत आयोजन किया। अनेक तरह के स्वादिष्ट भोजन तैयार किए गए। इसी बीच कांचिपूर्ण ने एक लीला की। वे दूसरे मार्ग से रामानुज के घर पहुँच गये और उनकी पत्नी जामाम्वा से भोजन देने के लिए कहा। जामाम्वा ने व्यग्र होकर उत्तर दिया—'प्रभो, वह तो आप को ही बुलाने के लिए गए हैं। आपको आश्रम में न पाकर वे तुरन्त वापस लौट आएंगे। थोड़ी देर में ही भोजन परोस कर मैं ला रही हूँ।'

काँचिपूर्ण ने बहाना बनाया कि इसी समय उन्हें प्रभु वरदराज की सेवा में उपस्थित होना होगा। अतएव भोजन तुरंत आवश्यक है।

रामानुज की पत्नी ने शीघ्र ही भोजन परोस दिया। कांचिपूर्ण ने भोजन ग्रहण किया उच्छिष्ट आदि को दूर फेंक दिया। बर्तन धो-माज कर रख दिया। भोजन स्थल लीपा। यह कार्य सम्पन्न कर जैसे ही खड़े हुए रामानुज श्रांत-क्लांत अवस्था में उपस्थित हो गए। कांचिपूर्ण को देखकर वे भौंचक रह गए। उन्हें समझते देर नहीं लगी कि सर्वज्ञ महापुरुष ने उन्हें अपने प्रसाद से वंचित रखने के लिए ही यह लीला रची है। रामानुज को अपना जूठा प्रसाद देने के लिए दास्य-भावयुक्त कांचिपूर्ण तैयार नहीं हैं।

कांचिपूर्ण के प्रति रामानुज की अनुरक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। लेकिन कांचिपूर्ण यह कह कर टाल देते, 'वत्स तुम हो ब्राह्मण, मैं हूँ शूद्र। तुम तो जानते ही हो कि ब्राह्मण को मंत्रदान का अधिकार शूद्र को नहीं है। श्रीविष्णु ही तुम्हारे निकट तुम्हारे निर्धारित गुरु को नियत समय पर प्रेरित करेंगे।'

प्रभु वरदराज कांचिपूर्ण के श्रीमुख से ही अपनी इच्छा व्यक्त करते थे। रामानुज कांचिपूर्ण से निवेदन करते रहे कि इस सम्बंध में वे श्री वरदराज का आदेश प्राप्त करें। कांचिपूर्ण ने ऐसा ही किया और एक दिन उन्हें अभिलषित वाणी मिल गई। रात्रि में कांचिपूर्ण ध्यानमग्न थे। इस समय श्री वरदराज उनके सम्मुख आविर्भूत हुए। उनकी वाणी का आशय निम्नलिखित था—

'तुम शीघ्र रामानुज को मेरे विशेष तत्वों का उपदेश दो। मैं ही जगत् का कारण हूँ। प्रकृति-कारण और परब्रह्म हूँ। जीव और ईश्वर का भेद स्वतः सिद्ध है। मोक्षार्थियों की मुक्ति का एकमात्र उपाय है मेरे पाद-पद्मों पर आत्मसमर्पण; अंतिम समय में मेरा स्मरण करने में असमर्थ होने पर भी उनका मोक्ष अवश्यंभावी है; देह-त्याग होते ही मेरे भक्तगण परमपद को प्राप्त होते हैं। हे रामानुज, तुम सर्वमाण्यान्वित महात्मा महापूर्ण का आश्रय ग्रहण करो।'

इन प्रत्यादेशों को सुनकर रामानुज आत्म-विभोर हो गए। दीक्षा ग्रहण के लिए उनकी व्याकुलता और भी बढ़ गई। परम आश्रयदाता दीक्षागुरु का नाम भी वह परमप्रभु की कृपा से जानने में समर्थ हुए। आनंद-अधीर रामानुज उस दिन कांचिपूर्ण के चरणों पर दण्डवत् प्रणाम कर बैठे। उसके बाद यामुनाचार्य के शिष्य महात्मा महापूर्ण की खोज में वह श्रीरंगम् की ओर उन्मत्त हो दौड़ पड़े।

विधि की विडम्बना था कि इधर रामानुज महात्मा महापूर्ण की खोज में श्रीरंगम् जा रहे थे उधर मठ के नए मठाधीश श्री तिरुवरांग के आदेशानुसार रामानुज को लेने के लिए महात्मा महापूर्ण सपत्नीक काँची जा रहे थे। राह में था मादुरांतक का श्री विष्णु मंदिर। इसके सामने स्थित सरोवर में स्नान करने के लिए रामानुज उसके तट पर पहुंचे तो वहाँ महापूर्ण को सपत्नीक देखकर हर्षातिरेक में झूम उठे।

सरोवर में स्नान करने के बाद रामानुज ने महापूर्ण से वैष्णव मंत्र की दीक्षा ग्रहण की। यज्ञ, अंकन ऊर्ध्वपुण्ड्र और दास्य नाम के द्वारा ये संस्कृत किए गए। रामानुज के अनुरोध पर महापूर्ण ने उनकी पत्नी जामाम्बा को भी दीक्षा प्रदान की। रामानुज ने अपने घर के एक हिस्से में महापूर्ण के रहने की व्यवस्था की और उनकी सेवा करने लगे। महापूर्ण के निकट नियमित रूप से भक्ति-शास्त्र का अध्ययन करने के कारण वैष्णवशास्त्र पर रामानुज का पूर्ण अधिकार हो गया।

भक्तिशास्त्र, द्रविड़ आग्नाय या तमिल वेद में चार हजार भक्ति रसात्मक श्लोक हैं जो तिरुवाई मुड़ि के नाम से इस अंचल में प्रसिद्ध हैं। रामानुज ने छः महीने में ही इन पर अधिकार कर लिया। गुरु-दक्षिणा चुकाने की गरज से रामानुज एक दिन प्रातःकाल फल, फूल, पूजा की सामग्री और नवीन वस्त्रों को जुटाने के लिए बाजार चले गए कि इसी बीच उनके घर में एक विचित्र घटना घट गई।

शास्त्र अध्ययन और गुरुसेवा में रामानुज इतने तल्लीन हो गए थे कि पत्नी से उनकी दूरी काफी बढ़ गई थी। इस कारण वह अप्रसन्न रहने लगी थीं। मन की भड़ाँस निकालने का एक मौका उनके हाथ लग गया।

हुआ यह कि वह घड़ा लेकर कुएँ पर पानी भरने गईं। इसी समय गुरु की पत्नी भी कुएँ पर पहुँच गईं। दोनों ने एक समय कुएँ में घड़े डाल दिए। जब वे घड़े खींच रही थीं तभी महापूर्ण की पत्नी के घड़े का जल छलककर जामाम्बा के घड़े पर पड़ गया। वह क्रोध से उबल पड़ीं। चीखीं, 'आँखें फूट गई हैं क्या? मेरी कलश का सारा जल खराब कर दिया। गुरुपत्नी हो तो क्या माथे पर चढ़कर बैठोगी? तुम्हारा कुल हमारे कुल से कितना हीन है। छोटे कुल वालों की छूत से अपवित्र जल का भला मैं क्या उपयोग करूँगी?' कह कर वहीं कुएं पर बैठकर

रोने लगीं। बीच-बीच में कहती जातीं—'यह सब मेरे भाग्य का दोष है, नहीं तो ऐसे मूर्ख पुरुष के हाथ में पड़कर मैं इतनी दुर्दशा क्यों सहती?'

महापूर्ण की धर्मपत्नी शांत स्वभाव की धार्मिक महिला थीं। वह कुछ बोले बिना लौट आईं। उन्होंने सारी बातें पति से बताईं। महापूर्ण ने इसे प्रभु की इच्छा माना। पत्नी से बोले, 'हम लोगों ने बहुत दिनों से श्रीरंगनाथ के चरण कमलों की पूजा नहीं की है। इसी बहाने उनका बुलावा आया है। हम लोगों को अविलम्ब लौट चलना चाहिए।'

दोनों लोगों ने सामान बांधा और कांची से चल पड़े। महापूर्ण सोच रहे थे कि रामानुज आ जाएंगे तो शायद रुकना पड़े अतएव उनके आने से पहले ही वापस हो लेना चाहिए।

रामानुज घर लौटे तो पत्नी ने उन्हें घटना को तोड़मरोड़ कर बताया किंतु रामानुज जानते थे कि, गुरु और गुरुपत्नी का घर में जामाम्बा को नहीं सुहाता था। इसलिए उसने जानबूझ कर ऐसी परिस्थिति पैदा की जिससे वे लोग उनकी अनुपस्थिति में चले गए। रामानुज ने पत्नी की कड़ी भर्त्सना की और जाकर आत्मशांति के लिए वरदराज के मंदिर में बैठ गए।

पत्नी की बेरुखी के कारण रामानुज को इस प्रकार की ग्लानि प्राय: भुगतनी पड़ती थी। एक बार रामानुज के घर एक गरीब ब्राह्मण उपस्थित हुए। उन्होंने जामाम्बा से भोजन की याचना की किन्तु बदले में मिली भर्त्सना। भूखे ब्राह्मण निराश होकर लौट गए। मार्ग में वे रामानुज से मिले। ब्राह्मण की दशा देख कर रामानुज को दया आई। उन्होंने ब्राह्मण को घर भोजन के लिए आमंत्रित किया। ब्राह्मण ने जो कुछ कहा उससे पता चला कि वे घर से फटकार खाकर आ रहे हैं। बार-बार अनुरोध करने पर भी ब्राह्मण रामानुज के घर आने के लिए तैयार नहीं हुए। रामानुज बहुत दुखी हुए। भूखे ब्राह्मण को घर से भगा देने से बढ़ कर पाप क्या हो सकता था। रामानुज इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि धर्मविमुख पत्नी के साथ रहना उनके लिए संभव नहीं है। उन्होंने संसार त्याग की प्रतिज्ञा कर ली।

रामानुज ने एक बहाने से पत्नी को मायके भेज दिया। स्वयं श्री वरदराज के मंदिर में उपस्थित हुए और सद्गुरु श्रीवरदराज-विग्रह से संन्यास-दीक्षा पूरी की। परम भागवत कांचिपूर्ण भी दीक्षा के समय वहां भावानिष्ट बैठे थे। अनुष्ठान के अंत में रामानुज को उन्होंने 'यतिराज' कह कर सम्बोधित किया। दिव्य कांति, तेजोमय शरीर वाले इस नवीन संन्यासी को देखने के लिए उस दिन मंदिर के प्रांगण में भारी भीड़ उमड़ पड़ी थी। इसके पश्चात वे कांची के वरदराज मठ के महंत बना दिए गए।

सर्वप्रथम रामानुज के भांजे श्री दाशरथि (आंजन) ने दीक्षा ग्रहण की। इस नए शिष्य में हरिभक्ति और वेदान्त-ज्ञान का अद्भुत मिश्रण था। प्रतिष्ठित जमींदार, दानवीर और प्रकांड विद्वान के रूप में पहले से ही प्रतिष्ठित रामानुज का आचार्य के रूप में अभ्युदय हुआ।

एक दिन यादव प्रकाश की माताजी कांची मठ गईं। वह रामानुज के देदीप्यमान मुखमण्डल से बेहद प्रभावित हुईं। घर आने पर उन्होंने पुत्र यादव प्रकाश से कहा कि वह देवतुल्य रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण करें। इस विचित्र प्रस्ताव से यादव प्रकाश उद्विग्न हो गए। जो व्यक्ति मेरा शिष्य रहा हो उसका शिष्यत्व मैं गहण करूँ? उनके मन में रामानुज के प्रति अतीत में किए गए कार्यों की ज्वाला धधक उठी। उन्होंने इस अशांति के शमन के लिए महापुरुष कांचिपूर्ण से राय ली। कांचिपूर्ण ने प्रभु वरदराज से इस सम्बन्ध में पूछ कर यादव प्रकाश को दूसरे दिन बताया—'प्रभु वरदराज ने कहा है कि यादव प्रकाश रामानुज का ही शिष्यत्व ग्रहण करे, इसी में उसका कल्याण निहित है।'

इसके बाद यादव प्रकाश एक दिन मठ में गए। रामानुज ने ससम्मान अभ्यर्थना प्रकट करते हुए उन्हें आसन प्रदान किया। यादव प्रकाश ने रामानुज के रूपांतर की परीक्षा लेने के उद्देश्य से पूछा, 'वत्स! देखता हूँ कि संन्यास ग्रहण करने के बाद भी तुमने माथे पर ऊर्ध्वपुण्ड और दोनों बाहुओं में पद्म तथा चक्र धारण कर रखा है। ज्ञात होता है कि सगुण ब्रह्म की आराधना के प्रति अभी भी तुम एकांत भाव से अनुरक्त हो, किन्तु इसका सैद्धांतिक आधार क्या है? अपने मत का सार मुझे बताओ तो पता चले।'

रामानुज ने उत्तर दिया, 'प्रभु! ब्रह्म को मैं सगुण या सविशेष कहकर अभिहित करता हूँ क्योंकि जिसमें कोई विशेष नहीं, जो अद्वितीय तथा एकरस हो, उससे सब की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? नामरूपमय वैचित्र्य की उपस्थिति कैसे होती है? मूलतः जो द्वैतहीन सत्ता है वह द्वैत की जनक कैसे हो सकती है? द्वैतहीन सत्ता से द्वैत का उत्पादन होना स्वीकार कर लेने पर यह मान लेना होगा कि कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति होती है! क्या इससे तर्क-प्रणाली दूषित नहीं हो जाती? इसलिए मानना होगा कि इस जगत-प्रपंच के मूल में एक अदृश्य और अतिसूक्ष्म प्रपंचमय ब्रह्म रूप या कारण तत्व है। सृष्टि के मूल में यह चिद्-अचिद् विशिष्ट ब्रह्म या कारण ब्रह्म अवस्थित है। निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्म को कारण कहना असंगत है। उस दिन श्री वरदराज ने कृपा करके अपने नित्य सेवक कांचिपूर्ण के मुख से मुझे यही तत्व बताया।' फिर रामानुज ने विशिष्टाद्वैत की व्याख्या की, 'मुक्ति से जीव पूर्णतः ब्रह्म के साथ एकाकार नहीं हो जाता है, जीव भगवान का नित्यदास है, उसके पक्ष में भगवान के प्रति नित्यदास ही मुक्ति है।

इस दास्य में मात्र निरवच्छिभ आनंद है। इसी में परममुक्ति है, क्योंकि जीव स्वरूपतः ही भगवान का दास है। केवल इस भगवत् दास्य रूप अपने मूल स्वरूप से विच्युत होना ही दुख है।'

आचार्य ने रामानुज से अपने कथन के समर्थन में शास्त्रीय प्रमाण देने के लिए कहा तो रामानुज ने अपने शिष्य कुरेश को निर्देशित किया। फिर तो कुरेश के कण्ठ से शास्त्रीय प्रमाण की अजस्रधारा बह निकली। उनके सम्मुख ही तेजपुञ्जदेह रामानुज भावानिष्ठ हो बैठे थे। यादव प्रकाश और ज्यादा देर स्थिर नहीं रह सके। उनका मिथ्याभिमान वर्फ की तरह गल गया। वे रोते-रोते भूतल पर गिर पड़े। कहने लगे, 'रामानुज तुम सत्य ही राघव के अनुज हो। मैं अब तक तुम्हारी महिमा नहीं समझ सका था। मेरे सभी अपराधों का मार्जन कर आज तुम मुझे आश्रयदान दो।' आचार्य की यह दशा देख कर रामानुज चकित रह गए। वे प्रेमभाव से बार-बार आचार्य का आलिंगन करने लगे। उसी दिन यादव प्रकाश ने रामानुज के निकट संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। उनका नाम गोविन्ददास रखा गया। वह परम भक्तिनिष्ठ वैष्णव के रूप में प्रसिद्ध हुए।

गोविन्ददास ने रामानुज की सलाह पर 'यति धर्म समुच्चय' नामक ग्रंथ की रचना की। जब यह ग्रंथ रचा गया तब उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी।

रामानुज को श्रीरंगम् मठ लाने के लिए भक्त वररंग को कांची भेजा गया। उनसे कहा गया कि वे प्रभु वरदराज की आज्ञा रामानुज को दिलाएं तभी वे कांची छोड़ेंगे। वररंग कांची स्थित वरदराज के मंदिर में गए। उनकी प्रार्थना श्री वरदराज ने स्वीकार की और रामानुज को श्रीरंगम् मठ जाने का आदेश दिया। रामानुज अपने शिष्यों के साथ श्रीरंगम् मठ आ गए और मठ-प्रधान का पद ग्रहण किया। कहते हैं, इसी समय शेष नागशाई श्रीरंगनाथ ने रामानुज पर प्रसन्न हो उन्हें दो विशेष विभूतियों का अधिकारी बनाया। एक तो मनुष्य के सन्ताप निवारण की क्षमता प्रदान की और दूसरी भक्त-प्रतिपालन के उपयुक्त दैवी शक्ति दी। इसके साथ ही रामानुज ने महापूर्ण की असामान्य भक्ति के आलोक में न्यास-तत्व, गीतार्थ संग्रह, सिद्धिमय, व्यास-सूत्र, पंचरात्रागम जैसे शास्त्रों का अध्ययन किया। उनकी अलौकिक प्रतिभा को देखकर महापूर्ण ने अपने पुत्र से रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण कराया।

आगे की शिक्षा के लिए रामानुज अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान गोष्ठिपूर्ण के पास गए। लेकिन गोष्ठिपूर्ण रामानुज को शिक्षा देने के लिए तैयार नहीं हुए। रामानुज उनके पास अठारह बार गए लेकिन निराशा ही हाथ लगी। अंततः श्रीरंगम् लौट आए और रोने लगे। गोष्ठिपूर्ण के एक शिष्य श्रीरंगम् में थे। उन्होंने रामानुज की यह दशा तिरुकोष्ठिर लौट कर गोष्ठिपूर्ण को बताई। गोष्ठिपूर्ण ने कहा,

'वत्स रामानुज को मैं उनका प्रार्थित मन्त्रार्थ प्रदान करूँगा। किन्तु वह केवल दण्ड और कमण्डल लेकर आये। वह जब भी मेरे यहाँ आता है, साथ में दो चेलों को लेकर आता है।'

यह संवाद मिलते ही रामानुज की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। वह अपने दो शिष्यों दाशरथि और श्रीवत्सोक के साथ तिरुकोष्ठिर गए। गोष्ठिपूर्ण ने गंभीर भाव से कहा, 'मैने तुम्हें केवल दण्ड और कमण्डल के साथ आने को कहा था, फिर तुम दो शिष्यों के साथ क्यों आए?' रामानुज ने सहजता से उत्तर दिया, 'प्रभु ये ही मेरे दण्ड और कमण्डल हैं।' रामानुज के इस शिष्य-प्रेम से गोष्ठिपूर्ण प्रसन्न हुए और उन्हें मंत्र का गूढ़ार्थ प्रदान किया। इस मंत्र की प्राप्ति के साथ ही रामानुज का हृदय उद्भासित हो उठा, मानो उन्हें नया जीवन और नया रूप प्राप्त हुआ हो। अलौकिक आनन्द से रामानुज का शरीर कांप रहा था। महात्मा गोष्ठिपूर्ण के चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित कर रामानुज वहाँ से विदा हुए।

रास्ते में जो मिला उसी से अनुसरण का आवाहन करते। जब वह तिरुकोष्ठिर के श्री विष्णु-मंदिर पहुंचे तो उनके पीछे काफी भीड़ जुट गई थी। भीड़ को संकेत करते हुए उन्होंने कहा, 'तुम सभी श्री विष्णु मंदिर के सम्मुख खड़े हो जाओ। जो अमूल्य रत्न मैंने पाया है, आज उसे तुम सब में वितरित कर दूँगा।' रामानुज ने अपने मुख से निकले मंत्र को तीन बार दुहराने का आग्रह किया और मंत्रोच्चारण करने लगे—'ॐ नमो नारायणाय।' जनता ने दुहराया। यह सिलसिला तीन बार चला। जनता के अंदर का कलुष मिट गया। लोग आत्मानन्द में लीन हो गए।

गोष्ठिपूर्ण के पास जब यह खबर पहुँची तो वे क्रोध से तमतमा उठे। रामानुज जब उनके दर्शन को गए तो वे गुस्से में बोले, 'नराधम, मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहता हूँ। दूर हो जाओ यहां से। मैंने तुम्हें पवित्र और निगूढ़ महामंत्र दिया था और तुमने इस तरह उसका व्यवहार किया? तुम्हारे लिए अनन्त नरक ही उपयुक्त है।' रामानुज अविचलित रहे। उन्होंने शांत भाव से कहा, 'प्रभु, आपके ही श्रीमुख से सुना है कि यह महामंत्र जो लाभ करेगा, उसे परमगति प्राप्त होगी। यदि मेरे समान नगण्य मनुष्य के अनन्त नरक में जाने से सहस्र-सहस्र लोगों को मुक्ति लाभ हो जाय, तो वह अनन्त नरक ही मुझे मिले। बैकुण्ठवास की अपेक्षा यही मेरे लिए अधिक काम्य है।' रामानुज के इस उत्तर से गोष्ठिपूर्ण अभिभूत हो गए। प्रेम से भर कर उन्होंने रामानुज को गले लगा लिया। बोले, 'रामानुज तुम धन्य हो और धन्य है तुम्हारा मानव-प्रेम।' इसके बाद गोष्ठिपूर्ण ने अपने पुत्र को रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण कराया। उन्होंने अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि के लोग अब से सम्पूर्ण विष्णु-उपासना के सिद्धान्त को 'रामानुज सिद्धान्त' के नाम से अभिहित किया करें।

रामानुज शिष्यों के साथ श्रीरंगम् लौट गए। इस समय से जनसाधारण उन्हें देवांश-स्वरूप मानने लगा। बहुत से लोगों की दृष्टि में वे श्री रामचन्द्र के अनुज लक्ष्मण के द्वितीय अवतार के रूप में परिगणित होने लगे।

यामुनाचार्य के तीन अन्तरंग शिष्य कांचीपूर्ण, महापूर्ण और गोष्ठिपूर्ण की कृपा और साधन निर्देश रामानुज अब तक पा चुके थे। केवल मालाधार और बररंग बाकी रह गए थे। इन दोनों महापुरुषों के चरणों में बैठकर रामानुज वैष्णव तत्व की शिक्षा समाप्त की। इसके बाद वे दक्षिणात्य के भक्त और जन समाज में अभिनन्दित होने लगे।

रामानुज के प्रभाव और शक्ति को देखकर श्रीरंगम् मठ के प्रधान पुजारी शंकित हो उठे। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन्होंने रामानुज के प्राणान्त का निश्चय किया। इस उद्देश्य के लिए एक दिन रामानुज को अपने घर भोजन का आमंत्रण दिया। पत्नी को विषमिश्रित भोजन परोसने का निर्देश दे दिया था। लेकिन जब वे भोजन में विषाक्त पदार्थ मिलाने लगीं तब उनके मन में विचित्र भाव का उदय हुआ। रामानुज की ओर देखकर वह रोने लगीं और कहा, 'वत्स, यदि प्राण बचाना चाहते हो तो और कहीं जाकर भोजन करो। यहां के भोजन में विष मिलाया गया है, इसे तुम्हें ग्रहण नहीं करने दूँगी।' यह सुनते ही रामानुज के विस्मय की सीमा न रही। वह भोजन ग्रहण किए बिना ही घर से बाहर चले गए।

इसमें सफलता न मिलने पर प्रधान पुजारी और खींझ गया और रामानुज की हत्या स्वयं करने का संकल्प किया। रामानुज एक दिन शाम को श्रीरंगनाथ के दर्शन के लिए आए। प्रधान पुजारी ने जल्दी-जल्दी श्री विग्रह के स्नानाभिषेक जल को पीने के लिए दिया। इस जल में तेज विष मिला हुआ था। परम श्रद्धा से इसे पान करते ही रामानुज को आनन्द की अनुभूति हुई। वे रंगनाथ से कहने लगे—'कृपामय प्रभु, दास के प्रति तुम्हारी यह कैसी अहेतुक कृपा है। आज तो मैंने तुम्हारे स्नान जल में स्वर्णिम अमृत रस का ही पान किया है। प्रभु तुम धन्य हो, धन्य है तुम्हारी कृपा।'

पुजारी को रामानुज के मृतदेह की प्रतीक्षा थी लेकिन यह क्या! यहाँ तो श्रीरंगम् मठ के सहस्र-सहस्र भक्त रामानुज के साथ भजन-कीर्तन में मगन हैं। रामानुज दिव्यभाव से उनके बीच बैठे हैं। एक महासाधक की तरह भाव-विभोर। पुजारी आत्मग्लानि से भर उठा। वह रामानुज के चरणों पर गिर कर अपने पापकर्म के लिए क्षमा-याचना करने लगा। रामानुज ने पुजारी के सिर पर हाथ रख कर कहा, 'भाई, श्री रंगनाथ स्वामी ने तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा कर दिए। इस समय से मानव-प्रेम में लीन हो तुम जीव-सेवा में लग जाओ।' प्रधान पुजारी इसके बाद एक परम वैष्णव में रूपांतरित हो गए।

दक्षिणात्यवासी पंडित यज्ञमूर्ति समस्त उत्तर भारत में दिग्विजय करते घूम रहे थे। रामानुज के बारे में जानकारी मिलने पर ये श्रीरंगम् पधारे। उनके साथ उनके तमाम शिष्य और अनुचर थे और था शकट पर लदा हुआ शास्त्र-ग्रंथ। रामानुज और यज्ञमूर्ति के बीच शास्त्रार्थ शुरु हुआ जो सत्रह दिनों तक चला। रामानुज स्वयं को पराजित होते देख श्री देवराज विग्रह के सम्मुख निवेदन किया, 'प्रभु अपने भक्ति-धर्म की अनुपम महिमा तुम जगत में कब प्रकाशित करोगे? मायावादी तार्किकों का यह प्रचार और कितने दिन चलता रहेगा?' रात्रि में श्री ठाकुर ने प्रत्यादेश दिया, 'वत्स यतिराज, तुम इतने उद्विग्न न बनो। जान लो, विष्णुभक्ति का प्रकृति महात्म्य शीघ्र तुम्हारे द्वारा ही प्रचारित होगा।' प्रातःकाल उठने पर रामानुज एक असीम आत्मविश्वास से भरे थे। रामानुज के भीतर एक अलौकिक शक्ति को देखकर यज्ञमूर्ति को लगा कि इस व्यक्ति ने परमतत्व प्राप्त कर लिया है। यज्ञमूर्ति रामानुज के चरणों पर झुक गए। वे एक विष्णु पंथी साधक हो गए। श्री देवराज विग्रह की कृपा से उनकी मोह से मुक्ति हुई और वे देवराज मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री रामानुज के निर्देश पर उन्होंने तमिल भाषा में 'ज्ञानसार' और 'प्रमेयसार' नामक दो अमूल्य ग्रंथों की रचना की।

रामानुज ने श्रीभाष्य का प्रणयन का संकल्प किया। इसके लिए बोधायनवृत्ति की सहायता आवश्यक थी। किंतु यह ग्रंथ दुष्प्राप्य था। रामानुज को खबर मिली कि कश्मीर के शारदापीठ में उसकी एक प्रति संरक्षित है। रामानुज प्रधान शिष्य कुरेश को लेकर कश्मीर पहुँचे। लेकिन शारदापीठ के पण्डितों ने बहाना बनाया कि इस ग्रंथ को कीड़े खा गए। सुदूर श्रीरंगम् से चल कर कश्मीर तक आए रामानुज को यह सुनकर बहुत ही मनस्ताप हुआ।

लेकिन इस घटना को लेकर उस रात एक अलौकिक काण्ड हो गया। सहसा उनका कक्ष प्रकाशमय हो गया। स्वयं देवी शारदा प्रकट हुईं। उनके हाथ में आचार्य बोधायन के ग्रंथ की एक प्रति थी। ग्रंथ रामानुज को सौंपते हुए माँ शारदा ने कहा, 'वत्स, यह ग्रंथ तुम्हें यहाँ के लोग देना नहीं चाहते। अविलम्ब स्थान त्याग कर दो अन्यथा यह तुम्हारे अधिकार में नहीं रह पाएगा।' रामानुज भोर में ही श्रीरंगम् के लिए रवाना हो गए।

कई दिन बीत चुके। हठात् शारदापीठ के पण्डितों को ज्ञात हुआ कि ग्रंथागार से वह ग्रंथ गायब हो गया है। उन लोगों ने रामानुज पर संदेह किया और घुड़सवार दौड़ा दिए। घुड़सवारों ने रामानुज को रास्ते में पकड़ा और ग्रंथ छीन ले गए। रामानुज बहुत चिन्तित हुए। लेकिन उनके शिष्य कुरेश ने पूरा ग्रंथ कंठस्थ कर रखा था। उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरणशक्ति से यह ग्रंथ दुबारा लिख डाला। श्रीरंगम लौटकर रामानुज ने अपने महाभाष्य की रचना पूर्ण की। इसके

बाद आचार्य ने जिन महत्वपूर्ण ग्रंन्थों की रचना की वे हैं—वेदान्त-दीपन, वेदान्तसार, वेदांत संग्रह और गीताभाष्यम्। आचार्य रामानुज के विचार इस समय से विशिष्ट-द्वैतवाद के रूप में भारत में प्रचलित हो गया।

चोल राज्य के अधीश्वर कृमि कंठ वैष्णवों के घोर विरोधी थे। उन्होंने अपने राज्य में बलपूर्वक शैब मत का प्रचार करना चाहा। वे सोचने लगे कि जब तक वैष्णवाचार्यों को पराभूत नहीं किया जाएगा तब तक शैवमत की प्रधानता स्थापित नहीं होगी। एक बार चोल राज ने रामानुज को बुलवाया। श्री रंगम् मठ के भक्तगणों को समझते देर नहीं लगी कि आचार्य की हत्या कराना ही चोलराज का उद्देश्य है। भक्त-प्रधान कुरेश ने रामानुज से याचना की, 'गुरुदेव चोल राजा के यहाँ आपके रूप में मैं उपस्थित हो जाऊँगा। आप शिष्यों के साथ वन में चले जाँय।' रामानुज ने कुरेश की बात मान ली। कुरेश चोलराज के दरबार में रामानुज के रूप में उपस्थित हुए। चोलराज ने कहा, 'यह दुर्वृत्त मृत्युदण्ड का भागी है लेकिन एक बार इसने मेरी बहन को दुरारोग व्याधि से बचाया था इसलिए इसे चिर-अंधत्व का दण्ड देता हूँ। इसकी दोनों आंखें शलाका से नष्ट कर दी जाँय।' कुरेश इस आदेश से प्रसन्न थे क्योंकि अंधे होकर वे माया-मोह से सदा के लिए दूर हो रहे थे। उनकी आंखें फोड़ दी गईं। वे नेत्रहीन अवस्था में श्रीरंगम् मठ लौट आए। इसके कुछ दिनों बाद ही चोलराज गंभीर रोग-यंत्रणा से मर गए।

किन्तु उत्तर जीवन में कुरेश की आंखें अलौकिक ढंग से ठीक हो गईं। आचार्य रामानुज यादवाद्रि नामक स्थान में अवस्थान कर रहे थे। कुरेश गुरुदेव की चरण वंदना करने वहाँ गए। रामानुज ने उन्हें गले से लगाया। इसके बाद बोले 'वत्स, तुम श्रीवरदराज के निकट अपने दोनों नेत्रों की भिक्षा मांगो, शीघ्र ही तुम्हारी दृष्टि लौट आएगी। कुरेश ने कांची लौट कर श्री वरदराज से नेत्रज्योति की प्रार्थना की और वह लौट आई।

रामानुज यादवाद्रि (वर्तमान में मेलकोट) में भ्रमण कर रहे थे। उन्हें वल्मीकस्तूप में से यादवाद्रिपति का पुरातन शिलामय विग्रह मिल गया। शास्त्रीय विधि से इसका संस्कार और अभिषेक आदि सम्पन्न हुआ फिर पूजा होने लगी। इस श्रीविग्रह ने एक दिन स्वप्न में कहा, 'वत्स, रामानुज, तुमने मुझे प्रतिष्ठित कर अच्छा किया किन्तु मेरा एक प्रतीक विग्रह है जिसका नाम है सम्पत्कुमार। वह स्थानाच्युत हो दूर चला गया है। इस प्रतीक के द्वारा ही मैं मन्दिर के बाहर शुभ-यात्रा किया करता हूँ। यह विग्रह दिल्ली के मुसलमान सम्राट के अंतःपुर में है, इसे तुम ले आओ।'

रामानुज कई अंतरंग शिष्यों के साथ दिल्ली आए। रामानुज के दर्शन से सम्राट अति प्रसन्न हुए और उन्हें ज्ञात हुआ कि आचार्य उनके पास लुठित

शिलाविग्रह माँगने आए हैं। उन्होंने उसी समय उसे प्रत्यार्पण करने का आदेश दिया। किन्तु श्री सम्पत कुमार का विग्रह राजकुमारी लछिमा का अत्यन्त प्रिय था। लेकिन उस समय वह दिल्ली से बाहर थीं। अतएव उनकी अनुपस्थिति में ही सम्राट ने यह विग्रह रामानुज को अर्पित कर दिया।

लौटने पर लछिमा को जब पता चला कि उक्त विग्रह रामानुज ले गए तो वह अश्रुपूरित नेत्रों से उसे वापस लाने का आग्रह पिता से करने लगीं। पिता ने उसे लाने के लिए एक सैनिक टुकड़ी रवाना कर दी। इसके साथ शाहजादी लछिमा और उनके प्रेमी कुबेर भी थे। इसकी भनक जब रामानुज को लग गई तब उन्होंने जल्दी से इस विग्रह को लाकर प्रतिष्ठित कर दिया। इसके बाद लछिमा भी आ गईं। विष्णु-विग्रह के प्रति उनकी भक्ति को देखकर रामानुज मुग्ध हो गए। उन्हें मंदिर में प्रवेश की इजाजत दे दी गई। कहते हैं भक्तिमती लछिमा की देह श्री सम्पत्कुमार के विग्रह में लीन हो गई। उसके प्रेम में कुबेर स्वप्नादेश पाकर नीलांचल चले गए और वैष्णव बन गए।

एक बार एक मुमुक्ष ब्राह्मण ने रामानुज से कहा, 'प्रभु, मैं आपका दास होकर एकांत भाव से चरण सेवा करना चाहता हूँ। मात्र इसी के फल से मेरा जीवन शुद्ध और पवित्र हो जाएगा, मुझ पर दया करें।'

रामानुज ने मुस्कराते हुए कहा, 'विप्रवर दास्य और सेवा द्वारा ही मनुष्य शुद्ध-बुद्ध होने में सक्षम होता है। किन्तु मेरे निकट इस दास्य साधना में आप को जो करना पड़ेगा, उनके लिए क्या आप तैयार होंगे? ब्राह्मण ने व्यग्र भाव से कहा, 'प्रभु, आप आदेश प्रदान करें, अविलंब मैं उसका पालन करने को प्रस्तुत हूँ।'

आचार्य ने कहा, 'विप्रवर, मैने आज से संकल्प किया है कि प्रतिदिन विष्णु आराधना से पहले भुवन-पावन ब्राह्मण का पादोदक पान करूँगा। आपको इसी मठ में अवस्थान कर मुझे रोज पादोदक दान करना होगा।' ब्राह्मण इस कार्य के व्रती हो गए। वह प्रतिदिन अपना चरणोदक रामानुज को दान करने लगे। एक दिन रामानुज एक विशेष भुव्ययोग से कावेरी तट गए। स्नान-तर्पण और पूजा-अर्चना में पूरा दिन निकल गया। देर रात्रि में मठ लौट कर रामानुज ने देखा कि उनका चरणोदक-दाता ब्राह्मण नित्य दिन निर्दिष्ट स्थान पर अविचल भाव से दण्डायमान हैं। ब्राह्मण भोर से ही अपने स्थान पर स्थिर थे। उस ब्राह्मण की सेवा पराकाष्ठा देख रामानुज के मुख से धन्य-धन्य निकल पड़ा। उन्होंने ब्राह्मण के पादोदक को स्वयं तो ग्रहण किया ही, शिष्यों को भी ग्रहण कराया। आचार्य अपने शिष्यों को भी साधन सत्ता में दास्य और सेवा का महात्म्य इस तरह हमेशा के लिए अंकित कर देते।

इसी तरह की लीलाएं करते हुए आचार्य रामानुज १३० वर्ष के हो गए। परम भागवत यामुनाचार्य की अभिलाषित कर्मसूची को उन्होंने इस बीच में पूरा कर दिया। इस असामान्य महापुरुष को केन्द्र बनाकर समस्त दक्षिणात्य उस काल में एक विराट विष्णुसेवा साधक गोष्ठी के रूप में परिणत हो गया। त्याग, तितिक्षा, शास्त्र-ज्ञान और वैष्णवीय दैन्य में उसकी तुलना विरल थी। देश के कोने-कोने में रामानुज-पंथियों का आदर्श और प्रभाव उनके जीवनकाल में ही फैलने लगा।

प्रिय शिष्य कुरेश इसी बीच शरीर त्याग कर परमपद में प्रतिष्ठित हो गए। रामानुज काफी वृद्ध हो गए थे। उनके अंतरंग शिष्यों ने प्रार्थना की—'प्रभु आप अपने जीते जी अपनी दिव्यमूर्ति की व्यवस्था कर दें।' आचार्य ने सहमति व्यक्त कर दी। एक निपुण भास्कर को बुलाया गया। आचार्य की एक प्रस्तरमूर्ति निर्मित की गई। आचार्य ने उसमें स्वयं शक्तिसंचार किया। गुरुदेव का प्रतिरूप उनके जीवनकाल में ही पाकर उनके अनुयायियों के आनन्द की सीमा नहीं रही। इस मूर्ति-प्रतिष्ठा के कुछ दिनों पश्चात् ही १०५९ शकाब्द (११३७ ई०) की शुक्ल दशमी मध्यान्ह काल में अध्यात्म-गमन का यह महाज्योतिर्मय नक्षत्र विलीन हो गया।

●

३

आचार्य रामानन्द

पंचगंगा घाट पर फूलों से आच्छादित वृक्षों से घिरा एक आश्रम। चारों ओर चारदीवारी से घिरा हुआ। बालक रामदत्त प्रतिदिन भोर में चारदीवारी लाँघ कर फूल चुनता है अपने गुरुदेव के लिए।

एक दिन रामदत्त फूल चुनते पकड़ा गया। उससे पूछा गया—'आश्रम से प्रतिदिन तुम फूल क्यों चुरा लेते हो?'

'अपने लिए नहीं देवता के लिए फूल चुनता हूँ। इसलिए यह चोरी तो नहीं हुई।'

रामदत्त को टोकने वाले सौम्य आकृति के महापुरुष ने उसे पास बुलाया। इस बीच सबेरा हो चुका था। रामदत्त निकट पहुँचे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अरे, यह तो प्रसिद्ध संत स्वामी राघवानन्द महाराज हैं। रामानन्द-संप्रदाय के अग्रणी आचार्य। जटाजूट-समन्वित विशालकाय आचार्य को सम्मुख पाकर रामदत्त सुध-बुध खो बैठा। आत्मविस्मृत होकर आचार्य के चरणों पर गिर पड़ा।

आचार्य ने रामदत्त को प्यार से उठाया। पूछा, 'डरो मत वत्स। बताओ कि तुम कहाँ रहते हो? किसी आचार्य ने तुम्हें अब तक आश्रय नहीं दिया है?'

रामदत्त ने अपने शिक्षा-गुरु का नाम बताया और स्मृति का कंठस्थ अंश पूरा सुना दिया।

आचार्य ने कहा, 'इससे तुम्हारा कल्याण नहीं होगा वत्स। अब तुम रात-दिन केवल हरिनाम का ही जप करना और उसी में मगन रहना।'

'हमारे आचार्य शास्त्र ज्ञान के बाद शायद जप और साधना की बात बताएँ।' रामदत्त ने कहा।

'अरे मूर्ख प्रदीप के जलने की सीमा तो तेल की मात्रा पर निर्भर करती है। कब तेल चुक जाय, इसका पता भी तो रहना चाहिए।' कहते-कहते राघवानन्द अचानक रुक गए। उन्हें महसूस हुआ कि वे गलत कह गए। यह तो मृत्यु की भविष्यवाणी है.......। फिर उन्होंने स्नेहार्द्र होकर कहा, 'वत्स, अब जाओ। पुष्प के अभाव में तुम्हारे आचार्य को देवपूजा में विलम्ब हो जाएगा।'

रामदत्त के दिमाग में आचार्य की वाणी-लगातार गूँज रही थी, 'प्रदीप का तेल तो चुकने जा रहा है?' हिम्मत बटोर कर उसने कहा, प्रभो, आप तो सर्वज्ञ

हैं। आपके श्रीमुख से जो बात निकल गई, वह कभी विफल नहीं हो सकती। मेरी आयु के सम्बंध में अपनी दिव्य दृष्टि से आपने जो देख लिया है, वह कृपा करके मुझे साफ-साफ बता दें।'

रामदत्त की आर्त्तता से आचार्य द्रवित हो उठे। वे बोले, 'वत्स, अभी तो तुम निर्भय होकर आश्रम लौट जाओ। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम्हारे लिए भय का कोई कारण नहीं है। अपने आचार्य से मेरा संदेश कह देना कि वह किसी समय मुझसे आकर मिल लें।'

थोड़ी ही देर बाद रामदत्त के शिक्षागुरु आचार्य राघवानन्द के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने कहा, 'रामदत्त की बात सुनकर मैं आपके समक्ष आया हूँ। ज्योतिष विद्या की जानकारी की वजह से मैं भी इस सम्बंध में जान गया था लेकिन इसकी काट के लिए मेरे पास कोई उपाय नहीं है। आप ही कुछ कर सकते हैं। सभी जानते हैं कि आपकी योग-विभूति असाधारण है। इच्छामात्र से आप नियति के लेख को पलट सकते हैं।'

आचार्य बोले, 'इसे एक महान् कर्म के प्रति संलग्न कर देने की ईश्वरीय आज्ञा भी मुझे मिल चुकी है। जन-कल्याण के लिए आवश्यक है कि इसे धरती से अभी विदा नहीं होने दिया जाय।'

आचार्य की बात से रामदत्त के शिक्षागुरु अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने रामदत्त को आचार्य को सौंप दिया। आचार्य ने उसे संन्यास की दीक्षा दे दी और उसका नया नाम रखा गया—रामानन्द।

ऐसी जनश्रुति है कि दीक्षा के कुछ ही दिनों बाद रामानन्द का निर्धारित मृत्यु-लग्न उपस्थित हुआ और आचार्य राघवानन्द ने अपनी असाधारण योगशक्ति से इसका निवारण कर दिया। उसके बाद रामानन्द ने दीर्घ आयु विपुल कर्मशक्ति प्राप्त की। वे एक सौ ग्यारह वर्ष तक जीवित रहे।

रामानन्द ने भक्ति आन्दोलन को उदार बनाया और मानवता बोध का नवीन आलोक प्रदान किया। मध्ययुग के अधिकांश साधकों और रहस्यवादी संतों पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा है। कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, नानक, दादू, रैदास और बंगाल के गौड़ीय भक्तों पर रामानन्द की भक्तिधारा का अपूर्व प्रभाव पड़ा। कहा जा सकता है कि उत्तर भारत का भक्ति साहित्य रामानन्द जैसे आदि पुरुष से सर्वाधिक प्रभावित हुआ।

डा० रामकृष्ण भण्डारकर ने अपने ग्रंथ 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर रेलिजन्स' में आचार्य रामानन्द का जन्म ख्रिस्ताब्द की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (१२९९ ई०) में माना है। इस ग्रन्थ के अनुसार रामानन्द का जन्म प्रयाग के पास मालकोट नामक स्थान में गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पिता का नाम श्री

पुण्य सदन और माता का नाम सुशीला देवी था। पहले मालकोट शैव मतावलम्बी ब्राह्मणों का साधना केन्द्र था। एक बार आचार्य रामानुज मालकोट आए और वहाँ एक विष्णुमंदिर की स्थापना की। उसके बाद गाँव के लोग वैष्णवी हो गए।

बालक रामदत्त का उपनयन संस्कार आठ वर्ष में ही कर दिया गया। इसके बाद के चार वर्षों में उन्होंने गाँव के चतुष्पाठी में धर्मशास्त्रों के अनेक दुरुह पाठ सीख लिए। उनकी प्रतिभा की चर्चा गाँव के पास-पड़ोस में होने लगी। फिर उच्च अध्ययन के लिए उन्हें काशी भेज दिया गया जहाँ एक स्मार्त आचार्य की चतुष्पाठी में वे दाखिल हुए। इसके बाद विशिष्टाद्वैत के सुविख्यात आचार्य माधवानन्द के आश्रम में रहकर रामानन्द धीरे-धीरे विद्या और साधना के शिखर पर पहुँचने लगे। वयस्क होते-होते योग-विभूति और शास्त्र साधक के रूप में उनकी चर्चा न केवल काशी के विद्वत्-समाज में, वरन् समस्त उत्तर भारत में होने लगी। कुछ वर्षों बाद वे गुरु माधवानन्द के आदेश से साधुओं की जमात के साथ परिव्रजन के तीर्थ-पथ पर निकल पड़े।

वन-प्रांतरों एवं पर्वतीय क्षेत्रों की कठिन दूरी तय करके रामानन्द बद्रिकाश्रम पहुँचे। वहाँ साधुओं की जमात से अलग हो गए और मंदिर के निकट ही एक शांत स्थान पर भगवान विष्णु के ध्यान में निमग्न हो गए। लम्बे समय तक ध्यानावस्थित रहने के बाद वे गंगा के किनारे-किनारे चलते हुए पूर्व दिशा की ओर उन्मुख हुए। धीरे-धीरे वे गंगा सागर तट तक पहुँच गए। यहाँ वे दिव्य परमभाव में अचानक निमग्न हो गए। इसी महाभाव की दशा में उन्होंने वह स्थान खोज निकाला जहाँ त्रेता के आरंभ में कपिल मुनि ने घोर तपस्या की थी। स्थानीय लोगों के सहयोग से उन्होंने उस पुण्य भूमि में एक छोटे से मन्दिर का निर्माण कराया। कालांतर में यह मंदिर लाखों भक्तजनों की श्रद्धा का केन्द्र बन गया।

अनेक वर्ष तक परिव्रजन के उपरांत रामानन्द पुनः माधवानन्द के आश्रम में बनारस आ गए। गुरु अपने इस योग्य शिष्य को पाकर धन्य हुए। लेकिन रामानन्द ज्यादा दिनों तक आश्रम में न रह सके और गुरु से आदेश प्राप्त कर बहिर्गत हुए। शीघ्र ही उन्होंने वैष्णव भक्तों के एक नूतन सम्प्रदाय की स्थापना की जो कालांतर में रामावत सम्प्रदाय नाम से चर्चित हुआ। इस सम्प्रदाय के साधु रामानन्दी साधुओं के नाम से प्रख्यात हुए। रामानन्द ने पूरे देश में घूम-घूम कर अपने नए धर्मान्दोलन को व्यापक आधार प्रदान किया। उनके इस नए पंथ का मुख्य आधार था त्याग और वैराग्य। वैराग्य और कृच्छ साधना की अचल भित्ति के सहारे उनके अनुयायियों ने अपने को नागा साधुओं के चार पृथक विभागों में विभक्त कर लिया। सनातन धर्म और हिन्दू तीर्थस्थलों की रक्षा के

लिए रामानन्दी साधुओं ने समय-समय पर हाथ में शस्त्र लिया और अद्भुत साहस एवं शौर्य का प्रदर्शन किया।

वैष्णव आचार्य के रूप में रामानन्द ने घोषणा की कि जो भक्त सब कुछ त्याग कर भगवान के शरण में स्वयं को सौंप देता है, प्रेम के साथ अखण्ड सेवाव्रत का पालन करता है, वैसे भक्तों के सम्बन्ध में जाति-भेद और छुआछूत को प्रश्रय देना समाज के लिए आवश्यक नहीं है। साधु समाज में सभी वर्ग के साधुओं के एक साथ साधना-आराधना करने और भोजन-पान करने का अधिकार है। भगवान के मंदिर में छोटे-बड़े का भेद मान्य नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वप्रवर्तित वैष्णव-सम्प्रदाय का उदार द्वारा वृहत्तर भक्त समाज के लिए उन्मुक्त कर दिया। मध्ययुग के लिए यह बहुत बड़ी क्रांति थी। इस क्रांति के संवाहक छोटे और दबे-कुचले लोग भी बन गए। उन्हें भगवत् भक्ति का अधिकार मिल गया था।

रामानन्दी साधुओं की एक विशिष्ट नागा-संघ को अवधूत कहकर पुकारा जाता है। आचार्य रामानन्द ने ऐसे बन्धनमुक्त अवधूतों का एक देशव्यापी संगठन बनाया। ये अवधूत दल बाँधकर लगातार यात्रा करते रहते तथा देश और धर्म की रक्षा के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को उद्यत रहते। बाद में चलकर काशी में गोस्वामी तुलसीदास ने इनके लिए एक व्यायामशाला भी स्थापित कर दी। महाराष्ट्र में समर्थ स्वामी रामदास ने भी उसी नमूने पर लड़ाकू साधुओं की जमात तैयार की थी जिनका काम देश और धर्म की रक्षा करना था।

स्वामी रामानन्द ने निरीश्वरवादी नास्तिकों भगवत् विमुख तार्किकों और विधर्मी आतताइयों से समाज की रक्षा करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इसी का परिणाम था कि आचार्य रामानन्द के पहले जैनों, बौद्धों, कापालिकों और वामाचारियों की जो राष्ट्रव्यापी वितंडा चल रही थी, उसे सर्वसाधारण जनता के सहयोग से निष्प्रभाव कर दिया गया और अन्ततः उनका क्षेत्र गुप्त अड्डों के रूप में ही अवशिष्ट रहकर धीरे-धीरे सुप्त हो गया।

आचार्य रामानन्द ने लोकभाषा में उपदेश देकर अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाया। पूर्ववर्ती आचार्य प्रायः संस्कृत भाषा में प्रवचन किया करते थे जो सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं थी। इस प्रकार रामानन्द संतों और साधुओं के अधिक निकट थे। इसके अलावा राधाकृष्ण की रागानुगा भक्ति से ओतप्रोत भजनों के स्थान पर उन्होंने सीता राम के मर्यादामार्गी भजनों को लोकप्रिय बनाकर विशिष्ट कीर्ति अर्जित कर ली।

आचार्य रामानन्द की साधना एवं दार्शनिक स्थापना का मूल आधार है—भगवत्प्रेम। पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या चाण्डाल—किसी भी विधि से

भगवान की उपासना करने वाला रामानन्द के लिए समानरूप से आदरणीय है। रामावत सम्प्रदाय ने इसीलिए उन्हें समान आदर का अधिकारी मान लिया है। उस सम्प्रदाय के साधुओं के बीच यह उक्ति प्रचलित थी—

'जाति–पाति पूछे नहिं कोई।
हरिको भजै सो हरि के होई॥'

रामानन्द के नायक विष्णु के अवतार श्री रामचन्द्र हैं। वे ही रामावत सम्प्रदाय की साधना के परमधन भी हैं। राममंत्र और राम–भजनावली के सहारे ही उन्होंने समाज के सभी वर्गों और वर्णों की जनता को परम आश्रय प्रदान करने की प्रतिश्रुति दी। इसी प्रतिश्रुति को पूरा करने में अपने सम्पूर्ण जीवन को उन्होंने लोककल्याण के निमित्त आहुति दे डाली।

चौदहवीं शताब्दी के अधिकांश समय तक आचार्य रामानन्द भारतवर्ष में परिभ्रमण करते रहे। जिस समय अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था, उस समय रामानन्द के तरुणाई के दिन थे। मुहम्मद तुगलक के समय वे पूरे देश में विख्यात हो चुके थे। तैमूर लंग की राक्षसी हिंसा के भी वे साक्षी रहे। ग्रियर्सन के अनुसार संभवत: इसी कारण उन्होंने परम कृपालु दुष्ट दलन श्री राम के वीर रूप की अराधना को उपयुक्त पाया।

रामानन्द के कुछ पद हिन्दी भाषा में रचित मिलते हैं। उनके अधिकांश शिष्यों के भजन और पद या तो हिन्दी में रचित हैं या हिन्दी से प्रभावित आंचलिक बोलियों में। इससे प्रकट होता है कि रामानन्द ने अपने उपदेश की भाषा हिन्दी को ही बनाया था। ग्रियर्सन कहते हैं कि रामानन्द के पहले हिन्दी बोलचाल की मिलीजुली खिचड़ी भाषा थी। उसकी साहित्यिक योग्यता तो आचार्य रामानन्द और उसके शिष्यों के अतुलनीय प्रभाव से ही विकसित और प्रतिष्ठित हुई। रामानन्द के स्मरणीय शिष्यों में प्रमुख थे- अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरेश्वरानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, गालमानन्द, पीपानन्द, कबीर, घनानन्द, भवानन्द, सेनानन्द, रैदास, पद्मावती और सुरेश्वरी आदि। इनमें पद्मावती और सुरेश्वरी स्त्री थीं। कबीर जुलाहा थे, घनानन्द जाट थे, सेनानन्द नाई थे और रैदास चमार थे। ये सभी–लोग सिद्ध संत थे।

काशी वेदान्त और शैव धर्म के केन्द्रीय स्थान के रूप में प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध रही है। आचार्य रामानन्द ने इस नगर को वैष्णवधर्म की पवित्र भूमि के रूप में भी प्रसिद्ध कर दिया। बाद में भारतवर्ष के दूर–दूर के क्षेत्रों से वैष्णव साधुओं का वहाँ आगमन होने लगा। भक्ति धर्म के उदार प्रवर्तक के रूप में रामानन्द ने सम्पूर्ण भारत के वैष्णवों की एक लोकव्यापी सरल प्रेम–मार्ग का संधान दे दिया। उनकी योग-सिद्धि, वाग्मिता, प्रतिभा और आचार्यत्व के

सम्मिलित प्रभाव ने वैष्णव धर्म को पूरे देश में असामान्य प्रतिष्ठा सहज ही प्राप्त हो गई।

एक सौ ग्यारह वर्षों के अपने जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में स्वामी रामानन्द का समग्र अस्तित्व पूरी तरह ईष्टमय हो चुका था। सर्वातिशायी परमप्रभु की ज्योतिसत्ता उनमें निरन्तर ओतप्रोत रही, इसका अनुभव जन साधारण के द्वारा भी किया जा चुका था। नानक-पंथियों के ग्रंथ-साहिब में भी स्वामी रामानन्द की गाथा संकलित है।

जीवन के अंतिम काल में रामानन्द ने स्वयं को एकांतवासी बना लिया था। उसी अवधि में एक दिन १४१० संवत् में उन्होंने अपने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया।

●

४
अद्वैत आचार्य

गोड़ीय वैष्णव समाज में श्री चैतन्यदेव की प्रतिष्ठा महाप्रभु के रूप में है तथा नित्यानन्द एवं अद्वैताचार्य की प्रतिष्ठा प्रभुओं के रूप में। प्रभुत्व की यह मर्यादा अन्य किसी चैतन्य पार्षद को प्राप्त नहीं थी।

सिद्ध महावैष्णव माधवेन्द्रपुरी के शिष्य अद्वैत आचार्य का जन्म श्री हट्ट में हुआ था। आज का सुनामगंज महकुला अंचल तब लाउड़ परगना के नाम से सुविख्यात था। इसी परगना के अन्तर्गत नवग्राम में अद्वैत इस भूमि पर अवतरित हुए थे। इनके पिता कुबेर पंचानन लाउड़ के सम्राट दिव्य सिंह के महापंडित थे। धर्मपरायण एवं शास्त्रविद मनीषी के रूप में वे दूर-दूर तक विख्यात थे। उनके पूर्वज भी ख्यातनाम थे।

अद्वैत के माता-पिता (मां लामादेवी) इस बात से अत्यंत दुखी थे कि उनकी कोई संतान जीवित नहीं थी। इसी व्यथा के साथ वे लाउड़ का परित्याग कर शांतिपुर आ गए। वे पवित्र भागीरथी के तट पर रहकर पूजा-पाठ में निमग्न हो गए। इसी बीच लामादेवी गर्भवती हो गईं। इस दम्पत्ति की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। तभी राज्य से आमंत्रण आ गया और वे लोग लौट आए।

माघी सप्तमी को कुबेर पंचानन के घर एक पुत्र रत्न ने जन्म लिया जिसका नाम रखा गया कमलाक्ष। बाल्यकाल से ही कमलाक्ष में धर्मपरायणता कूट-कूट कर भरी हुई थी। १२ वर्ष की उम्र में कमलाक्ष अध्ययन के लिए शांतिपुर भेज दिए गए। असाधारण प्रतिभा के धनी इस किशोर ने कुछ वर्षों में ही वेद-वेदान्त, स्मृति एवं षडदर्शनों को कंठस्थ कर लिया।

इस बीच कमलाक्ष के माता-पिता श्री हट्ट से आ गए थे और नवद्वीप तथा शांतिपुर में गंगातट पर ही रहकर शेष जीवन पुत्र के साथ बिता रहे थे। नब्बे वर्ष की उम्र में कुबेर पंचानन ने अपना शरीर त्याग दिया। कुछ दिनों बाद पत्नी लामादेवी भी चल बसीं। कमलाक्ष के मन में वैराग्य की आँधी चल पड़ी। ईश्वर प्राप्ति की तीव्र इच्छा से आह्लादित हो उठे। भक्तिसाधना एवं भजन में लीन हो गए।

गया में माता-पिता का पिंडदान करने के उपरांत कमलाक्ष दक्षिण के तीर्थों के दर्शन के लिए निकल पड़े। उन्हें एक सद्‌गुरु की तलाश थी जो उनके जीवन में आलोक पैदा कर सके। दक्षिणात्य का भ्रमण करते हुए एक दिन वे

माधवाचार्य सम्प्रदाय के साधुओं की सभा में उपस्थित हो गए। उस सभा में नारदीय सूत्र की व्याख्या हो रही थी। इस व्याख्या को सुनते-सुनते कमलाक्ष अचानक भावाविष्ठ हो संज्ञाशून्य हो गए। उनके अंगप्रत्यंग से विस्मयकारी सात्विक भाव फूट रहे थे। दक्षिणात्य के अद्वितीय ज्ञानी एवं भक्त श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी इस दृश्य को देखकर भाव विभोर हो उठे। भक्तसाधुओं ने 'हरि-हरि' का जाप शुरू कर दिया और कमलाक्ष की तंद्रा भंग हुई। उन्होंने पुलकित माधवेन्द्रपुरी को देखते ही निवेदन किया—'प्रभु मेरा परम सौभाग्य है कि आज मैं आपका दर्शन कर पाया। आप इस युग के भक्तिकल्पवृक्ष हैं। अपने चरणों में आश्रय देकर मेरे इस अधम जीवन को धन्य कर दें। मुझे वैष्णमंत्र की दीक्षा प्रदान करें।' माधवेन्द्रपुरी ने कमलाक्ष का अनुरोध स्वीकार लिया। उन्हें दीक्षा दे दी।

कुछ समय गुरु के सानिध्य में बिताने के बाद एक दिन कमलाक्ष ने निवेदन किया, 'प्रभु, इस कलिकाल में मनुष्य धर्मविहीन एवं आदर्शरहित हो संस्कारच्युत हो गया है। उसने स्वयं को ही सर्वोपरि मान लिया है। लोकहितकारी कृष्ण नाम, हरिनाम उसके मुख से उच्चरित नहीं होता। आप ही कहें, किस प्रकार जीवों का कल्याण होगा, किस प्रकार उनका उद्धार संभव होगा।'

पुरी महाराज के मुखमण्डल पर स्मित हास्य की रेखा कौंध गई। उन्होंने कहा, 'कमलाक्ष पृथ्वी पर पाप इतना बढ़ गया है कि इससे त्राण के लिए प्रभु के आविर्भाव की आवश्यकता है। तुम महाभक्त हो। तुम्हारे अन्तर में असीम ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वर को पुकार कर, उसे जाग्रत कर धरती पर उतार लो।'

सद्‌गुरु का निर्देश पाकर कमलाक्ष तीर्थाटन पर निकल पड़े। देश के दक्षिण और पश्चिम के तीर्थों की परिक्रमा करने के बाद वे ब्रजमण्डल पहुँचे। कृष्ण की लीलाभूमि का दर्शन कर भावविभोर हो गए। नृत्य और कीर्तन में इतना डूब गए कि समय कब निकल गया पता ही नहीं चला। एक पूरा दिन गोवर्धन पर्वत पर बीत गया। रात कब घिर आई पता ही नहीं चला। शांत, निश्चल होकर एक वटवृक्ष के नीचे सो गए। उन्होंने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा। साक्षात् कृष्ण उनसे कह रहे थे—'आचार्य। जीवों के मंगल कामना का व्रत तुमने धारण किया है। यह परम आनन्द की कथा है। इस धरती पर यथासाध्य भक्ति-तत्व का प्रचार करो। जन-जन को कृष्ण नाम से उद्‌बुद्ध करो। इसके साथ ही छोटे तीर्थस्थलों का उद्धार करो। और सुनो, मैं तुम्हें एक निगूढ़ संवाद दे रहा हूँ। मेरी एक दिव्य मूर्ति द्वादश-आदित्य तीर्थ में यमुना नदी के तट पर छिपी हुई है। उस विग्रह का नाम है—मदनमोहन। द्वापर में कुब्जा ने मेरी इस मूर्ति की सेवा की थी। तुम

उसका उद्धार करो।' इस अपूर्व स्वप्न के आनंद में कमलाक्ष की शेष रात जागते ही कट गई। सुबह होते ही गाँव वालों को बुलाया और उन्हें स्वप्न की बात बताई। ग्रामवासी द्वादश आदित्य तीर्थ की ओर निकल पड़े। उक्त स्थान की खुदाई की गई तो ललित त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी कृष्ण की मनोरम मूर्ति मिल गई। लोगों की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। कमलाक्ष एक ब्राह्मण को इसके पूजा-पाठ का दायित्व सौंप कर वृन्दावन की ओर निकल पड़े।

कृष्ण ने अद्वैत आचार्य को नित नूतन लीला दिखाना प्रारंभ किया।

भूगर्भ से निकली इस मूर्ति के दर्शन के लिए भक्तगणों की अपार भीड़ लगी रहती थी। पठानों के एक दल की कुदृष्टि इस ओर पड़ी। एक दिन पठानों ने इस मूर्ति को तोड़कर फेंक देना चाहा। लेकिन इस इरादे से उन्होंने जब कुटी में प्रवेश किया तब कृष्ण की वह मनोरम मूर्ति वहाँ थी ही नहीं। किसी ने विद्युतगति से उस मूर्ति को कहीं फेंक दिया था। निराश होकर पठान वहाँ से चले गए।

नए पुजारी यमुना तट पर स्नान-तर्पण में तल्लीन थे। पठानों के आक्रमण की घटना सुन कर वे तुरंत अस्तव्यस्त अवस्था में कुटी में गए। वहाँ मूर्ति न पाकर वे रोने लगे। यह दुखद समाचार सुनकर आचार्य अद्वैत भी वहाँ आ गए। उनकी दोनों आँखों से आँसू झर रहे थे। क्लान्त आचार्य ने उस मूर्ति को काफी ढूढ़ने का प्रयास किया लेकिन वह नहीं मिली। रात में जब तटवृक्ष के नीचे आचार्य सो रहे थे तो कृष्ण ने स्वप्न में दर्शन दिया। कह रहे थे, 'अरे ओ आचार्य! क्यों इस प्रकार विकल हो रहे हो। मुझे उन दुष्ट पठानों ने न तो फेंका न ही अपसरित किया। उन दुष्टों को आते देख मैं वेदी से कूद पड़ा था। उसके बाद चुपचाप बाहर निकल कर कुटी के पास वाले पुष्पोद्यान में छिप गया हूँ। वहाँ से तुम मुझे ले आओ। और सुनो, मेरे इस विग्रह का नाम अब होगा— मदनगोपाल। उल्लसित कमलाक्ष उस मूर्ति को ले आए और विधिवत उसकी पूजा-अर्चना शुरू हुई।'

परन्तु प्रभु ने अपने लिए एक दूसरी व्यवस्था की। पुनः कमलाक्ष को स्वप्न में आदेश दिया—'आचार्य, जिस स्थान में तुमने मेरी मूर्ति रखी है, वहाँ वह सुरक्षित नहीं है। दो-एक दिनों में मथुरा के एक परमभक्त चौबे जी यहाँ आएंगे। तुम मुझे उन्हें अर्पित कर देना। उससे मेरी पूजा-अर्चना में कोई बाधा नहीं आएगी।' कृष्ण ने फिर कहा, 'मेरा एक अत्यंत प्राचीन चित्रपट निकुञ्जवन में संगोपित है। श्री राधा की प्रिय सखी विशाखा की परिकल्पना से मेरी यह प्रतिकृति रचित हुई थी। इस प्रतिकृति को अपने साथ लेकर तुम देश चले जाओ।'

दूसरे दिन मथुरा के चौबेजी आ पहुंचे। प्रभु मदन गोपाल का संदेश उन्हें मिल गया था। अश्रुपूरित नेत्रों से आचार्य ने अपने प्राणप्रिय विग्रह को उन्हें अर्पित कर दिया। वे पवित्र चित्रपट के साथ शांतिपुर लौट आए। इसी समय माधवेन्द्रपुरी महाराज तीर्थाटन करते हुए शांतिपुर आ गए। उन्होंने भी कृष्ण के उस दिव्य चित्रपट का दर्शन किया और भावाविष्ट हो गए। उन्होंने चैतन्य प्राप्त होने पर अपने परमप्रिय शिष्य कमलाक्ष को निगूढ़ उपदेश दिया—

"वत्स! तुम सचमुच हो पुण्यमय, प्रेमवान।
राधिका की छवि है प्रत्यक्ष कर दी तुमने।
राधा और कृष्ण के दर्शन की उत्कंठा,
तेरे सहारे लोकगोचर है हो रही,
गोपी भाव बनकर।
यही युगल सेवा सर्वश्रेष्ठ रूप भक्तिका"

–अद्वैतप्रकाश

अद्वैत आचार्य ने गुरु के निर्देशानुसार इस युगल मूर्ति की उपासना प्रारंभ की। शांतिपुर से प्रस्थान करने से पूर्व श्री माधवेन्द्रपुरी ने आचार्य को एक और निर्देश दिया। बोले—'वत्स! तुम अब विवाह कर गृहस्थ बनो। संसार में कृष्ण नामके प्रचार का व्रत ग्रहण करो, जीवों के कल्याण की साधना करो।' फिर राधा और मदनगोपाल का अभिषेक सम्पन्न करके माधवेन्द्रपुरी जगन्नाथधाम की ओर चल पड़े।

आचार्य कमलाक्ष ने अपने घर में ही एक चतुष्पाठी की स्थापना की। धीरे-धीरे प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का एक दल तैयार हो गया। पंडित श्यामदास कमलाक्ष के अन्यतम भक्त और शिष्य थे। तत्व-विचार में आचार्य कमलाक्ष से पराजित हो उन्होंने उनके भक्ति सिद्धान्त को सहज स्वीकार कर लिया था। उन्होंने ही कमलाक्ष का नया नामकरण किया—अद्वैत आचार्य।

अद्वैत आचार्य के सामने कोई ऊँच-नीच, छूत-अछूत नहीं था। एक दिन उन्होंने अपने भक्त अस्पृश्य हरिदास को गले लगाने के बाद उसे समझाया—

'सुनो वत्स, धर्मशास्त्र सिद्ध वाणी यह
छोटा कौन? बड़ा कौन?
निश्चित यह होता नहीं
आचरण पवित्र जिसका हो,
श्रेष्ठ उसको ही मै मानता।
अष्टविध भक्ति यदि म्लेच्छ में प्रकट हो,
मैं तो उसे ही
श्रेष्ठ द्विज से कहूँगा। किन्तु-

उत्तम वही है जो भजता है कृष्ण को
विमुख उससे है जो
वही तो अधम है!' –अद्वैत प्रकाश

आचार्य ने हरिदास को सन्यास प्रदान किया। मस्तक मुण्डन कर उन्हें कोपीन-डोर एवं गले में तुलसी माला दिया गया। इस महाभक्त के कानों में शक्ति संचारित करने के लिए नाम का बीज-मंत्र आचार्य ने डाला। उन्हें नाम दिया—'ब्रह्म हरिदास'।

नारायणपुर के नृसिंह भादुड़ी एक कुलीन एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। उनके दो कन्याएँ थीं—सीता एवं श्रीरूपा। उन्होंने अपनी दोनों कन्याएँ अद्वैत आचार्य को व्याह दी।

एक बार गौरांग प्रभु नवद्वीप पधारे। उन्होंने अद्वैत आचार्य को बुलवाया। आचार्य सपत्नीक नवद्वीप आए लेकिन प्रभु की सभा में नहीं गए। वह नन्द आचार्य के घर में गुप्त रूप से रहने लगे। प्रभु के आदेश से उन्हें सपत्नीक उनकी सभा में लाया गया। अद्वैत ने देखा, प्रभु भावाविष्ट हो श्रीविष्णु की तरह बैठे हैं। श्रीपाद नित्यानन्द ने सिर पर छत्र रख दिया है। नरहरि प्रेमावेश से चँवर डुला रहे हैं। श्रीनिवास, मुरारी आदि भक्त जन हाथ जोड़कर दण्डायमान हैं। इस अलौकिक दर्शन ने आचार्य अद्वैत और उनकी पत्नी को आनन्द से भर दिया था। दोनों ने श्री गौरांग के चरणों की पूजा सम्पन्न की। पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद जब वे लोग साष्टांग दण्डवत कर रहे थे तभी प्रभु ने अपने दोनों पावों को आचार्य के मस्तक पर रख दिया। भक्तजनों की हरिध्वनि से सभी दिशाएँ गूँज उठीं। आज का दिन अद्वैत के जीवन का श्रेष्ठ दिन था। इसके बाद प्रभु ने आदेश दिया— 'अद्वैत अब शांत होकर उठो। सपत्नीक पंच-उपचारों से मेरे चरणों की पूजा करो।' यही तो अद्वैत की चिर कामना थी।

पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद प्रभु का दूसरा आदेश था—'अब कीर्तन होगा। उसमें तुम नृत्य करो।'

भक्तगणों ने कीर्तन प्रारंभ किया और महाज्ञानी, परमगंभीर, वृद्ध आचार्य आनन्द विभोर हो दोनों हाथ उठा कर नृत्य करने लगे।

महाप्रभु ने आचार्य के नृत्य से प्रसन्न होकर मधुर कंठ से कहा—'आचार्य, तुम्हारी प्रार्थना क्या है? तुम स्वेच्छा से वर माँगो। जो चाहो, मैं दूँगा।'

आचार्य दोनों हाथ जोड़कर चुपचाप खड़े हो गए।

'नहीं आचार्य, तुम प्रार्थना करो, तुम्हारे अन्तर की अभिलाषा से मैं परिचित होना चाहता हूँ।'

अद्वैत आचार्य ने कहा—'प्रभु यदि तुम कृपा कर अवतरित हुए हो, यदि तुम्हारी देवदुर्लभ भक्ति हमे प्राप्त हुई है, तो तुम्हारी कृपा, तुम्हारा अनुग्रह उन चिरवंचितों को भी प्राप्त हो। शूद्रों एवं स्त्रियों को भी तुम्हारी यह परम भक्ति की अनुकम्पा प्राप्त हो।'

भावविष्ट प्रभु ने आचार्य की प्रार्थना स्वीकार कर ली। चतुर्दिक जय जयकार होने लगी।

प्रभु के साहचर्य एवं भक्तजनों के सामीप्य में आचार्य के आनन्द से भरे दिन व्यतीत हो रहे थे, परन्तु उनके अन्तर में कहीं दूर तक एक कांटा गड़ा हुआ था। उसकी कसक से वे व्यथित और उन्मन बने रहते थे। कुछ ही दिनों बाद हरिदास को साथ लेकर आचार्य शांतिपुर लौट आए।

आचार्य की भक्ति का वह मधुर, प्रेममय रूप अब पूर्णतया परिवर्तित हो चुका था। प्रेमभक्ति के बदले अब ज्ञान-विचार की तार्किक पद्धति का अनुसरण दिग्दर्शन ही उन्हें मान्य था। सरस और मोहक प्रेम का स्थान अब ज्ञान ने ले लिया था। सब आशंकित थे कि क्या आचार्य ने अपने जीवन के आदर्शों को बदल दिया है?

अद्वैत आचार्य की इस चतुराई और अद्‌भुत कौशल का फल शीघ्र ही प्रकट हुआ। अचानक गौरांग महाप्रभु श्री पाद नित्यानन्द के साथ शांतिपुर आ पहुँचे। प्रभु को देख आनन्दमग्न आचार्य एवं उनके घर के लोग प्रभु के चरणों में लौट पड़े। अद्वैत दोनों हाथ जोड़ कर प्रभु के समक्ष खड़े हो गए। प्रभु ने तीक्ष्ण नेत्रों से देखते हुए उत्तेजित स्वरों में पूछा—'अरे मूर्ख, भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान? आज मुझे स्पष्ट कहो।' प्रभु क्रोध से थर-थर काँप रहे थे।

अद्वैत का अन्तर अलौकिक आनन्द से भर उठा क्योंकि उनका अभीष्ट सिद्ध होने जा रहा था। उन्होंने सविनय उत्तर दिया—'युग-युग से सर्व समाज में ज्ञान की श्रेष्ठता सर्वमान्य है। ज्ञानहीन भक्ति के बिना तो सारे कार्य निष्फल हैं।'

प्रभु के क्रोध का पारावार नहीं रहा। वे बोले, 'मूर्ख, भक्ति से ज्ञान श्रेष्ठ है? मेरे समक्ष खड़े होकर तुम यह कह रहे हो?'

प्रभु ने आचार्य को बरामदे से खींच कर जमीन पर गिरा दिया और मारने लगे। वृद्ध आचार्य अशक्त हो गया। यह दृश्य पत्नी से देखा नहीं गया। वह चीत्कार कर उठीं, 'अब नहीं प्रभु, शांत हो जाएँ। इस वृद्ध ब्राह्मण के प्राण एक बार ही न लें।'

भक्त हरिदास एक पाँव पर दण्डायमान थे। प्रभु की इस विचित्र क्रोध लीला ने उसे भय और विस्मय से भर दिया था। वे अविरल कृष्णनाम का जप

कर रहे थे। पास-पड़ोस के अनेक लोग वहाँ जमा होकर आचार्य की दुर्दशा दुखी मन से देख रहे थे। किन्तु खिलखिलाकर हँस रहे थे तो सिर्फ नित्यानन्द। अंत में अद्वैत आचार्य को मुक्ति मिली। प्रभु का कृपादण्ड शिरोधार्य कर उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। वे दोनों हाथ उठाकर नृत्य करने लगे।

नृत्य की समाप्ति के उपरांत आचार्य ने अपना मस्तक प्रभु के चरणों पर रख कर कहा, 'प्रभु अपने हाथों दंड देकर तुमने अपनी प्रभुता प्रदर्शित की है। तुम्हारे इस स्वरूप का उद्‌घाटन ही तो मैं चाहता था। अब मुझे अपने चरणों में आश्रय प्रदान करो।'

प्रबल प्रेम से भर कर प्रभुने आचार्य को आलिंगनबद्ध कर लिया। दोनों के कपोल आँसुओं से भींग गए।

प्रभु ने कहा—'अपने कल्याण के लिए जो तुम्हारा आश्रय ग्रहण करेगा, उसके शत अपराधों को मैं क्षमा करूँगा।'

प्रभु के पास बैठे आचार्य के वस्त्र आँसुओं से भींग रहे थे।

इस तरह की लीलाएं कई दिनों तक चलती रहीं। भक्तगण आनन्द में डूबते रहे। अंततः अपने भक्तजनों के साथ चैतन्य महाप्रभु नवद्वीप लौट आए। अद्वैत आचार्य को प्रभु ने अपने में आत्मसात कर लिया था।

कई वर्ष बीत गए। गौरसुन्दर ने इसी बीच संन्यास ग्रहण कर लिया था इसके बाद नीलांचल जाने का निश्चय किया लेकिन इसके पूर्व वे शांतिपुर आ गए। आचार्य अद्वैत के आंगन में गोष्ठी जमी थी कि आचार्य का पुत्र अच्युत अचानक वहाँ उपस्थित हो गया। धूल-धूसरित शिशु को गोद में लेकर प्रभु ने सस्नेह कहा—'अच्युत, तुम मेरे कौन हो? जानते हो, आचार्य मेरे पिता हैं, इसलिए हम दोनों भाई हैं।'

'ना ना, ऐसा नहीं। ईश्वर की कृपा से तुम जीवों के सखा रूप में आए हो। तुम्हारा पिता कौन हो सकता है? तुम तो स्वयं प्रकाश हो।' बालक के इस उत्तर से सभी अवाक् रह गए। लगा जैसे प्रभु ने अपने तत्वों को स्वयं प्रकाशित किया हो।

शांतिपुर में कुछ दिन रुकने के बाद प्रभु नीलांचल चले गए। उनके दर्शन के लिए अपने भक्तों के साथ आचार्य भी वहाँ पहुँच गए। एक दिन आचार्य ने अपनी कुटिया में प्रभु को भोजन के लिए आमंत्रित किया। स्वयं तरह-तरह के पकवान बनाए। पत्नी प्रत्यूष ने सहयोग किया। आचार्य की इच्छा हुई प्रभु अकेले आएँ तो आराम से भोजन ग्रहण कर सकेंगे। आचार्य ने अपने मन की बात पत्नी को बताई। अचानक बादल घिर आए और मूसलाधार बारिश होने लगी। इस बीच आचार्य ने देखा कि वर्षा से भींग कर प्रभु उनकी कुटिया के द्वार पर खड़े

हो 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' का जाप कर रहे हैं। आचार्य दौड़कर प्रभु को भीतर ले आए। थोड़ी देर बाद प्रभु ने भोजन ग्रहण करना शुरू किया। अन्तर तृप्त हुआ। फिर आचार्य ने वर्षा बंद होने के लिए इन्द्र देवता की स्तुति प्रारंभ कर दी। विस्मित हो प्रभु ने पूछा—'आचार्य, अचानक इन्द्र देवता पर तुम्हारी इतनी भक्ति और श्रद्धा कब से हो गई?'

'प्रभु आज इन्द्र के अनुग्रह से ही तुम्हें मैंने यहाँ अकेले पाया है। अब मेरी अधीर लालसा तृप्त हो गई है।'

प्रभु ने समझ लिया, यह असमय की वर्षा आचार्य का ही खेल है। अपनी भक्ति के बल से ही उन्होंने यह अलौकिक दृश्य उपस्थित किया है। आवेग कम्पित अद्वैत तत्क्षण प्रभु के चरणों पर गिर पड़े।

आचार्य अन्य भक्तों के साथ प्रतिवर्ष नीलांचल पर्वत अवश्य जाते थे। प्रभु का दर्शन कर उनके सामीप्य में कुछ दिन बिताकर अपने कर्मक्षेत्र गौड़ देश लौट जाया करते थे। उस प्रदेश में प्रभु द्वारा प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन के अन्यतम श्रेष्ठ धारक एवं वाहक के रूप में उनकी परिगणना होती थी।

आचार्य घोर आर्थिक संकट में थे। उनके एक भक्त बाउलिया विश्वास से देखा न गया। उसने उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र से तीन सौ रुपए की सहायता की याचना की। इस बात का पता जब चैतन्यदेव को चला तो वे बेहद नाराज हुए। उन्होंने अपने सेवकों को आदेश दिया—'विश्वास कभी भी मेरे पास न आने पाए। मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता। शुद्ध, पवित्र अद्वैत आचार्य को उस विषयी अधिपति से दान दिलवाना चाहता है। मैं उसे कभी क्षमा नहीं करूँगा।'

प्रभु के इस क्रोध से विश्वास तो दुखी हुआ है, आचार्य भी दुखी हुए क्योंकि विश्वास ने सहायता की याचना उन्हीं के लिए की थी।

कुछ दिनों बाद नीलांचल में आचार्य का प्रभु से साक्षात्कार हुआ। आचार्य ने कहा, 'प्रभु बाउलिया विश्वास पर तुम्हारी ऐसी कृपा है? हम लोगों की ओर तुम एक बार भी पलट कर देखते नहीं हो।'

प्रभु ने हँसते हुए उत्तर दिया, 'आचार्य, तुम सब वैष्णवों के आश्रयस्थल हो। प्रकृत वैष्णव का जीवन ईश्वर के चरणों में निवेदित है। वह सदैव ईश्वर प्रेम में उन्मत्त रहता है। जिसने भोग-विषयों के भयावह अंधेरे पथ का वरण किया है, उसके समक्ष सहायता की याचना क्यों? जो सबों का योग-क्षेम वहन करते हैं, उन्होंने तुम्हारा भार लेना भी स्वीकार किया है। फिर उस बाउलिया ने यह हठ और दुराग्रह क्यों किया? इसीलिए मैंने उसे दण्डित किया है। पर बाउलिया विश्वास तुम्हारा भक्त है और भक्त के दण्ड ने तुम्हें विचलित कर दिया है। अच्छा इस बार मैं उसे क्षमा करता हूँ।'

भक्त जगदानन्द एक बार गौड़ गए थे। अद्वैत आचार्य ने उनके हाथ एक संदेश प्रभु के पास भेजा। जगदानन्द ने प्रभु का वह संदेश दिया। प्रभु उस समय भक्तों से घिरे थे। विचित्र रहस्यमय था आचार्य का निवेदन। स्मित हास्य से प्रभु ने कहा—'तुम्हारी जैसी आज्ञा।'

भक्त दामोदर के आग्रह पर प्रभु ने उस पत्र का रहस्य खोला। कहा, 'आचार्य आगमशास्त्र के विज्ञ पण्डित हैं। देवताओं का आवाह्न एवं विसर्जन दोनों ही अनुष्ठान उन्हें ज्ञात हैं। लगता है आचार्य ने संकेत से कुछ कहना चाहा है। किन्तु तुम लोगों की तरह मैं भी वह सब समझ नहीं पाता।'

प्रभु ने वास्तविक रहस्य पर पर्दा ही डाले रखा लेकिन खुद समझ गए कि आचार्य ने अपने देवता के विसर्जन का इंगित इसके माध्यम से करना चाहा है। यह अनुमान सही साबित हुआ। आचार्य के इस निवेदन को सुन प्रभु अतिशय गंभीर होकर अंतर्मुखी एवं अन्तर्लीन हो गए थे।

अद्वैत आचार्य के अवसान की बेला धीरे-धीरे निकट आ रही थी। तिल, तुलसी और अश्रजल से सिक्त कर जिस जीवन-लीला का सूत्रपात उन्होंने किया था उसका अंत हो गया।

गौड़ीय वैष्णव समाज के अन्यतम स्तम्भ के रूप में अतीव श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से आचार्य अद्वैत को देखा जाता है।

●

५

चैतन्यदास बाबाजी

जगबन्धु का जन्म मैमन सिंह जिले के सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित घोष-राय वंश में हुआ था। भद्रा गाँव के निवासी ये लोग कायस्थ थे। इस परिवार के पूर्वज नवाबी सल्तनत में ऊँचे ओहदों पर थे।

जगबन्धु के पिता वैद्यनाथ और माता का बचपन में ही देहान्त हो गया था इसलिए चाचा गौरखनाथ ने अपने इस होनहार भतीजे का पालन-पोषण बड़े ही लाड़-प्यार से किया था। जगबन्धु उनकी आँखों के तारा थे।

एक बार जगबन्धु को हैजा हो गया। हालत गंभीर हो गई थी। चाचा गौरखनाथ ने कोई दवा-दारु नहीं की बस परिवार द्वारा बनवाए गए मंदिर में स्थापित देवता श्री गोविन्दराय का चरणामृत पिला दिया और जगबन्धु ठीक हो गए। इससे बालक जगबन्धु के अंतर में अपूर्व भक्ति-विश्वास का भाव जाग उठा। देवता के प्रसाद में उसकी ऐसी आस्था बनी कि बिना देवता के अर्पित की हुई कोई वस्तु ग्रहण ही नहीं करता था। कीर्तन के समय वह इतना भाव-विभोर हो जाता कि मानो किसी पूर्व जन्म का सात्विक संस्कार लेकर आया हो।

बारहवें वर्ष में उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए एक मुंशी को लगा दिया गया। बालक जगबन्धु इतनी कुशाग्र बुद्धि का था कि जल्दी ही बंगला और फारसी भाषाओं पर उसका अधिकार हो गया।

संसार से वैराग्य होने के साथ ही जगबन्धु के हृदय में चैतन्य महाप्रभु के प्रति अनुराग जागा। नित्य प्रति 'चैतन्य-चरितामृत' का पाठ किए बिना वह जल भी नहीं ग्रहण करता था। उसके जीवन में मुक्ति-कामना और वैष्णव जनोचित दीनता का भाव क्रमशः तीव्र होता गया।

जगबन्धु के वैराग्य भाव को देखकर चाचा गौरखनाथ चिन्तित हुए। उन्होंने उसे सांसारिक माया-मोह में फाँसाने के लिए उसके विवाह का निश्चय किया। जब यह सूचना जगबन्धु को मिली तो उसने रात के अंधेरे में घर त्याग दिया। पैदल चलकर वह नवद्वीप पहुँचा। उसने वैष्णव दीक्षा ले ली। नया नामकरण हुआ चैतन्यदास।

अपनी साधना, पाण्डित्य और वैष्णवीय दीनता के कारण शीघ्र ही चैतन्यदास की कीर्ति चारो तरफ फैल गई। वे अपने को सदैव गौरांग-प्रिया के भाव में रखते। वे स्वयं को नारीवेश में सज्जित कर गौरांग की मूर्ति के सामने

खड़े होकर पंखा झलते। बाह्य ज्ञान लौटने पर वे अकिंचन वैष्णव साधक के रूप में अतिदीन भाव से भक्तमण्डली में बैठ जाते। वे निरंतर चैतन्य महाप्रभु का 'गोरा' नाम जपते रहते। प्रतिदिन 'गोरा' नामांकित एक पवित्र पुंगी की पूजा किए बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। वे हमेशा ध्यानमग्न रहते।

एक दिन चैतन्यदास का क्षौरकर्म करने के लिए नाई बैठा था। अचानक उन्हें छींक आई और वे चुटकी बजाते हुए 'गौर'-'गौर' चिल्लाने लगे। इसके थोड़ी ही देर बाद उठे और उन्मत्त भाव से कीर्तन करने लगे। बड़ी कठिनाई से शांत किया गया उन्हें।

एक बार ग्रहण के दिन चैतन्यदास गंगा-स्नान के लिए गए। लोग स्नान करके निकल रहे थे। पुरोहित उन्हें मंत्र पढ़ा रहे थे। परंतु चैतन्यदास ने सब लोगों के बीच में खड़े होकर अपना ही मंत्र पढ़ना शुरू कर दिया—'गौरांग-नागरी बनूँगा, गौरांग-नागरी बनूँगा।' सभी लोग अवाक् रह गए। पंडितगण परिहास से कहने लगे—'बाबाजी महाराज, आप यह कौन सा अद्‌भुत मंत्र पढ़ रहे हैं। स्नान-तर्पण के घाट पर कभी किसी ने ऐसा नहीं सुना।'

चैतन्यदास बोले, 'भाई, तुम लोगों का जो मंत्र है, तुम लोग पढ़ो, मैं अपना मंत्र पढ़ता हूँ। जिसकी जैसी भावना रहेगी उसे वैसी ही सिद्धि मिलेगी।'

एक दिन नवद्वीप के घाट पर बाबा चैतन्यदास ने स्नान किया। स्नान करने के बाद जब कौपीन धारण करने जा रहे थे तो हवा के झोंके से कौपीन हाथ से छूट गया। बाबाजी नग्न हो गए। यह दृश्य जगदीश मैत्र नामक एक ब्राह्मण देख रहा था। वह बाबाजी के निकट आया और उन्हें डांटने लगा, 'लम्पट कहीं का। तुम स्नान-घाट पर कुल बधुओं के सामने नंगा होता है। यथाशीघ्र यहाँ से चले जाओ, नहीं तो मार-मार कर दुरुस्त कर दूँगा।'

बाबाजी गिड़ागिड़ाए, 'बाबा' अचानक हवा के झोंके से कौपीन हाथ से छूट कर गिर गया। कृपा कर अपराध क्षमा कर दो।'

मैत्र और ज्यादा क्रोधित हो गया, बोला, 'तुम अपना दोष हवा पर मढ़ने की कोशिश कर रहे हो?' और उसने बाबाजी के गाल पर एक जोर का थप्पड़ जड़ दिया। इससे वहाँ उपस्थित लोग क्रुद्ध हो गए। लेकिन बाबा ने उन्हें शांत करते हुए हाथ जोड़कर मैत्र से कहा, 'मुझसे जो अपराध हुआ, उसका दण्ड मुझे मिल गया। आगे कभी भी मुझसे ऐसा अपराध नहीं होगा। आपने मुझे अच्छी शिक्षा दी है। आप मेरे शिक्षा गुरु हुए।'

बाबाजी घाट से चले गए।

तीन दिन बाद मैत्र अचानक गंभीर रूप से बीमार पड़ गया। उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं रही। ज्वर के उत्ताप में कहता, 'बाबाजी महाराज, मैं घोर अपराधी हूँ, महापापिष्ट हूँ। मुझे क्षमा कीजिए, मुझ पर कृपा कीजिए।' यह

कहकर वह बेहोश हो जाता। उसके परिजन बाबा चैतन्यदास की शरण में आए। बाबा ने पहले ही मैत्र को क्षमा कर दिया था। उन्होंने गौरांग महाप्रभु की मूर्ति पर चढ़ाया गया तुलसीदल दिया और बोले, 'तुम लोग जाओ, किसी प्रकार का भय नहीं है। रोगी को यह महौषधि खिला देना, ठीक हो जाएगा।'

जगदीश मैत्र को बाबाजी का प्रसाद खिलाया गया। वह स्वस्थ हो गया। इसके बाद उसने बाबाजी का आश्रय ग्रहण किया और वैष्णव साधक हो गया।

चैतन्यदास चैतन्य महाप्रभु के मंदिर परिसर में स्थित एक निर्जन कुटी में रहा करते थे। रागानुगा भक्ति के भावोच्छवास में प्राय: तन्मय रहा करते थे। एक दिन गौरांग मंदिर के चबूतरे पर कीर्तन चल रहा था। कीर्तनिया दल गा रहा था—'गौरांग सुन्दर नदिया छोड़ चले।' इस विरह-गीत को सुनते ही साधक चैतन्यदास उछलकर सामने आ गए। उत्तेजित स्वर में बोले, 'अरे यह क्या कह रहे हो, यही तो नवद्वीपचन्द्र, विष्णुप्रिया प्राणवल्लभ महाप्रभु साक्षात खड़े हैं। अब दुबारा कहा तो मारकर भगा देंगे।' कीर्तन समारोह में हो-हल्ला मच गया। कीर्तनियों ने नया गीत गाना शुरू कर दिया। फिर कभी उस यात्रा गीत को नहीं गाया।

कालना के सिद्ध संत भगवानदास जी से चैतन्यदास के निकट सम्बंध थे। लेकिन दोनों के गौड़ीय वैष्णव जगत के स्तंभ होते हुए भी उनके बहिरंग आचरण भिन्न थे। भगवानदास जी की प्रेम-साधना अंत: संचारिणी थी जबकि चैतन्यदास का साधना जीवन प्रेमा-भक्ति के उच्छल-तरंगायित रहता था। गौरांग-प्रेम को लेकर दोनों महान साधकों के बीच प्रेम-कलह भी होता रहता था।

चैतन्यदास नदिया छोड़कर कहीं नहीं गए। उन्हें वृन्दावन ले जाने का भगवानदास जी का प्रयास भी विफल हो गया। बहुत आग्रह पर वे तैयार हो गए लेकिन जब अंतिम अवसर आया और चैतन्य महाप्रभु के मंदिर के समक्ष खड़े होकर हाथ जोड़कर आज्ञा लेने लगे तो बेहोश होकर गिर पड़े। काफी देर तक भजन-कीर्तन करने पर उन्हें होश आया। भगवानदास जी ने कहा, 'चैतन्य का वृन्दावन यही है।'

चैतन्यदास बाबाजी तमाम वैष्णव भक्तों की आशंकाओं का निराकरण करते। एक दिन भक्त प्रवर शिशिर कुमार घोष चैतन्यदास का दर्शन करने आए। उन्होंने प्रश्न किया, 'बाबाजी महाराज, भक्ति-साधना कैसे होता है ?'

'भक्ति लाभ तो दो पैसे में होता है।'

'बाबाजी, आप मेरा उपहास कर रहे हैं।'

'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण! मैंने आपका उपहास नहीं किया,' बाबाजी ने कहा, 'आप बंगला में छपी हुई नरोत्तम ठाकुर की प्रार्थना-पुस्तक खरीद लीजिए। उसे आर्तभाव से पढ़िये। उसी से भक्ति-लाभ होगा।'

बाबाजी के लिए आर्तप्राण और प्रार्थना ही गौरांग-प्रेम की सर्वापेक्षा बड़ी साधना थी।

एक बार ब्रह्मसमाज के शीर्षस्थ नेता गोस्वामी विजय कृष्ण चैतन्यदास बाबाजी के पास आए। उन्होंने पूछा, 'बाबाजी महाराज, मैं प्रकृत भक्ति का अधिकारी किस प्रकार बनूँगा।'

यह प्रश्न सुनकर बाबाजी महाराज अपलक उनका मुँह देखते रहे। कुछ देर बाद उनकी देह रोमांचित हो उठी। थर-थर कांपने लगी। धीरे-धीरे उनकी शिखा भी रोमांच होने से खड़ी हो गई। उन्होंने एक हुंकार भरी और आवेगकंपित स्वर से बोले, 'तुम यह क्या कह रहे हो गोसाईं। तुम यह पूछते हो कि भक्ति कैसे होती है?' इतना कहते-कहते उनके शरीर में अश्रु, रोमांच और कम्पन जैसे आठो सात्विक विकार उत्पन्न हो गए।

इस भावोन्मत्ता को समाप्त होने पर चैतन्यदास जी ने विजयकृष्ण जी को साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहने लगे, 'प्रभु! आप भक्ति की बात पूछते हैं? वह दुर्लभ वस्तु मैं अपात्र भला कहाँ पाऊँगा? आप आशीर्वाद दीजिए कि सर्वथा अकिंचन कंगाल बन सकूँ क्योंकि उससे आगे भक्ति की नाम-गंध का पता भी नहीं मिलता? हाँ, एक बात मैं आज आपसे कहना चाहता हूँ, ध्यान देकर सुनिए। आजकल आप जैसा-कुछ भी क्यों न करते हों, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आप तिलक लगाएंगे, कण्ठी-माला धारण करेंगे। भक्ति तो आपके अपने भंडार का धन है। आप तो अद्वैत वंश की संतान हैं। हमारे अद्वैत भंडार में क्या भक्ति का अभाव है।'

गोस्वामी जी के संबंध में चैतन्यदास की भविष्यवाणी गोस्वामी जी के परवर्ती जीवन में अक्षरश: फलवती सिद्ध हुई।

गौरांग मंदिर के एक कोने में बैठकर चैतन्यदास भजन-कीर्तन समाप्त होने पर रात्रि में प्रेमा भक्ति की साधना में डूब जाते थे। उस ध्यानावस्था में गौरांग के साथ उनकी विरह-मिलन की रंगरेलियाँ चलती और अनेक प्रकार के प्रेमालाप होते।

उन दिनों नवद्वीप में भीम नामक एक खौफनाक दुराचारी रहता था। वह जाति से गंध-बनिक था। वैष्णवों का तो वह जानी दुश्मन था। उसने गौरांग और चैतन्यदास के पारस्परिक प्रेम संलाप की चर्चा सुनी। उसने इसके पीछे छिपे गूढ़ रहस्य का पता लगाने का निश्चय किया। एक रात वह मंदिर की दीवार लांघ कर भीतर आया। बाबाजी की कुटिया के सामने आकर खड़ा हो गया। उस समय बाबाजी भावाविष्ट अवस्था में थे। अपने इष्टदेव के साथ प्रेमालाप में मग्न थे। बार-बार अपने हृदय की आर्त्तवेदना निवेदित कर रहे थे।

भीम ने समझ लिया कि प्रेमा भक्ति और साधना की बात झूठी है। कुटी के अन्दर निश्चय ही बाबाजी की कोई प्रेमिका है। इस समय कुटी के अंदर

जाकर बाबाजी के कपटाचार का पर्दाफाश किया जा सकता है। उसने दरवाजे को ठोकर मारकर तोड़ दिया लेकिन कुटी के अंदर प्रवेश करते ही विस्मय से भर उठा। उसने देखा कि बाबाजी महाराज सामने निष्पंद भाव से ध्यान-निमग्न हैं, उनके शरीर से एक दिव्य ज्योति निकल रही है। सारी कुटिया फूलों की सुगन्ध से भरी हुई है। किन्तु भीतर कोई और नहीं है।

भीम वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ा। होश आने पर वह और भी आश्चर्य में पड़ गया। भजन कुटी के जिस दरवाजे को उसने तोड़ दिया था, वह बिल्कुल साबूत खड़ा है।

भीम के हृदय में तीव्र शोक और मर्मांतक पीड़ा की ज्वाला उठने लगी। ज्वाला असह्य होने पर एक दिन वह बाबाजी के चरणों पर आकर गिर पड़ा। उसकी आँखों से आँसू गिर रहे थे। उसने विगलित भाव से कहा, 'बाबाजी मेरा उद्धार कीजिए। अपने चरणों का आश्रय दीजिए।' चैतन्यदास ने स्नेहपूर्वक उसे हृदय से लगा लिया। बोले, 'बेटा भीम, उठो। कोई भय नहीं। आज से तुम गौरदास हुए। निष्ठापूर्वक हरिनाम जपते जाओ और वैष्णवों की सेवा करो। शीघ्र ही तुम्हें भगवत कृपा प्राप्त होगी।'

भीम का रूपान्तर देखकर द्वीपवासी चकित हो गए।

चैतन्यदास के जीवन के अंतिम काल में आत्मसात का आखिरी अंक प्रारंभ हो रहा था।

अन्ततः वह शुभ लग्न भी आया। उस दिन बाबाजी दिनभर, रातभर भजन-रस में डूबे रहे। हठात् गंभीर रात में भाव-तन्मय अवस्था में ही अचानक उठ बैठे और अपने को गौर प्रिया के रूप में सजाने लगे। फिर प्रेम-रस के नशे में लड़खड़ाते पैरों से गौर-विग्रह के बाईं ओर जाकर खड़े हो गए। धीरे-धीरे निमग्न होकर गाने लगे—

मेरा भजन समाप्त हुआ,
मेरी पूजा समाप्त हुई,
नदिया के चन्द्रमा की प्रिया मैं हूँ,
मेरा स्वामी 'गोरा' है।

गाते-गाते चैतन्यदास के शरीर में एक अपूर्व ज्योति प्रस्फुटित हुई। उनकी प्रेमाविष्ट आंखें गौरांग मूर्ति की आंखों से निश्चल जड़ी थीं। उस दिन प्रभु की नित्य लीला का ज्योतिर्मय रूप उनको स्पष्ट हो गया।

गौराब्द ३९२ साल में अगहन की पूर्णिमा के दिन सिद्ध साधक चैतन्यदास बाबाजी महाप्रस्थान कर गए।

●

६

भक्त दादू

भक्त दादू का जन्म सन् १५४४ ई० में फाल्गुन मास की शुक्लाष्टमी को वृहस्पतिवार के दिन एक निर्धन मुस्लिम परिवार में हुआ। इस चर्मकार परिवार में उन्हें शिक्षा नहीं नसीब हुई। उनकी अक्षय सम्पदा थी उनके अंतर का नितांत सहज प्रेम और निराभिमानता। इसके मध्य से उनके भीतर मर्मी साधक की धारा फूट पड़ी। ऐसा कब हुआ, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके बाल्य-जीवन के संबंध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। केवल इतना ही ज्ञात है कि उनके पिता का नाम लोदी और माता का नाम बसीबाई था। चमार पल्ली की चरम दरिद्रता और अशिक्षा के वातावरण में रहते हुए दादू अपनी एकांत साधना में सहज गुणों के विकास पर ही निर्भर थे।

दादू अपने गृहस्थ जीवन में रमे रहे। उन्होंने कभी निवृत्त मार्ग नहीं अपनाया। पत्नी 'हावा' और चार पुत्र-पुत्रियों का छोटा सा परिवार था। सत् और असत् उनके जीवन में एकाकार हो रहे थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास उत्तरकाल में मर्मी साधक-रूप में प्रसिद्ध हुए। कनिष्ठ पुत्र मास्किनदास और दोनों कन्याएँ ननी बाई और माताबाई का जीवन भी आध्यात्मिक था।

दादू की आय का मुख्य स्रोत मशक की मरम्मत था।

एक दिन दादू घर से निकल पड़े। वे काशी, बिहार और बंगाल के नाना स्थानों में भटकते रहे। सहजमत, शून्यवाद, निरंजनवाद, नाथपंथ आदि के साधन-तत्वों का आस्वादन करते रहे। नाथपंथ की योग-साधना में उन्होंने अपार सफलता प्राप्त की और 'कुम्भारीपार' नाम से नाथ योगियों के बीच प्रसिद्ध हो गए। 'कुम्भारीपार' शब्द इस पंथ के एक प्राचीन महायोगी की योग-विभूतियों का द्योतक था। कुम्भारीपार रचित कितने ही ग्रंथ आज भी दादूपंथी योगियों के बीच संरक्षित हैं, जैसे—अजपा गायत्री ग्रंथ, विराट पुराण, योग शास्त्र, अजपा ग्रंथ और अजपाश्वास।

परिव्राजन के दौरान काफी समय बंगाल में व्यतीत होने के कारण दादू पर बंगाल के नाथपंथी योगियों का काफी प्रभाव पड़ा। दादूपंथियों के वाणी-संग्रह में बंगाली नाथ योगियों के भाव और भाषा का पूरा प्रभाव पड़ा है—

दादू हिंदू तुरकन होइबा साहब सेतीकाम।
षड्दर्शन के संगनजइवा निरपथ कहिबा राम।

देश में भ्रमण के उपरांत भक्त दादू राजस्थान के साँभर नामक स्थान में रहने लगे। उनके साथ उनके परिवार के अलावा शिष्यमंडली भी थी। परिजनों के काफी परिश्रम से दो जून की रोटी जुटती। दादू इसे भी ईश्वर की कृपा मानते—

दादू रोजी राम है, राजिक रिजक हमार।
दादू उस परसाद सौं पोष्य सब परिवार।

अर्थात् हे दादू, राम ही मेरा प्रतिदिन का अन्न है। वही मेरी वृत्ति है। वही मेरी जीविका है। उनका प्रसाद पाकर ही तो मेरे समस्त परिवार का भरण-पोषण होता है।

दादू हिन्दू-मुसलमान और मंदिर-मस्जिद का भेद नहीं मानते थे। उनका अभीष्ट मानव-कल्याण था। हिन्दू साधक और मुस्लिम उलेमा आकर दादू से कहते—'दादू, धर्म-साधना या सेवा-कार्य किसी एक सम्प्रदाय में ही रहकर संभव है। तुम किस सम्प्रदाय के हो?' दादू कहते, 'भाई, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, आकाश, हवा, जल—ये सभी तो निरंतर सेवा-कार्य में रत रहते हैं। ये सब किस धर्म सम्प्रदाय को मानने वाले हैं?' वह जिज्ञासुओं से कहते, 'अलख इलाही जगत् गुरु, दूजा कोई नाहिं।'—'जो अलख था वही ईश्वर और गुरु है।'

दादू की साधना प्रेम और भक्ति की साधना थी। उनके अनुयायियों और भक्तों को लोग ब्रह्म-सम्प्रदायी कहा करते थे। वे अपने शिष्यों और भक्तों के साथ नृत्यगीत में विभोर हो जाते। गुजरात के काठियावाड़ अंचल में भ्रमण करते समय दादू एक बार भजनियां दल के मंजीरा, वाद्य एवं नृत्य को देखकर मोहित हो गए। उसके बाद वे अपने भक्तों के बीच स्वयं नृत्यगीत में रमने लगे। वे अंतर की आकुलता और भावमयता पर विशेष जोर देते थे। उनकी संगीत-शैली में तान और आलाप की प्रधानता थी। एक बार उन्होंने उस्ताद से कहा, 'भाई, प्रभु की स्तुति क्या इस तरह से गाई जाती है? इस भाव से गान करो कि उनका ही प्रकाश प्रमुख रहे। सतर्क रहना कि तुम्हारे अहं का प्रकाश कहीं बड़ा न हो उठे। ऐसा हुआ तो भजन-स्तुति के साथ तुम्हारी यह ललित कला भी व्यर्थ जाएगी।'

एक बार नारायण ग्राम में होली मनाई जा रही थी। प्रसिद्ध लोकगायक बरवना के गीतों पर लोग झूम रहे थे। दादू ने थोड़ी देर तक सुनने के बाद कहा—'भाई, आज इस बसंत को आपने अपने गीतों को मूर्त करने का जो प्रयास किया है, सब व्यर्थ है। यदि प्रियतम प्रभु के संग मिलन न हुआ तो यह नाचगान सब अर्थहीन है। 'ऐसी देह रची रे भाई, रामनिरंजन पाबो आईं'—अरे मेरे भाई ऐसी आनन्द की रचना करो जिसमें प्रभु का गुणगान हो। दादू के इन शब्दों ने शब्दशिल्पी बरवना को झकझोर दिया। वह भक्त दादू का परमशिष्य हो गया और श्रेष्ठ भक्त के रूप में विख्यात हुआ।

बाद के वर्षों में दादू ने राजस्थान के अम्बर शहर में लगभग चौदह वर्ष बिताए। उनके भक्तों की संख्या बढ़ती गई। वे दिन में गृहस्थ आश्रम का पालन करते लेकिन शाम को दादू के पास इकट्ठा होते। कभी-कभी भिन्न धर्मों के धर्माचार्य और उलेमा भी आ जाते। फिर भक्ति और साधना की चर्चा चल पड़ती। भजन-कीर्तन होने लगता। दादूपंथी इसे अलख दरीबा अर्थात् अलख निरंजन के आनंद-हाट की संज्ञा देते। दूसरी तरफ दादू हर समय प्रभु की साधना में डूबे रहते। प्रेम की साधना में निमग्न रहते। वे गाते—

दादू है को भय घणां, नाहीकौं कुछ नाहि।
दादू नाही हाइं रहु, अपने साहिब मांहि॥

अर्थात् हे दादू! जिसके पास अनेक कुछ है उसे भय भी अनेक है; जिसके पास कुछ नहीं उसे भय भी कुछ नहीं। हे दादू! अपने स्वामी में इसी प्रकार शून्यवत् वास करो—अपनी सत्ता और मैं को निःशेष कर दो।

वे कहते—

जहां राम तंह मैं नहीं, मैं तंह नाहीं राम।
दादू महल बारीक है, दोउ कू नाहीं ठांउ॥

अर्थात् जहाँ मेरे राम है (ईश्वर हैं) वहा 'मैपन' का लेश नहीं, और जहाँ 'मैं हूँ, वहाँ राम नहीं। हे दादू, अत्यन्त सूक्ष्म तथा संकरा है वह श्री मंदिर— उसमें दोनों के लिए जगह नहीं।'

दादू की समग्र सत्ता में उस समय सकरुण आवेदन ध्वनित हो रहा है—

दादू पेआला प्रेम का, साहिब राम पिलाई।
परगट पेआला देहु भरि, मिरतक लेहु जिलाई॥

अर्थात् हे भगवान, हे मेरे स्वामी, प्रेम का प्याला तो तुमने पान कराया किन्तु अब अपना दिव्य दर्शन देकर इस प्याले को पूर्ण कर दो, इस मृतक में इस बार जीवन-दान करो।

एक रचना में भक्त दादू कहते हैं—'हे राम! मेरे समान तुम्हारे अनेक हैं किन्तु तुम्हारे समान तो मेरा और कोई नहीं। दादू का कभी परित्याग न करना। सदा मेरे नयनों में रहना। तुमसे ही सब कुछ होगा—दरस-परस और प्रेम-वैवश्य। मैं जानता हूँ, युग-युगान्त काटने पर भी मुझसे कुछ नहीं होगा। प्रभु, तुम्हारी कृपा होने से एक पल में तुम्हें पा लूंगा। किन्तु मेरी शक्ति द्वारा कोटि-कल्प काल में भी यह नहीं होगा।'

प्रियतम के साथ मिलन की यह साधना दुष्कर तपस्या और दैन्यमय जीवन का पथ नहीं—बल्कि रस-मधुर प्रिय-पथ-यात्रा है। दादू के अंतरंग शिष्य रज्जब की साधना और आचरण में यह रसोज्वल तत्व खूब प्रस्फुटित हुआ है। उनकी

प्रेम साधना में भावमयता के साथ मिश्रित थी प्रियतम के अनुरूप साज-सज्जा। इस वेश-भूषा के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर वह दादू का विख्यात अर्थभरा वाक्य कहते, 'भाई, प्रियतम के संग क्या दीन-हीन, अशुचि वेश में मिलना शोभादायक है ? प्रेम, आनंद और ऐश्वर्य—यही तो इस महा मिलन का पाथेय है।'

दादू एक जगह कहते हैं—

मसि करि दीपक कीजिए, सब घट भया प्रकाश।
दादू दीपा हाथ करि, गया निरंजन पास॥

अर्थात् इस साधन-सत्ता-रूप घट का मंथन कर प्रदीप प्रज्वलित करो। उसके आलोक से सारा घर ही प्रकाशित हो गया। दादू, प्रदीप हस्त से निरंजन के पास पहुँच गया।

साधना की सार्थकता ने इस बार दादू के जीवन को रूपांतरित कर दिया। सद्गुरु की कृपा से अतीन्द्रिय जीवन का सद्-द्वार उनके सम्मुख उन्मुक्त हो गया। महा-जीवन-पद्म रंग और रस से भर कर खिल उठा। उसके सौरभ से चारों दिशाएं आमोद में डूब गईं। अज्ञात आकर्षण से खिंचकर चतुर्दिक से पुष्पलोभी मुमुक्षु-दल लुब्ध भ्रमर के समान आ आकर भीड़ करने लगे। एक के बाद एक भक्त-साधक-दल ने उनका आश्रय ग्रहण किया। दादू के इन प्रधान शिष्यों की संख्या बावन थी। उनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं—रज्जबजी, सुन्दरदास (छोटे) जाइसा, माधोदास, प्रयागदास, गरीबदास, बरवनाजी, बनवारीदास, शंकरदास, जन गोपाल, जगजीवन इत्यादि। सम-सामयिक दादू-पंथियों की भाषा में ये सब एक-एक 'खंभा' या 'साधक-स्तम्भ' के प्रवर्तक माने जाते हैं।

दादू के जीवन में कई विलक्षण घटनाएं देखने को मिलती हैं। एक बार दादू चातुर्मास्य—अनुष्ठान के उपलक्ष्य में आंधी-ग्राम में जाकर कुछ दिन रहे। वहाँ भयंकर सूखा पड़ा था। सभी ग्रामवासी दादू के पास गए। दादू की एक भगवत् प्रार्थना से वहाँ वर्षा होने लगी।

टोंक अंचल में एक विराट महोत्सव आयोजित था। साधु-संतों और जन-साधारण इतनी संख्या में जुटे कि खाद्य पदार्थों की कमी हो गई। प्रबंधक चिंतातुर हो दादू के पास गए। दादू ने अपने उपास्य का भोग लगाया और उधर भोज्य का भण्डार अक्षय हो उठा। दादू की अलौकिक शक्ति के कारण कोई बिना प्रसाद ग्रहण किए नहीं गया।

दादू सिद्धि-प्रदर्शन के पक्षधर नहीं थे। केवल भक्तों के कल्याण के लिए ही अपनी सिद्धि का कभी-कभी इस्तेमाल करते थे। उनका मानना था कि किसी उद्देश्य से हरि का भजन करना हो तो भक्ति के उद्देश्य से ही भजन करना चाहिए। अष्टसिद्धि, नव-निधि सब कुछ उस भक्त के सम्मुख सदा आज्ञाकारी के समान खड़े रहते हैं।

दादू कहते हैं—'योग समाधि सुख सुरति से 'सहजै' 'सहजै' आर।' एक ओर योग-समाधि का साधन-पथ और दूसरी ओर आनंद-सुरति; इन्हीं के मध्यवर्ती सहज-पथ का दादू ने प्रधानतया अनुसरण किया। किंतु यह महाप्रेमी क्या योग-साधना की पूर्णतया अवहेलना करते थे? उनकी एक विशिष्ट वाणी में इस पर प्रकाश पड़ता है—'हे दादू! सबद (शब्द) हुई सुई, प्रेम ध्यान हुई तागा, इस काया को ही बनाया अपनी कथा। योगी लोग युग पर युग इसी कन्या का परिधान करते हैं, यह कभी भी छिन्न नहीं होती।'

एक सिद्ध पुरुष के रूप में दादू की कीर्ति पूरे उत्तर भारत में फैल चुकी थी। अकबर के कानों में भी पड़ी। अकबर ने उनके पास दूत भेजा। दूत ने निवेदन किया—'सम्राट आपके साथ साक्षात्कार करने के बड़े अभिलाषी हैं।' दादू ने धीर कंठ से उत्तर दिया, 'भाई मैं समझ नहीं पाता कि मेरे साथ दिल्ली के बादशाह के साक्षात्कार करने का क्या प्रयोजन हो सकता है? मुझे लेकर इतनी खींचातानी क्यों? मेरे लिए तो जाना संभव नहीं है।'

दूत ने लौट कर सम्राट को यह बात बताई। सम्राट नें कहा, 'इस महासाधक के संग इस तरह की बात कर तुमने भला नहीं किया। तुम पुनः वहाँ जाकर निवेदन करो कि भगवत-प्रसंग-लब्ध अकबर आपके दर्शन की प्रार्थना करते हैं। कब और कहाँ भेंट होगी, आप दया कर बतायें।' दूत ने दुबारा सम्राट की प्रार्थना से दादू को अवगत कराया। दादू बोले, 'ऐश्वर्यमय दिल्ली जाकर मिलने से सम्राट उन्हें ठीक तरह पहचान नहीं सकेंगे। फिर उन्हें भी कम असुविधा नहीं होगी। उस भीड़ और आडम्बर में अपने को खोज पाना कठिन होगा।' 'अकबर ने इसके उत्तर में कहलाया, 'राजधानी के मायावी वातावरण में आपको बुलाऊँ, ऐसा मूढ़ मैं नहीं। सागर से एक पात्र जल लाकर सागर का रूप मैं देख सकूँगा? उत्तराखण्ड की एक शिला लाकर ही हिमालय की महिमा क्या समझूँगा? मैं आपके अपने निजस्व परिवेश में, भक्त-साधकों के केंद्रस्थल में ही आपके दर्शन करने आता, किन्तु मेरा दुर्भाग्य कि मैं इस देश का सम्राट हूँ। मेरे आपके यहाँ जाने से बावेला मच जाएगा। आपकी शांति में बाधा पड़ेगी और आपका साधना-स्थल अशांत हो उठेगा। आपके या मुझे किसी को भी स्वस्ति नहीं मिलेगी।' अंत में तय हुआ कि दादू और सम्राट का साक्षात्कार फतेहपुर सिकरी के निकट एक निर्जन प्रांतर में होगा।

अकबर ने उस निर्जन स्थान में डेरा डाल दिया जहाँ दादू पहले से ही उपस्थित था। अकबर के साथ प्रकाण्ड पण्डित भी थे। अकबर ने प्रश्न करना शुरू किया। पूछा—'महात्मन् इस ब्रह्माण्ड-सृष्टि का क्रम क्या है? अल्लाह ने पहले किस वस्तु का सृजन किया? आकाश, वायु जल अथवा भूमि को?'

दादू ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—'मेरे प्रभु की शक्ति को सीमित क्यों कर रहे हैं सम्राट? सर्वशक्ति के जो आधार हैं उनके लिए कौन आगे कौन पीछे का प्रश्न ही क्यों उठता है?'

एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोई।
आगे पीछे तौ करै, जे बलहीना होई॥

अर्थात् मेरे प्रभु इतने समर्थ हैं कि वे एक आनंद-ध्वनि से ही समस्त सृष्टि का एक साथ सृजन कर सकते हैं। आगे-पीछे तैयारी करने का प्रश्न तो उनके साथ उठता है जो बलहीन हो।

अकबर का अन्य सवाल था, 'साधारण लोगों की धारणा है कि संत कबीर अपनी साधना के द्वारा अध्यात्म-तत्व का जो कुछ मक्खन था, मथकर ले गये। इस कथन का अर्थ क्या है?

दादू यद्यपि कबीर को गुरु की तरह मानते थे फिर भी इस प्रश्न ने उद्वेलित कर दिया। वे बोले, 'कोई कितना बड़ा साधक क्यों न हो, इस भगवत्-रस-सागर को कौन उलीच कर खाली कर सका है? यह केवल संकीर्ण चित्त की कल्पना है। यद्यपि कबीर मेरे गुरु स्वरूप हैं फिर भी मैं गुरु के नाम पर अन्याय को प्रश्रय नहीं दे सकूँगा। अपने गुरु को लाठी बनाकर दूसरे का माथा फोड़ने जाना—यह तो अपने ही गुरु का घोर अपमान है।'

दादू के ज्ञान से चकित एक पण्डित ने प्रश्न किया, 'दादू! तुम्हारा शास्त्र कौन है? साधना की पद्धति और मंत्र क्या है?'

दादू ने कहा, 'अपने इस काया-महल में ही मैं नमाज पढ़ता हूँ। वहाँ कोई जन-प्राणी नहीं आ सकता। मन की माला पर मेरा निरंतर जप चलता है। इसी से स्वामी का मन तुष्ट रहता है। चित्त-सागर में मेरा स्नान और 'वजू' चलता है। फिर निर्मल अंतर को बिछाकर, अपने प्रभु की वंदना करता हूँ। उसके चरणों में अपने को अर्पित कर देता हूँ।' सम्राट विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से इस सिद्ध पुरुष की ओर देखते रहे।

दादू के शिष्यों के मुताबिक सम्राट और दादू के बीच यह संवाद चालीस दिनों तक चला।

अंबर में रहते हुए भी दादू कभी अंबर नरेश राजा भगवंतदास से मिलने नहीं गए। राजा का अहं जाग उठा। वह स्वयं दादू की कुटिया पर आए। पूछा, 'आप कितने दिनों से रह रहे हैं यहाँ?'

'बहुत वर्षों से रहता हूँ।'

'आपको तो कभी देखा नहीं?'

दादू ने कोई उत्तर नहीं दिया।

दादू की दो लड़कियां विवाह योग्य हो गई थीं। राजा ने पूछा, 'इन लड़कियों का विवाह की उम्र क्या बीत नहीं रही है ?'

'लड़कियों ने अध्यात्म जीवन को ही गले लगा लिया है। साधन-भजन में ही वे लीन हैं। 'जो पति बर्‌यो कबीर जी, सो करि बर्‌यो निचाहि।'—कबीर ने जिसे पतिरूप में वरण किया था, कन्याओं ने उसे ही पतिरूप में ग्रहण कर लिया है।' दादू ने सविनय उत्तर दिया।

राजा चले गए किन्तु दादू ने कुछ दिनों बाद अंबर त्याग दिया। मारवाड़, बीकानेर, कल्याणपुर आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए नारायणा में डेरा जमा दिया।

दादू की साधना का पथ है सहज पंथ। भौतिक एवं शाश्वत जीवन के बीच सहज योग-सूत्र की स्थापना ही इसकी परिपूर्णता और सार्थकता है। इसीलिए उन्होंने कहा है—'नदी के समान एक संग ही प्रतिदिन की साधना और शाश्वत साधना के भीतर अपने को ढाल लो। व्यर्थ ही संसार के कर्तव्य को बाधा देकर अस्वाभाविकता का बेड़ा न खड़ा करो। एक ही साथ अपनी सेवा द्वारा दोनों वाद वालों को तृप्त करो, फिर सहज योग के आनंद से उद्वेलित हो महासागर में जाकर मिलन के आनंद का उपभोग करो। भक्त साधक के जीवन में नदी का धर्म और द्वैत-साधना ही विकसित हो उठे।' किन्तु दादू के इस मत से सभी शिष्य सहमत नहीं हुए। बहुत से ऐसे थे जो साधना के लिए संसार को त्याग देना चाहते थे। दादू पंथी नागा संन्यासियों की संख्या भी काफी थी जो परवर्ती काल में उत्तर भारत में प्रभावी हुए।

दादू ने अपने भक्तिगीतों के दो संग्रह-ग्रंथों की रचना का अपने शिष्यों को निर्देश दिया। उनके हिन्दू शिष्य जगन्नाथजी और मुस्लिम शिष्य रज्जबजी ने क्रमशः 'गुण गज्जनामा' तथा 'सर्वांगी' नामक दो संकलन किए। इनमें मरमी साधना के पदों और संगीत का समावेश है। अन्य सम्प्रदायों के भक्तिसाधकों की रचनाएँ भी इसमें संग्रहीत हैं।

दादू की साधना के मुख्य रूप से दो सूत्र हैं—ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-विरह। यह प्रेम और विरह ही चरम सत्य है। क्योंकि मनुष्य की आत्मसत्ता तो परम प्रभु की ही सृष्टि है और परम प्रभु के रस-सिंचन से ही वह जीवंत है। प्रभु के लिए भक्त जैसे रोता फिरता है—भक्त के लिए भी हमारे प्रभु वैसे ही व्याकुल, विरह-विधुर नहीं ? प्रियतम का प्रेमाकर्षण ही तो मानव-साधना के रस-सागर को अविरत उद्वेलित करता रहता है।

हां भाई,
म्हारो लागी राम वरागी

तजा नहीं जाई।
प्रेम बिथा करत उर अन्तर
बिसरि सुख नहीं पाई
जोगिन है फिरूँगी विदेश
जिउ की तपन मिटाई।
दादू को स्वामी है रे उदासी
घर सुख रहा किमि जाई।

दादू की प्रेम-साधना में नाम-जप का स्थान बहुत ऊँचा है। वह कहते हैं—पहले नाम-श्रवण होता है, फिर नाम में रस उपजता है, इसके बाद हृदय में नाम-ज्ञान ध्वनित होता है, फिर मन मगन होता है और प्रति रोम-कूप में भक्ति और प्रेम-रस उफनता है। उनके 'सहज-पंथ' ने भक्त और साधक के सम्मुख सहज तीर्थ का पथ खोल दिया था—'सहज समर्पण सुमिरन सेवा, तिरबेनी तट संगम सवरा।' सहज आत्मसमर्पण, स्मरण और सेवा के द्वारा ही इस पुण्यत्रिवेणी पर साधक पहुँचने में समर्थ होता है। दादू ने काया के मध्य कायाहीन का और सीमा के मध्य परम असीम का दर्शन पाया था। उन्होंने कहा है—'मैंने त्रिकुटी का तीर काया के अंतर में ही पाया है। प्रभु ने सहज ही स्वयं को प्रकाशित किया और सारे शरीर में परिव्याप्त हो गए। काया के भीतर ही पाया उस निराकार को। अपनी काया के अंदर ही मैंने पाया उनकी असीम-अनाहत वंशी-ध्वनि को। शून्य-मण्डल में विराजित हो उन्होंने अपने को सुप्रकट किया, काया के अभ्यंतर ही दर्शन किया देवों के देव का। प्रभु मेरे अलख और अनिर्वचनीय हैं।'

प्रेम-साधना की सार्थकता ने दादू की सत्ता को पूर्ण कर ऊपर उठा दिया है। बहिरंग जीवन पर एक यवनिका गिरती जा रही है। अंतर्लोक में चल रहा है—अविराम आनंद-रसपान। वह अब मौन हो गए हैं। इससे हैरान भक्त-प्रवर वाजिद खां पूछते हैं—आप पहले भक्तों और मुमुक्ष साधकों का साथ देते थे। उनके साथ आनंद-चर्चा चलाते थे। इस समय केवल भगवान में लीन रहते हैं। क्या भगवान के बनाए गए मनुष्यों का कोई मूल्य नहीं?' दादू ने उत्तर दिया—'निश्चय ही है भाई! मनुष्य सच्चे रूप में जो पाना चाहता है, वह उसे भगवान के माध्यम से ही पाना होगा।' परम-प्रभु के मध्य ही तो सब विधृत हैं। इसी से उसके भीतर से देखना ही तो यथार्थ देखना है, उसे पाना ही तो यथार्थ पाना है—

देव निरंजन पूजिए, सब आयो उस माहिं।
डाल पात फल फूल सब दादू न्यारे माहिं॥

मन के गोपन मणि-कोण में प्रेममय स्वामी के साथ दादू का रास-रंग और अनिर्वचनीय लीला-विलास सदा ही चलता रहता है। श्यामसुंदर वनमाली दादू

के वनमाली के रूप में अवतीर्ण हो जाते हैं। अंतर्कुंज में रास का यह रस-माधुर्य, यह परम-अमृत त्याग देना क्या दादू चाहेंगे? इसी से उन्होंने अपनी आकुल आकांक्षा प्रभु के ज्ञापित की 'जुगि-जुगि तारनहार जुगि-जुगि दरशन देखिये, जुगि-जुगि मंगलचार जुगि-जुगि दादू भाइये!'

दादू अपने जीवन के अंतिम काल में रसोज्वल साधना के दीर्घ पथ को पार कर पहुँच गए थे। राजस्थान के छोटे से जनपद नारायणा में वास कर रहे थे। महासमाधि का परमलग्न आ गया था। भक्तगण भी जान गए थे। तमाम साधु-महात्मा भी आ गए थे। ऐसे समय दादू अपने हर्षोत्फुल्ल कंठ से बोल उठे—

दादू मम सिर मोटे भाग, साधूं का दर्शन किया।
कहा करै जमकाल, राम रसाइन भर दिया॥

अर्थात् कैसा है मेरा सौभाग्य! इन साधुओं का दर्शन किया। राम-रसायन पान किया, अब काल-यम मेरा क्या करेंगे?

१६०३ खृष्टाब्द, ज्येष्ठमास, कृष्णाष्टमी, शनिवार—दादू ने शरीर त्याग दिया। उस समय वे उनसठ साल के थे। नारायणा में आज भी दादू की 'गद्दी' परम श्रद्धा से पूजी जाती है। उनके ग्रंथ के सम्मुख देश-देशांतर के साधक और भक्तगण अपनी प्रणति अर्पित करते हैं।

●

७

गुरु नानकदेव

नानक को एक दिन पंडित जी पढ़ा रहे थे। नानक ने पूछा, 'यह अनाप-शनाप पढ़ कर क्या होगा पण्डित जी? इतनी देर परमेश्वर का नाम लेता तो अच्छा था। जब एक दिन इस दुनिया से जाना ही है तो यह मगज-पच्ची क्यों?' पण्डित जी विस्मय से नानक को देखने लगे थे।

नानक के पिता कालू बेदी पुत्र के इस तरह की बातों से चिन्तित रहने लगे थे। जंगल-जंगल घूमना, पढ़ाई-लिखाई से दूर भागना, एकांत में घण्टों बैठे रहना—कालू के लिए चिंता का विषय थे। वह अपने एकमात्र पुत्र से कैसे अपेक्षा कर सकते थे कि उनके न रहने पर नानक खेती-बारी सम्हाल लेगा?

नानक का उपनयन संस्कार था। गाँव के सारे लोग भोज में शरीक होने के लिए आए थे। नानक ने उपनयन मण्डप में ही पण्डित जी से पूछ लिया, 'पण्डित जी, ऐसे शास्त्रीय अनुष्ठानों से क्या लाभ? यह यज्ञ-सूत पहनाकर नश्वर शरीर को अमर तो नहीं किया जा सकता? इस सूत की माला से प्रभु के नाम की माला ज्यादा भली है। कल्याण की शक्ति तो उसी में है।'

पिता नानक की बात सुनकर बहुत दुखी हुए। वे मण्डप से उठकर चले गए।

अंततः नानक के व्यवहार से क्षुब्ध होकर कालू बेदी ने नानक के घर से बाहर जाने पर पाबंदी लगा दी। भजन गाने से मना कर दिया। यह बात जब मुसलमान जमींदार जिन्हें लोग राय बुलाड़ कहते थे, को पता लगी तो उन्होंने कालू को बुलवाया। भरे गले से बोले, 'कालू यह क्या सुना है मैंने? क्या नानक जैसे मासूम बच्चे को डंडे से पीटना कोई समझदारी की बात हो सकती है? अचानक कैसी सनक सवार हो गई है, तुम पर!'

'अब सहा नहीं जाता हुजूर!' कालू ने कहा, 'उस छोकरे ने मुझे मुसीबत में डाल दिया है। न पढ़ता है, न लिखता है। न कोई काम, न धंधा। बस जंगल में भटकता रहता है। बस गीत गुनगुनाता रहता है। खाने-पीने की सुध भी नहीं रहती। लगता है, किसी काम लायक नहीं रहेगा।'

'सुनो, कालू, तुम्हारे लड़के के चेहरे से लगता है कि वह सामान्य लड़का नहीं, खुदा का खास बन्दा है। उसे लीक में जोतने की तुम्हारी कोशिश कामयाब नहीं होगी।'

कालू को कुछ कहते नहीं बना। उन्होंने तय कर लिया कि अब वह नानक पर सख्ती नहीं करेंगे। जो उसके भाग्य में होगा, बनेगा।

नानक का जन्म सन् 1469 ईस्वी के बैसाख मास में लाहौर से लगभग 30 किलोमीटर दूर गुजरांवाला जिले के तालवंडी गाँव में हुआ था।

वह समय भारत में मुस्लिम शासन का पूर्वमध्यकाल था। दिल्ली के तख्त पर सुल्तान बहलोल लोदी बैठा था। उसके शासनकाल में हिन्दू जनता पर मुस्लिम जुल्म पराकाष्ठा पर था। लेकिन तालवंडी गाँव और उसके आसपास का इलाका लगभग शांत था।

कुछ सालों के बाद नानक की बहन नानकी की शादी धूम-धाम से हो गई। अब माँ तृप्ता ने घर का सूनापन दूर करने के लिए नानक का विवाह करने का निश्चय किया। नानक का विरोध काम नहीं आया। अंततः महज चौदह की उम्र में गुरुदासपुर जिले के बाताला नामक गाँव की एक रूपवती, सुशील तथा गुणवती कन्या सुलक्षणी से नानक का विवाह हो गया। लेकिन इससे नानक की दिनचर्या में कोई अंतर नहीं आया।

नानक फारसी पढ़ लेंगे तो उन्हें अच्छी नौकरी मिल जाएगी—जमींदार की इस सलाह पर पिता कालू ने बेटे को फारसी पढ़ने के लिए मौलवी रूकनउल-उद्दीन के चटसार में भेज दिया। थोड़े ही समय में नानक ने फारसी की बहुत सी आयतें सीख लीं। मौलवी साहब नानक की प्रगति से भौंचक और प्रसन्न थे। कभी-कभी जब नानक सवालों के जवाब में सादे पन्नों पर स्वरचित भजनों की पंक्तियाँ लिख दिया करते, तभी दुखी हो जाते मौलवी साहब। एक दिन नानक ने मौलवी साहब के चटसार को हमेशा के लिए छोड़ दिया। इससे पिता कालू बहुत ही क्षुब्ध और कुपित हो गए। उन्होंने नानक को खेती के काम में लगा दिया।

एक दिन नानक भैसें चराने सीवान में गए। भैसें विशाल चरागाह में चरने लगीं और स्वयं एक एकांत स्थान देखकर ध्यानमग्न हो गए। पता नहीं कब नींद आ गई। देर तक घर नहीं वापस हुए। इधर भैंसें चरागाह से सटे हुए भट्ट जी के खेत में आराम से चर रहीं थीं। धुंधला होने पर भट्ट जी खेत देखने आए तो अपने खेत में भैंसों को चरते हुए देखकर आग बबूला हो गए। वे नानक को जोर-जोर से डाँटने-फटकारने लगे। शोर सुन कर कुछ और किसान वहाँ आ गए। उन लोगों ने भट्टजी को जमींदार से शिकायत करने की सलाह दी। भट्टजी जमींदार के यहाँ गए और अपनी फसल को नुकसान पहुँचाने की शिकायत करके दहाड़ मार कर रोने लगे। जमींदार ने खेत का मौका मुआयना करने के लिए अपने आदमी दौड़ाए। लोगों ने आकर देखा कि खेत में एक तिनका भी नहीं चरा गया है। पूरी फसल सही-सलामत है। लोग इस चमत्कार को देख कर भौंचक रह गए।

इसकी चर्चा दूर-दूर तक फैलने में देर नहीं लगी। नानक के पिता कालू ने भी चैन की सांस ली, नहीं तो पता नहीं कितना दण्ड भरना पड़ता भट्टजी को।

खेत में बुआई हो रही थी। पिता जमींदार के यहाँ जा रहे थे। नानक को सहेज गए कि वह बुआई हो जाने के बाद खेत की रखवाली करें ताकि पक्षी दाने न चुगने पाएँ। नानक खेत पर गए। पेड़ की छाया में बैठ गए। बुआई होने के बाद तोतों का झुण्ड खेत में उतर गया। जंगल से ढेर सारे तीतर भी आ गए। पक्षी खेत में डाले गए बीज चुगने लगे। यह देखकर नानक की खुशी का ठिकाना न रहा। वह स्वरचित भजन की दो पंक्तियाँ गाते हुए नाचने लगे—

'रामजी की चिरई, रामजी का खेत,
खाले चिरई, भर-भर पेट।'

जब पिताजी जमींदार के यहाँ से खेत पर लौटे तो यह दृश्य देखकर दंग रह गए। उन्होंने पक्षियों को उड़ाया और नानक को कसकर डाँट पिलाई। इसकी शिकायत पत्नी से भी की। उन्होंने भी नानक को फटकार लगाई। पक्षियों के बीज चुगने के बावजूद उस खेत में इतना अनाज पैदा हुआ जितना कभी नहीं हुआ था।

कई दिनों से घर के एक कोने में गुमसुम बैठे नानक को देखकर माँ की चिंता बढ़ी। डरते-डरते वह बेटे के पास गईं। कही, 'इस तरह भोजन-शयन की सुध-बुध खोकर घर के कोने में बैठे रहोगे तो लोग क्या कहेंगे? तुम्हारी दुल्हन के मन में कितनी वेदना हो रही होगी, इसका अंदाज है तुम्हें? जरा लोक-रीति का भी ध्यान रखो बेटा।'

माँ के कथनों का उत्तर नानक ने एक भजन के जरिए दिया।

फिर पिता ने समझाया, 'बेटा मुझसे गृहस्थी का बोझ अब नहीं सम्हल रहा है। इस तरह बैठे रहने से कैसे गुजारा होगा?'

उत्तर में नानक ने गीत की ये पंक्तियाँ सुनाईं—

'एहु तनु धरती, बीच बीज करमन बहु
बरिसे सारिंग पानी
मन किसानु हरि हिरदे जमायो
उपजे फसलि निरबानी।'

इस शरीर रूपी धरती में विविध सत्कर्म के बीज उन्होंने बो दिये हैं। राम अपनी कृपा-दृष्टि से इस खेत को जब सींच देते हैं तो निर्वाण की फसल आप ही उपज आती है। मन, किसान की तरह हृदय में हरि-नाम का बीज जमा रखे—इतना ही आवश्यक है इसके लिए।

'अच्छा, यह सब रहने दो, यह बताओ कि व्यवसाय में मन लगेगा?' पिता ने पूछा।

'कारबार की चिन्ता ही तो कर रहा हूँ पिताजी। प्रभु ने नाम की जो पूँजी दे रखी है, उसका हिसाब क्या दूँगा? यह चिंता ही तो मुझे बेचैन किए रहती है।' नानक ने उत्तर दिया।

नानक की बात सुनकर कालू हताश हो गए। उन्होंने समझ लिया कि यह लड़का कुछ करने वाला नहीं है।

एक बार नानक ने कई दिनों तक अन्न-जल नहीं ग्रहण किया। घर के लोग घबरा गए। जमींदार के यहाँ से हकीम बुलाए गए। हकीम ने नाड़ी देखी। घर वालों से कुछ प्रश्न किया। इसी दौरान नानक ने एक भजन गुनगुना कर सबको स्तब्ध कर दिया। भजन का भावार्थ था—'यदि भव रोग की कोई औषधि है तो मात्र प्रभु नाम का स्मरण। इस व्याधि से नानक पीड़ित है उसका इलाज हकीम के बस की बात नहीं है।'

अंत में हकीम ने घरवालों से कहा, 'इस युवक को कोई रोग नहीं है। यह तो सिर्फ अल्ला के प्यार का मरीज है। यह मर्ज किसी खुदकिस्मत को ही नसीब होता है। धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।'

हकीम की बात से घर वालों की चिंता दूर हो गई।

पिता के कहने पर नानक एक बार गाँव में बिसातबाने की दुकान खोलने के लिए थोक मण्डी से सामान लेने एक नौकर बाला के साथ चले। मण्डी से लगभग एक कोस पहले पेड़ों के झुरमुट में विश्राम के लिए रूके। जब चलने को हुए तो दिगम्बर साधुओं का एक झुण्ड आ पहुँचा। सभी नग्न, जटाजूट बढ़ाए हुए। नानक ने एक-एक कर सभी के चरणों में दण्डवत किया। बाला ने भी दुहराया। नानक की श्रद्धा-भक्ति से साधु गण प्रसन्न हुए। इस जमात के मुखिया वृद्ध साधु ने नानक को अनेक आध्यात्मिक प्रसंग सुनाए। युवा साधु खाना पकाने के लिए सूखी टहनियां तोड़ने बाग में निकल पड़े।

नानक ने जटाधारी साधु से विनयपूर्वक पूछा, 'बाबा, आप लोगों के पास न अन्न है, न कोई पात्र। फिर खाना कैसे बनाएँगे?'

बाबा ने कहा, 'प्रभु का प्रेम जब संसार का त्याग आवश्यक कर देता है तब प्रभु पर भरोसा करने के अलावा कुछ भी आवश्यक नहीं रह जाता। यह बात महात्मा कबीरदास हमें बता गए हैं'—

'साधु गाँठ न बाँधई, उदर समाता लेइ,
आगे पाछे हरि खड़ा, जब मांगे तब देइ।'

'मान लो प्रभु आज हमें भूखा ही रखना चाहते हों तो उनकी मर्जी भी कबूल है। हम उनकी मर्जी के खिलाफ तकरार क्यों करें। भोजन की सामग्री वह नहीं भेजेंगे तो नहीं बनेगा। किन्तु वो धूनी तो रमेगी ही। लकड़ियाँ उसी में काम आएँगी।'

नानक ने पिता द्वारा व्यापार के लिए दी गई पूँजी साधु को विनम्रतापूर्वक दे दी। बाला बाजार से भोजन की सारी सामग्री ले आया। साधुओं को भोजन कराकर नानक को अति तृप्ति हुई। वे बाला के साथ अपने घर लौट आए।

पिता ने जब बाला से यह बात सुनी तो आग बबूला हो गए। वह नानक को मारने के लिए उद्यत हुए लेकिन गाँव वालों के हस्तक्षेप से बच गए। यह बात जब जमींदार को पता लगी तो उसने कालू और नानक को बुलवा भेजा। नानक के मासूम चेहरे को देखकर जमींदार की आँखों से आँसू बह निकले। उन्होंने नानक को छाती से लगा लिया और उन्हें पास में बैठने की जगह दी। अलग हटकर बैठे दुखी और निराश कालू से जमींदार ने कहा, 'साधुओं को भोजन कराकर नानक ने कोई गलत काम तो नहीं किया। इसने तो अपने देश और धर्म के सुसंस्कारों को ही प्रमाणित किया है। कालू जी, तुम्हारा पुत्र निर्दोष ही नहीं ज्ञानी, गुणी और प्रशंसनीय भी है। इसे सांसारिक हानि-लाभ का ज्ञान नहीं लेकिन अच्छे-बुरे का विचार करने में इसने कोई गलती नहीं की। जिसे अल्लाह ने जिस काम के लिए पैदा किया है, उससे दूसरा काम ले लेना संभव नहीं होता। नानक व्यापार से मुनाफा कमाने के लिए पैदा नहीं हुआ है। अल्लाह ने इसे कहीं बड़े काम के लिए पैदा किया है। तुम्हारे कुछ रूपये नानक ने खर्च कर दिए। वे रूपये मैं तुम्हें अभी दे देता हूँ। मगर इस निरपराधी बालक पर हाथ उठाकर तुम अल्लाह की नजर में गुनहगार हो गए हो। आगे ऐसी गलती मत करना कालू जी।'

थोड़ा ना-नुकुर के बाद जमींदार से पैसे लेकर कालू नानक के साथ घर आ गए।

लेकिन अगले ही दिन एक और घटना घट गई। नानक स्नान करके आ रहे थे। रास्ते में एक अवधूत भीख मांग रहा था। उसने नानक के सामने भी हाथ फैलाया। नानक ने पीतल का लोटा और शादी में मिली सोने की अंगूठी उसे दे दी।

घर खाली हाथ लौटे तो पिता ने पूछा। नानक ने सही-सही बात उन्हें बता दी। पिता का धैर्य जवाब दे गया। उन्होंने नानक को घर छोड़ देने का हुक्म दे दिया। नानक की बहन नानकी को जब यह बात मालूम हुई तो उसने नानक को अपने घर सुल्तानपुर बुला लिया। नानक सुल्तानपुर आ गए। उनके साथ उनका भृत्य बाला भी था। नानकी के पति जयराम की उन दिनों सुल्तानपुर के नवाब के दरबार में बहुत इज्जत थी। उनके प्रयास से नानक को सरकारी सरबदराह महकमे में नौकरी मिल गई। विभाग में नानक की साख जम गई।

जयराम के घर साधुओं का जमावड़ा लगा रहता था। हमेशा भण्डारे जैसी स्थिति रहती थी। यह बात कुछ मुसलमान कर्मचारियों को बुरी लगती थी।

उन्होंने नवाब से शिकायत की, 'जयराम के घर पर काफिर भिखारियों की भीड़ लगी रहती है। हमें शक है कि खाने-पीने की चीजें मालगोदाम से ले जाई जा रही हैं। दोनों साले-बहनोई हमारी नजर के सामने सरकारी दौलत को पानी की तरह बहाकर लूट मचाते रहें, यह तकलीफदेह है। इस लूट का पता लगाने के लिए मालगोदाम की जांच बाहर के हिसाबनवीशों से कराई जाय।'

नवाब ने जांच का हुक्म दे दिया और दूसरे ही दिन हिसाबनवीशों का एक दल मालगोदाम पर पहुँच गया। इधर जांच होती रही, उधर नानक 'तेरा-तेरा' बुदबुदाते बैठे रहे। शाम तक जांच चलती रही। मालगोदाम का हिसाब-किताब बिल्कुल ठीक पाया गया। जांचकर्ताओं ने नवाब से नानक की दक्षता की प्रशंसा की। नवाब ने नानक को दरबार में बुलाकर सम्मानित किया। उस समय भी नानक मन में 'तेरा-तेरा' का जाप करते रहे।

पंजाबी में तेरा का अर्थ होता है तेरह लेकिन नानक के तेरा का अर्थ था—प्रभु सब कुछ तुम्हारा है। मेरा कुछ नहीं है—'जा कछु है सो तेरा।'

कुछ दिनों बाद नानक की पत्नी सुलक्षिणी भी सुल्तानपुर आ गई। उसने दो पुत्रों को जन्म दिया—श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र। पंजाब के सिखों में वे सिरीचाँद और लक्ष्मी चाँद के नाम से जाने गए।

सुल्तानपुर में नानक कई वर्ष तक रहे। इस दौरान उनके कई मित्र भी सुल्तानपुर आ गए। नानक ने सभी को सरकारी नौकरी दिलवाई। इनमें एक मर्दाना नामक मुसलमान भी था। वह नानक के साथ ही रहता था और परिवार का अंग बन गया था।

सुल्तानपुर के समीप रोहरी नामक विशाल जंगल था। नानक कभी-कभी उस जंगल में घुस जाते। रात भर साधना चलती, सुबह आते। एक बार उस जंगल में गए तो तीन दिनों तक बाहर नहीं आए। कहते हैं तीन दिनों के उसी एकांतवास में नानक को पूर्ण आत्मसिद्धि का मार्ग मिल गया। संभवतः उसी अवधि में उन पर उस गुरु-भक्ति की भी कृपा-दृष्टि हुई, जिसकी महिमा का गान वे कृतज्ञतापूर्वक करते हैं, किन्तु जिसके रूप-नाम के संबंध में निरन्तर मौन हैं। तीन दिनों के उसी अज्ञातवास में नानक को प्रभु का आदेश प्राप्त हुआ था—'नानक! अब मैं निरंतर तुम्हारे अन्तर में रहूँगा। तुम निर्लिप्त भक्त पुरुष के रूप में जगत् के अशेष प्राणियों के उद्धार का कार्य शुरू कर दो।'

नानक ने नवाब की नौकरी छोड़ दी।

नानक के वैराग्य की संभावना ने पत्नी सुलखनी को दुख के अपार सागर में डुबो दिया। वह प्रायः रोती रहतीं। एक दिन नानक ने कहा, 'रो मत सुलखनी!' नानक पत्नी के पास जाकर बोले, 'अपने व्यक्तिगत योग-क्षेम को

इतनी कल्पित महिमा मत दो कि जगत् के शेष प्राणियों के प्रति अपने कर्तव्य का सर्वथा विस्मरण हो जाय। अपने चारो ओर फैले विश्व की दीन-दशा पर विचार करोगी तो अपने सुख-दुख की चिन्ता की तुच्छता स्वतः प्रकट हो जाएगी। सामाज में हिंसा, कलह, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, अहंकार और उत्पात का जो वातावरण है, क्या उसके निवारण के प्रति तुम्हारा कोई दायित्व नहीं है? ऐसा मत समझो कि मैं लौट कर वापस कभी न आऊँगा। मेरा व्रत ही है, गृहस्थ बना रह कर जगत् की और प्रभु की आराधना करते रहने का। इसलिए अभी तो तुम मुझे प्रसन्नातापूर्वक इस घर से विदा कर दो।'

पत्नी को आश्वासन देकर नानक उसी दिन देशांतर-भ्रमण के लिए निकल पड़े। उनके साथ उनका बाल सखा मर्दाना भी था। सत्संग के दौरान लोग पूछते—'आप किस पंथ के साधु हैं? आपका मठ कहां है?'

'हमारा किसी पंथ से कोई विरोध नहीं। इसलिए हम किसी मठ या पंथ की ओर से नहीं आए। आप पंथ का आग्रह रखते हों तो हमे निरंकारी कह सकते हैं। हम उस निराकार की आराधना करते हैं जिसने इस अखिल सृष्टि के नाम—रूपों को आकार दिया है और जिसका एक आकार यह असीम विश्व भी है। निरहंकार होकर उस निराकार की उपासना करने वालों को निरंकारी कहकर जानना-पहचानना आपके लिए आसान होगा।'

नानक कहते—'ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान जैसे भेद हमारे लिए निरर्थक हैं। हम यह भी देख रहे हैं कि इस मुल्क में जैसे हिन्दू अब सच्चे हिन्दू नहीं रहे, वैसे मुसलमान भी सच्चे मुसलमान नहीं रह गए। हम सच्चे मुसलमानों को उतना ही प्यार करते हैं, जितना कि सच्चे हिन्दुओं को।'

मुसलमानों के बारे में नानक के इस कथन की शिकायत काजी से की गई। काजी काफी क्रोधित हुआ। उसने नवाब से शिकायत की—'नानक हिन्दू खानदान में पैदा हुआ, उसे इस्लाम के बारे में बोलने का हक नहीं है। उसे जल्दी रोका नहीं गया तो इलाके में बदगुमानी फैल सकती है।'

नवाब ने नानक को दरबार में हाजिर किए जाने का हुक्म दिया। नानक यथासमय दरबार में हाजिर हुए। नवाब ने पूछा—'तुम कहते फिरते हो कि इस मुल्क में कोई भी मुसलमान सच्चा मुसलमान नहीं है। तो क्या तुम्हारी नजर में मैं भी सच्चा मुसलमान नहीं हूँ?'

'नवाब साहब, मैं किसी को तकलीफ पहुँचाने के लिए कुछ नहीं कहता', नानक ने संजीदगी से कहा, 'पर सचाई के तकाजे पर जायज बात कहने में मुझे कोई हिचक नहीं होती। इसके साथ-साथ यह भी सच है कि मुझे किसी मजहब के खिलाफ कोई द्वेष नहीं है। धार्मिक भेदभाव को मैं अनुचित मानता हूँ। मेरी

नजर में वही मुसलमान सच्चा मुसलमान है जो सत्य के प्रति श्रद्धालु होगा और रसूल के उपदेश जिसके आचरण के ही सहारे उदाहृत और प्रचारित हुए होंगे। जिसके जीवन में इस्लाम की अच्छाइयाँ सचाइयों की शक्ल ले चुकी हैं, उसे सच्चा मुसलमान मानने में मुझे एतराज नहीं है। सच्चा मुसलमान निरभिमान, निर्लोभ, निष्काम और शान्त प्रकृति का व्यक्ति होता है। वह स्वयं भी निर्भय होता है और दूसरों की निर्भयता में भी खलल नहीं पहुँचाता। उसकी जिन्दगी अल्लाह की मर्जी के हवाले रहती है और वह अल्लह-तलाह के ही जमाल को देखता रहता है। मुझे बड़ी खुशी होगी अगर हमारे नवाब साहब और उनके काजी साहब को पूरी सच्चाई के साथ इसका एहसास हो रहा हो कि वे सचमुच सच्चे मुसलमान हैं।'

नवाब साहब को महसूस हुआ कि नानक के इस कथन से कुफ्र का कोई सरोकार नहीं है। दरबारियों की भी यही राय थी।

नमाज का समय हो रहा था। नवाब ने परिहास के स्वर में कहा—'तुम हिन्दू और मुसलमान में कोई फर्क नहीं करते। इसलिए मंदिर और मस्जिद में भी फर्क नहीं करते होगे। क्या हमारे साथ नमाज अदा करने मस्जिद चल सकोगे?'

नानक ने कहा—'मैं मंदिर में जाता हूँ तो मस्जिद में भी जरुर जा सकता हूँ। नमाज में आपके साथ शरीक होना मुझे मंजूर है।' नानक नवाब के साथ मस्जिद चले गए।

मस्जिद से वापस आते हुए काजी ने नवाब से कहा,—'नानक मस्जिद में चुपचाप हाथ बाँधे खड़ा रहा। इसने नमाज अदा करने में हमारा अनुकरण नहीं किया।'

नवाब ने इस सम्बंध में जिज्ञासा प्रकट की तो नानक बोले, 'काजी साहब ने ठीक ही फर्माया है। मुझे यह देखकर दुख हुआ कि नमाज के वक्त भी काजी साहब का ध्यान अल्लाह पर न रहा। ये उस समय अपने अस्तबल की उस नई घोड़ी के बारे में सोचते रहे, जिसने दो दिन पहले एक बछड़े को जन्म दिया था। ऐसी हालत में इनका अनुकरण करना मेरे लिए मुमकिन नहीं हो सका।'

काजी यह सचाई सुनकर लज्जित हो गया।

नवाब बोले, 'नानक लेकिन मेरा ध्यान तो घोड़े-घोड़ी की तरफ न था। इसलिए तुम मेरा अनुकरण तो कर सकते थे?'

थोड़ी देर चुप रहने के बाद नानक ने कहा, 'गुस्ताखी माफ हो हुजूर, नमाज के समय नवाब साहब का चित्त कन्दहार के पास-पड़ोस में विचरण कर रहा था। प्रचुर रुपयों के साथ नवाब साहब ने जिस कर्मचारी को कन्दहार भेजा है, उसे तो घोड़ा खरीदने की ही जिम्मेदारी नवाब साहब ने दी थी। इस तरह उस आदमी को दिए गए रुपयों की चिन्ता में घोड़े की चिन्ता भी शरीक हो गई होगी।'

नवाब विस्मित और लज्जित थे। उन्होंने कहा, 'नानक, तुम सचमुच ऊँचे दरजे के फकीर हो। तभी तो दूसरों के दिल की बात जान जाते हो। तुमसे मिलकर आज मुझे खुशकिस्मती नसीब हुई। तुम अपने पंथ का प्रचार करने के लिए इस इलाके में आजाद हो। तुम्हें रोक-टोक करने वाले को मैं कड़ी से कड़ी सजा दूँगा।'

नवाब ने नानक को आदरपूर्वक विदा किया।

नानक घूमते-फिरते सईदपुर नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक गरीब बढ़ई लालो ने विनयपूर्वक आतिथ्य ग्रहण करने के लिए निमंत्रण दिया जिसे नानक ने स्वीकार कर लिया। लालो और उसकी पत्नी नानक की सेवा में तन-मन-धन से लगी रहतीं। नानक काफी दिन वहाँ रह गए। इस गाँव से थोड़ी ही दूर पठान सूबेदार के दीवान मलिक मागों की कोठी थी। मागो का रूझान कुछ अध्यात्म की ओर हो गया था। वे साधु-फकीरों के लिए लंगर चलाया करते थे जिसमें सुस्वादु व्यंजन परोसे जाते थे। जब उन्होंने सुना कि लालो बढ़ई के यहाँ एक सिद्ध संत रूके हैं तो उनको ईर्ष्या हुई। हमारे यहाँ लंगर में एक दिन भी नहीं आया वह साधु। लालो के यहाँ रूखी-सूखी रोटी पर टिका हुआ है। मागो ने एक दिन नानक को बुला भेजा।

नानक गए तो मागो ने गर्वोक्ति में पूछा, 'हमारे यहाँ लंगर में आप शामिल क्यों नहीं हुए?'

नानक को हँसी आ गई। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। इस चुप्पी ने मागो को और उत्तेजित कर दिया।

बात आगे बढ़ी तो नानक ने विनम्रतापूर्वक कहा, 'आप अपने लंगर के मालपुए और लालो की सूखी रोटी का अंतर अपनी आंखों से खुद देख लें।'

मागो ने सुस्वादु व्यंजन से भरी थाल मँगाई और नानक के सामने रख दिया। लालो के घर से दो सूखी रोटियाँ मँगाई गईं।

नानक ने पहले रोटियाँ हाथ में लीं और दोनों हथेलियों के बीच में रखकर जोर से गारा। उसमें से दूध की धार बह निकली। फिर नानक ने थाल में से मालपुए उठाए। उसे गारा तो रक्त की धारा बह निकली। फिर नानक ने मागो की ओर देखते हुए कहा—'गरीब लालो की रोटी और आपके मालपुए का फर्क आपकी नजरों के सामने जाहिर हो चुका है। इससे ही आप समझ गए होंगे कि मालपुओं की उपेक्षा करके लालो के घर की सूखी रोटियाँ क्यों खाता रहा।'

नानक की लीला देखकर मागो का घमंड चूर-चूर हो गया। उसने हाथ जोड़कर अपने उद्धार की प्रार्थना की।

इस बीच नानक के इस चमत्कार की चर्चा चारो ओर फैल गई। उनके यहाँ भक्तों का हुजूम उमड़ पड़ा। नानक ने वह स्थान छोड़ देना उचित समझा और मर्दाना तथा बाला के साथ अन्यत्र चल दिए।

दूसरे दिन रात में नानक दस्यु सरदार सुजन सिंह के यहाँ रुके। सुजन का कार्य था अतिथियों को लूटना और मार डालना। बगल के कमरे में कुछ सौदागर रुके थे। रात में सुजन के गोल के दस्युओं की फुसफुसाहट सुनकर नानक की नींद टूट गई। उन्होंने मर्दाना और बाला के साथ भजन गाना शुरू कर दिया। भजन सुनकर सुजन का हृदय विचलित होने लगा। वह आकर नानक के चरणों पर गिर पड़ा। डाकू जीवन त्यागकर नानक का शिष्य बन गया। उसे निष्ठावान सिख के रूप में आज भी स्मरण किया जाता है। उसने अपना सर्वस्व विसर्जित कर उसी स्थान पर एक धर्मशाला बनवाया जहाँ नानक से उसका साक्षात्कार हुआ। वह धर्मशाला प्रथम सिख धर्मशाला के रूप में आज भी स्मरण किया जाता है।

अनेक दिनों की पदयात्रा के पश्चात नानक पंजाब के बटाला नामक स्थान में पहुँचे। रावी के तट पर एक बरगद के वृक्ष के नीचे डेरा जमा दिया। सतसंग चलने लगा। नानक की शोहरत दूर-दूर तक पहुँची। इलाके का दबंग कड़ोरिया को यह सहन नहीं हुआ। वह नानक को सबक सिखाने के लिए घोड़े पर सवार होकर चल पड़ा। उसके साथ सशस्त्र रक्षकों की एक टुकड़ी भी थी। लेकिन रास्ते में एक दुर्घटना हो गई। कड़ोरिया के घोड़े के पैर में मोच आ गई और वह उन्हें लिए-दिए एक खाईं में गिर पड़ा। कड़ोरिया दो दिनों तक बिस्तर पर पड़े रहे।

कुछ दिनों बाद कड़ोरिया फिर बटाला के लिए चल पड़े। जब वे रास्ते में थे तभी उनकी आँखों की रोशनी चली गई। बड़े मुश्किल से उनके अनुचर उन्हें महल में लाए। महल में आते ही उनकी नेत्र-ज्योति वापस आ गई। इस घटना ने कड़ोरिया साहब को आश्चर्य में डाल दिया।

कड़ोरिया घमण्डी व्यक्ति थे। बटाला जाने की धुन उन पर सवार थी। वे फिर घोड़े पर सवार होकर चले। महल के हाते से बाहर होते ही उनकी और घोड़े दोनों की नेत्र-ज्योति चली गई। वृद्ध भृत्य उन्हें महल के भीतर ले गया। फिर आश्चर्यजनक ढंग से उनकी ज्योति भी लौट आई और घोड़े की भी। वृद्ध भृत्य को असली माजरा समझते देर नहीं लगी। वह दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला, 'गुस्ताखी माफ हो हुजूर! मुझे लोगों ने बताया है कि हुजूर बटालावाले निरंकारी बाबा से मिलने का इरादा लेकर जब-जब विदा होते हैं, तब-तब कोई न कोई अवूझ बाधा उपस्थित हो जाती है। निरंकारी बाबा के महात्म्य की चर्चा घर-घर फैली है। वे महान् सिद्ध पुरुष हैं। ऐसे लोगों से मिलने के लिए पैदल जाने की परम्परा इस मुल्क में है। लाव-लश्कर के साथ जाना साधु बाबा को मंजूर नहीं है। इन विघ्न-बाधाओं के रूप में शायद उनकी वही नामंजूरी जाहिर हो रही है।'

कड़ोरिया के मन में भृत्य की बातें जम गईं। दूसरे दिन वे पैदल ही बटाला पहुँचे। जाते ही नानक देव के चरणों पर गिर पड़े। नानक देव ने उन्हें उठा कर हृदय से लगा लिया और आशीर्वचन दिए।

कड़ोरिया ने विनयपूर्वक कहा, 'महाशय, आपने मेरा दंभ तोड़कर मेरे ऊपर असीम कृपा की है। मैं इस जमींदारी में रहने वाले हर व्यक्ति को अपनी प्रजा मान कर अपनी शान दिखाता रहा। मैं समझ गया हूँ कि अपने को सबसे बड़ा दिखाने की इच्छा सबसे बड़ा पाप है। परमेश्वर इस पाप को सह नहीं पाते। मेरी प्रार्थना है कि इस ऊर्वर भूमि का स्वामित्व अपने धर्म-प्रचार की केन्द्र भूमि स्थापित करने के निमित्त, कृपया आप स्वीकार करें। यहाँ, आपके आश्रम के चारो ओर आपके भक्त-परिजनों की बस्तियाँ बसें और कर्तार के भजन-पूजन का वातावरण तैयार हो—यह मेरी हार्दिक इच्छा है।'

नानक देव ने जमींदार की प्रार्थना स्वीकार की और उस भूभाग का नाम कर्तारपुर रख दिया। धीरे-धीरे यहाँ एक भरा-पूरा गाँव बस गया। नानक पंथी लोगों का जमावड़ा हो गया। तालवंडी गाँव के नानक के परिवार के लोग भी यही आकर बस गए।

नानक देव को अचानक तालवंडी की याद आई। वे अपने दोनों शिष्यों मर्दाना और बाला के साथ वहाँ पहुँच गए। जमींदार अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे! लेकिन नानक देव के आगमन का समाचार सुनकर उनके चेहरे पर प्रसन्नता के भाव उभर आए। उन्होंने नानकदेव की ओर वात्सल्यस्निग्ध दृष्टि से देखा। नानक देव राय बुलाड़ के बालों को सहलाने लगे। बोलें, 'मैं आ गया हुजूर। आपकी बुलाहट का मौन संदेश मेरे पास पहुँच गया था। मैं आपकी आज्ञा मान कर बीच पथ से लौट आया हूँ।'

राय बुलाड़ ने बोलने की चेष्टा की किंतु आवाज उनके मुँह से नहीं फूटी। शायद उनके प्राण नानक की ही प्रतीक्षा में अटके थे। नानक देव को देखने के लिए वृद्ध-जर्जर राय बुलाड़ ने जब आँखें खोलीं तो वे खुली की खुली रह गईं। आँसू बहते-बहते रुक गए और पुतलियाँ ठहर कर बुझ गईं। राय बुलाड़ ने नानक की ओर देखते-देखते आखिरी साँस छोड़ी। मृत्यु का दृश्य इतना उज्ज्वल, शांतिमय और विश्रुब्ध उल्लास का चित्र अपने पीछे छोड़ जा सकता है, इसका एहसास, इसके पहले किसी को शायद ही हुआ होगा।

राय बुलाड़ के अंतिम क्रिया की तैयारी हो ही रही थी कि नानक देव अपने शिष्यों के साथ वहाँ से चल दिए। कर्तारपुर से काफी आगे निकल आए। राजपथ से थोड़ा ही हटकर कोई मेला लगा था। यह मेला—'सदा सुहागन' के नाम से प्रसिद्ध फकीर साहब के जन्मदिन पर लगा था। वे अपने को प्रेममय प्रभु

की अन्यतम प्रेमिका मानकर आध्यात्मिक साधना करते-करते सिद्धावस्था प्राप्त कर चुके हैं। यह वृत्तांत सुनकर नानक देव के भीतर भी फकीर के दर्शन की इच्छा जाग्रत हुई। वे मेला स्थल पर पहुँचे तो उन्हें बताया गया—'अभी तो फकीर साहब किसी को दर्शन नहीं देते। अभी उन्हें फुर्सत नहीं है। इस समय वे अपने प्रियतम अल्लाह के साथ प्रेमालाप में मगन हैं। लोग पता नहीं कब से उनके दर्शन की प्रतीक्षा में खड़े हैं।'

नानक देव ने कहा—'इस रहस्य का तो पता लगाओ कि आखिर फकीर साहब इतनी देर से क्या कर रहे हैं?' कह कर नानक देव आम्रकुंज की छाया में जाकर बैठ गए।

परन्तु नानक देव की इस बात से एक साहसी और ताकतवर व्यक्ति ने एक ही धक्के में किवाड़ खोल दिया। उसके पीछे अन्य लोग भी फकीर साहब के एकांत प्रकोष्ठ में पैठ गए। दर्शनार्थियों की भीड़ ने जो कुछ देखा वह लज्जाजनक था। वे कई तरुणियों के साथ रासरंग में लीन थे। उग्र दर्शनार्थियों की भीड़ ने खूब तोड़फोड़ मचाई। फकीर साहब और उनके खास चेले मौका पाकर पलायित हो गए। थोड़ी देर बाद फकीर नानक देव की शरण में आया। उसके पीछे आक्रोशित भीड़ भी थी। नानक देव ने उसे समझा-बुझाकर शांत किया। फकीर को साधना का गूढ़ रहस्य बताया। आगे चलकर यही फकीर सिद्ध महापुरुष के रूप में पंजाब की जनता में प्रसिद्ध हुआ।

कर्तारपुर के पास-पड़ोस में नानक देव के कई मुसलमान शिष्य थे। एक भक्त की सलाह पर नानक देव हज यात्रा पर चल पड़े। सारी बाधाओं को पार कर वे एक दिन मक्का पहुँच गए। थकान इतनी कि मस्जिद की दहलीज पर बैठे-बैठे ही सो गए। पता नहीं कब किसने कहाँ ले जाकर लिटा दिया। उन्हें इतना भी पता नहीं कि उनके पाँव काबा शरीफ की तरफ फैले हैं। नमाज पढ़ने के समय हाजियों की भीड़ मस्जिद की ओर उमड़ पड़ी। एक व्यक्ति की नजर नानक देव पर पड़ी। वह गुस्से से चीख उठा—'कौन हो जी तुम? काबे की तरफ पाँव पसारे खर्राटे भर रहे हो?'

नमाजी की आवाज नानक देव के कानों से टकाराई लेकिन उनकी आँखें खुल नहीं रही थीं। अर्धनिद्रा में ही वे बोले, 'भइया इस समय मैं बहुत थका हूँ। हाथ-पावों पर मेरा बस नहीं है। मेरा पैर कृपा करके उधर कर दो जिधर काबा न हो।'

गुस्से से तमतमाया हुआ नमाजी नानक देव का पैर घुमाने लगा। लेकिन उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिधर नानक का पैर घुमाता उधर ही काबा का रुख हो जाता।

इस अजनबी दरवेश के चमत्कार को चारो ओर फैलने में देर नहीं लगी। मक्का शरीफ के मुसलमानों की भीड़ लग गई। अतः वे उसी रात मक्का शरीफ को छोड़कर मदीने की तरफ चल पड़े। मदीने के बाद बगदाद होते हुए कर्तारपुर आ गए।

उस समय बाबर पंजाब तक आ पहुँचा था। गुजरांवाला जिले का जो अंचल आजकल अमीनाबाद के नाम से मशहूर है वह उन दिनों सईदपुर के नाम से जाना जाता था। वहाँ मुगल फौजों का आंतक चरम पर था। नानक देव अपने बाल सखा मर्दाना के साथ एक दिन उस इलाके से गुजर रहे थे। बाबरी फौज ने दोनों को गिरफ्तार कर लिया। नानक देव पीत वस्त्र पहने हुऐ थे। सिर पर पगड़ी थी, गले में रुद्राक्ष की माला। मुगल सैनिक दोनों लोगों को घसीटते हुए सेनाध्यक्ष मीर खां के पास ले गए। मीर खां ने उन लोगों को कैदखाने में डालने का हुक्म दे दिया साथ ही हिदायत दी कि दोनों से मशक्कत कराई जाय।

कैदखाना वहाँ से दो कोस दूर था। नानक के सिर पर गट्ठरों का बोझ डाला गया और मर्दाना को सईसी के काम में जोत दिया गया। नानक देव सिर पर भारी बोझ उठाकर भी प्रसन्न थे। मगर मर्दाना मायूस था। घोड़े की रास थामे-थामे उसकी कलाई ऐंठ गई थी।

नानक देव ने मर्दाना से भजन सुनाने को कहा। मर्दाना ने कहा, गुरु जी, हाथ से घोड़े की रास थामे हूँ, तंबूरा कैसे बजा सकता हूँ ?

'अरे, अकाल पुरुष की महिमा में अब तक भी तुझे पक्का विश्वास नहीं हुआ ? घोड़ा छोड़ दे, तंबूरा बजा।'

मर्दाना ने घोड़े की रास छोड़ दी और तंबूरा बजाकर भजन गाने लगा। नानक देव ने भी भजन गाना शुरू किया।

नानक देव के साथ चल रही कैदियों की टोली और सैनिकों की टुकड़ी भजन सुनकर मुग्ध हो गई। इसी बीच मुगल जमादार ने देखा कि नानक देव के सिर की गठरी उनके सिर से ऊपर उठी हुई अधर में लटकी उनके साथ-साथ चल रही थी। मर्दाना का घोड़ा भी चुपचाप उसके पीछे-पीछे चल रहा था।

किसी सैनिक के जरिए यह बात बाबर तक पहुँची। बाबर नानक देव से मिलने जेल पहुँचा। उस समय नानक देव चक्की चला रहे थे। उनका एक हाथ चक्की के हत्थे पर था दूसरे से अनाज डालते जा रहे थे। मगर बाबर को लगा कि चक्की अपने आप चल रही है। बाबर से न रहा गया। उसने नानक देव के पास जाकर सलाम अर्ज किया—'मैं आपकी क्या खिदमत करूँ ?'

ध्यानावस्थित नानक देव की अर्ध-मुँदी आँखों को बाबर की उपस्थिति का पता न चला। इसी बीच मीर खां भी अधिकारियों के साथ आ पहुँचा। नानक देव

ने बाबर से निवेदन किया—'जहाँपनाह आप तो खुराशान पर शासन कर चुके हैं। फिर हिन्दुस्तान पर इस तरह आफत ढाना जरूरी क्यों हुआ? आज जो हाल लोदी खानदान के सुल्तान की है, क्या मुगल खानदान के बादशाह की भी वही हालत नहीं हो सकती? फिर हत्या, आगजनी और लूटपाट से क्या लाभ? परमेश्वर की महिमा की अनदेखी कर आप द्वारा अपने क्षणिक प्रताप का दिखावा बेकार का धंधा ही तो है।'

'जो हुआ सो हुआ, अब मुझे बताएँ कि आगे क्या किया जाय?' थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद बाबर ने कहा।

'यदि मुमकिन हो तो सईदपुर के कैदियों को जहाँपनाह रिहा करा दें।'

बाबर ने तुरंत सभी कैदियों को मुक्त करने का आदेश दिया और अपने पड़ाव की ओर वापस हुआ।

वादे के मुताबिक दूसरे ही दिन नानक देव बाबर के पड़ाव पर पहुँचे और उसे नशे की लत से मुक्ति दिलाई।

नानक देव पंजाब में घूमते-घूमते एक ऊँचे टीले के पास पहुँचे। मर्दाना प्यास से व्याकुल था। लोगों ने बताया कि उस टीले पर एक पुराना कुँआ है। पास की कुटिया में सिद्ध फकीर बली कवन्दरी रहते हैं। मर्दाना उस टीले पर पहुँचे। फकीर से पानी मांगा और यह बताया कि नीचे नानक देव खड़े हैं। इतना सुनते ही फकीर आग बबूला हो गए। नानक देव को इतना घमण्ड कि नीचे खड़े हैं और मुझसे मिलने नहीं आए। उन्होंने मर्दाना को झिड़का, 'जा अपने गुरु से माँग पानी। उसे मामूली तमीज से भी कोई वास्ता नहीं है।'

मर्दाना ने टीले से उतरकर नानक देव को किस्सा सुनाया। नानकदेव ने कहा, 'जोर से बोल सत श्री अकाल। फिर जहाँ खड़ा है वहाँ की मिट्टी हाथ से थोड़ा-थोड़ा हटा दे। फकीर का कुआं टीले से उतर कर स्वयं आ जाएगा तुम्हारे पास। जी भर पानी पी लेना और एक चुल्लू फकीर को भी दे आना।' सिख ग्रंथ 'जनमसाथी' में लिखा है कि मर्दाना ने नानक देव की आज्ञा का पालन किया और जमीन के नीचे से जल स्रोत फूट पड़ा। उसने अपनी प्यास बुझा ली। उधर टीले का कुआं सूखने लगा। फकीर कुपित होकर टीले से नानक देव को गालियाँ देने लगा। उसने एक पत्थर भी नानक देव की ओर लुढ़काया। जिसे उन्होंने बीच में ही रोक दिया। यह देख फकीर का गुस्सा और घमण्ड दोनों ही कपूर की तरह उड़ गये। वह टीले से नीचे उतर कर नानक देव के चरणों पर श्रद्धावनत हो गया और उनकी कृपा पाकर धन्य हुआ।

जनश्रुति है कि अपने पंजे से जिस पाषाण को नानक देव ने रोका था उस पर पंजा का निशान आज भी है। जो जल स्रोत फूटा था उसने झरने का रूप ले

लिया और आज भी विद्यमान है। हसन अब्दुल नामक वह स्थान पंजा-साहब के नाम से पवित्र तीर्थस्थल बन गया है।

पैदल यात्रा करते-करते नानक देव पुरी धाम पहुँचे। सायंकाल की पूजा-आरती हो रही थी। नानक देव ने मंदिर में प्रवेश किया और भावावेश में बेसुध हो गए। फिर ध्यानावस्थित हुए। तभी एक पण्डे का ध्यान नानक देव की ओर गया। आरती के रसमय माहौल में नानक देव का ध्यानावस्थित होना उसे बुरा लगा और वह उन्हें फटकारने लगा। नानक देव ने उत्तर दिया—'भैया, हमारे जगन्नाथ देव काष्ठ-मूर्ति के कठघरे में कैद नहीं हैं। वे सर्वव्यापक जगन्नियंता हैं। वे अपनी महिमा से आप ही दीप्त हैं। उन्हें आरती से ज्योति उधार लेने की जरूरत नहीं होती। हाँ, श्रद्धालुओं के श्रद्धा-दीपों को भी वे कृपापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं।' फिर नानक देव भजन गाने लगे। भजन की मधुर ध्वनि जिसके कान में पड़ी वही आकर वहां खड़ा हो गया। नानक देव भक्तों से घिर गए। बाद में लोग जान पाए कि भजन गाने वाला कोई साधारण साधु नहीं है। ये हैं—श्री नानक देव महाराज।

नानक देव पुरी से मथुरा आ गए। एक दिन वे यमुना स्नान करने के बाद अपने पड़ाव की ओर लौट रहे थे कि रास्ते में एक भिखारी मिला। वह जन्मांध था। भिखारी की आश्रयहीनता की कथा सुनकर नानक देव की आंखें सजल हो गईं। उसके पास जाकर बोले—'भैया, गुजरने वाले राहगीरों के सहारे नहीं, परमेश्वर की करुणा के सहारे जीवन का शेष दिन व्यतीत करो। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में रहकर भगवान के भजन गाते रहो। वे सबका भार उठाते हैं, तुम्हारा भार क्यों न उठाएंगे।' इतना कह कर नानक देव ने कमण्डल से एक चुल्लू जल हाथ में लिया और अंधे की आंखों पर छिड़का। अंधा आनन्द-विह्वल होकर चीख उठा—'क्या आप ही नानक महाप्रभु हैं? रात स्वप्न में मुझे यही बताया गया था। मेरी आंखों की रोशनी सचमुच लौट आई है। स्वप्न में मुझे बताया गया था कि गुरु नानक देव की कृपा से मेरा अंधापन दूर हो जाएगा।'

कहते हैं नानकदेव की कृपा से वह व्यक्ति सनाथ हो गया। मथुरावासियों के बीच नानक देव के प्रथम शिष्य के रूप में उसे असीम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

कालांतर में गुरु नानक देव मानवता की उज्ज्वल करुणा की मूर्ति के रूप में ही लोक द्वारा पूजे गए। आने वाली सदियों में भी सर्वजन-सुलभ लोक-गुरु के रूप में पूजे जाते रहेंगे। जपुजी के प्रारंभ में ही उन्होंने अपने प्रतिपाद्य का सार-भाग अंकित कर दिया है—

'एक ओम् सति नामु करता
पुरुखु निरभउ निरवैरु'
अकाल मूरति अजून
सैभं गुरु प्रसादि।

तत्वज्ञान की उपलब्धि का प्रधान उपाय है नाम-जप। गुरुमुखी होकर, गुरु के प्रति सतत उन्मुख और आश्रित रहकर-गुरु की कृपा पर भरोसा रखना, उपासक को निर्भय, निर्वेर कर देता है। 'जपुजी' में वे कहते हैं—

'सुनि ए जोग जुगुति कौ भेद
सुनि ए सासत सिमरित वेद
नानक जगता सदा बिगासु
सुनि ए दूख पाप का नासु'।

नानक देव ने एक रूपक के माध्यम से कहा है—

'इन्द्रिय-संयम है भाती और धैर्य है सुनार। मति, शुभ-बुद्धि और संकल्प है निहाई। वेद अर्थात् शास्त्रों का अनुशासन है हथौड़ा। परमेश्वर के प्रति समय चाकरी की तत्परता है साहागा और तपस्या है आंच। प्रेम ही वह भाण्ड है, जहाँ सोने को रखकर, इच्छित आकार की योग्यता दी जाती है। सत्य टकसाल है और गुरु का उपदेश है सुवर्णरस। सदगुरु की कृपा जिसे प्राप्त है, वही इन सभी युक्तियों को साध कर अलंकार तैयार कर सकता है। नानक कहते हैं, कृपामय अकाल पुरुष, जिसे भी चाहें, कृत कृत्य कर सकते हैं।'

बाह्याडंम्बरों की निरर्थकता पर गुरु नानक देव कहते हैं—'लाख-लाख बार शौच-क्रिया करते रहने मात्र से कोई पवित्र नहीं हो जाता। मौन अवलम्बन कर लेने से ही चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। ऐसा मानना भी निरर्थक है। सप्तपुरी का ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने पर भी विषय-वासना से पीछा नहीं छूटता। कोई भी चतुराई इस लोक से परे जाकर जीवात्मा को मदद नहीं पहुँचाती। जब प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार चाहते हो, तो माया के ये आवरण किस काम आयेंगे?' वे कहते हैं—

'सतनाम का निरंतर जप करते-करते अज्ञान-तिमिरांध जीव की दृष्टि माया के आवरण को छिन-भिन्न कर सकने की योग्यता अर्जित कर लेती है। गुरु की कृपा का प्रकाश, ऐसी स्वच्छ दृष्टि के ही काम आता है। फिर जब माया के सारे आवरण-तंतु एक-एक कर क्षीण हो जाते हैं, तो तिमिरान्ध का उच्छेद मुहुर्त मात्र में संभव होकर, अकाल-पुरुष का साक्षात्कार होता है।'

नानक देव के अन्यतम शिष्यों में थे—भाई बुआ, अंगद और श्रीचन्द। भाई बुआ का नामकरण किया गया रामदास। श्रीचन्द गुरुदेव के पुत्र भी थे और शिष्य भी। पश्चिमोत्तर भारत में इन सभी को परमसिद्ध महापुरुष के रूप में जाना जाता रहा।

'अमृतसर' के बारे में एक जनश्रुति है। एकदिन गुरु अंगद नानक देव के साथ उस अंचल में पर्यटन कर रहे थे। भयंकर गर्मी थी। गुरु अंगद देव प्यास से

व्याकुल हो उठे। दूर-दूर तक जल का पता नहीं। ताल-तलैया सब सूख गए थे। नानक देव ने उन्हें अगले पड़ाव पर जल का आश्वासन दिया। अगले पड़ाव पर एक तालाब था। नानक देव पास के एक वृक्ष के छाये में रुक गए और गुरु अंगद तालाब के पास पहुँचे। लेकिन उसमें पानी नहीं था। अंगद ने वापस लौट कर गुरु नानक देव को जानकारी दी। नानकदेव ने कहा, 'अंगद तुम्हें अभी तक न अपने गुरु के वचन पर श्रद्धा हुई है, न अकाल-पुरुष की महिमा का भान हो पाया है। तालाब में जल अवश्य रहा होगा, तुमने खोजने में ही गलती कर दी। एक बार प्रभु का नाम लेकर जाओ और तालाब में जल खोजो।'

अंगद दुबारा उस तालाब पर पहुँचे और 'वाहे गुरु' की हाँक लगाई। इस बार उन्होंने देखा कि तालाब निर्मल जल से लबालब भरा हुआ है। अंगद ने जी भर कर जल ग्रहण किया और लौट कर सारी बात गुरु नानक देव को बताई। यह बात पूरे अंचल में फैल गई। श्रद्धालु उस तालाब पर जुटने लगे। उन्होंने उस तालाब का नाम रखा—'अमरित सागर'। बाद में चौथे सिख गुरु गुरु रामदास ने उस तालाब को वृहद रूप दिया और उसके बीच में एक सुन्दर मंदिर का निर्माण किया। सिख-समाज ने उस मंदिर को 'दरबार-साहिब' के नाम से पुकारा और तालाब का नाम पड़ा—'अमृतसर'।

नानक देव की अपने प्रिय शिष्य अंगद पर असीम कृपा थी। इससे दूसरे शिष्यों, खासतौर पर उनके पुत्र श्रीचन्द के मन में ईर्ष्या का भाव पैदा हो गया था। इसे समाप्त करने के लिए नानक देव ने एक लीला रची। वे अपने शिष्यों के साथ रावी नदी के तट पर बैठे थे। उफनती रावी में एक शव बहता हुआ आ रहा था जो इतना सड़ गया था कि उससे भयानक दुर्गन्ध उठ रही थी। नानक देव ने अपने शिष्यों से कहा—'मेरी आज्ञा मानकर उस शव को तुममें से कोई खाना चाहेगा?'

सभी शिष्य निरूत्तर थे। अपने नाक को कपड़े से ढँक रखी थी क्योंकि दुर्गन्ध असहनीय थी। तभी अंगद देव हाथ जोड़कर सामने आए और बोले, 'गुरुजी, मैं आज्ञा का पालन करूँगा।'

नानक देव की आज्ञा पाकर अंगद देव पानी में उतर गए और लाश को खींचकर किनारे लाए। वह उसे खाने जा रहे थे तभी नानक देव ने मुस्कराते हुए कहा, 'जिसे तुम लोगों ने लाश समझ कर अखाद्य समझ लिया था वह चंदन का काष्टखण्ड प्रतीत होता है। उसकी सुगंध से तो यही लगता है। अंगद, तुम यह काष्ट खाकर पेट मत खराब करो, लौट आओ।'

चंदन से सचमुच सुगंध निकल रही थी। सभी आश्चर्यचकित थे कि जिस शव से असह्य दुर्गंध निकल रही थी, वह सुगंधित चंदन में कैसे बदल गया।

इसके बाद गुरु नानक देव अपने शिष्य अंगद का गुरु-पद पर अभिषेक किया। उन्हें गुरु अंगद के रूप में स्वस्ति दी और भूमि पर लेटकर साष्टांग दण्डवत किया। शिष्य मंडली ने भी उनका अनुसरण किया।

इसके बाद नानक देव रावी नदी के तट पर स्थित उसी बरगद के पेड़ के नीचे जाकर ध्यानस्थ हो गए जिसके नीचे वे करतारपुर नामक बस्ती बसाने के पहले बैठा करते थे।

धीरे-धीरे सभी तरफ यह दारुण खबर फैल गई कि नानक देव ने शरीर-त्याग करने का निश्चय कर लिया है। पूरी जनता शोकाकुल हो उठी और एक दिन गुरुनानक देव ने शरीर-त्याग कर दिया। जनता में यह खबर बिजली की तरह फैल गई। लोग अंतिम दर्शन के लिए उमड़े। नानक देव का नश्वर शरीर वस्त्राच्छादित पड़ा हुआ था।

इसी बीच एक नई समस्या खड़ी हो गई। पंजाब के कुछ मुसलमान भक्त नानक देव को मुसलमान मानते थे। इस संदर्भ में उनकी मक्का-मदीना की यात्रा का हवाला देते थे। वे नानक देव के शव को मुस्लिम रीति से दफनाना चाहते थे। दूसरी तरफ हिन्दू भक्त उनकी अंतिम क्रिया हिन्दू रीति से करना चाहते थे। दोनों तरफ से लोग हथियारों से लैस होकर जुटने लगे। खून-खराबा होने के आसार दिखाई देने लगे।

तभी कुछ श्रद्धालुओं ने गुरुदेव के अंतिम दर्शन के लिए शव पर से वस्त्र हटाने की माँग कर दी। उनके माँग पर जब वस्त्र हटाया गया तो शव के स्थान पर रंग-बिरंगे फूलों की राशि पड़ी मिली। सवाल उठा कि क्या शव अन्तर्ध्यान हो गया है ? कुछ लोगों का मानना था कि गुरु का शरीर सुगंधित फूलों में बदल गया है।

जिस गुरुदेव ने जीवनपर्यन्त हिन्दुओं और मुसलमानों को एकता का पाठ पढ़ाया, मरने के बाद उन्हें कैसे मंजूर हो सकता था कि उनके शव के लिए हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ें।

●

८

सिद्ध जयकृष्ण दास

ब्रजभूमि के घने वन में परम सिद्ध जयकृष्ण दास एक कुटी में तपस्यारत थे, बिल्कुल निस्पंद। तभी एक रमणी की चीखें उनके कानों में पड़ीं और उनका ध्यान भंग हो गया। मौका मिलते ही रमणी ने इस तपस्वी के मुँह में दुग्ध उड़ेल दी। जयकृष्ण की आंखों से अश्रुधारा बहने लगी। वे बोले, 'भाई, यह क्या कर डाला तुमने? प्रभु के दुर्लभ लीला-दर्शन में तुमने व्यवधान डाल दिया।'

'सुनो बाबाजी, श्रीमती का मुझे आदेश है कि इस काम्य वन में कोई आकर तथा उपवासी रहकर कोई शरीर-पात न करे। देह के आधार की रक्षा करके ही तो उससे भजन सिद्धि के परम रस को पकड़ सकेंगे। तू चिन्ता न कर, राधा-कृष्ण की नित्य लीला का तू जीवन भर दर्शन कर सकेगा। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।' कहती हुई वह रमणी कुटिया से निकली और जंगल में खो गई।

क्लांत जयकृष्ण दास लेट गए और प्रगाढ़ निद्रा में लीन हो गए। इसी समय उन्होंने स्वप्न में देखा कि ज्योतिर्मण्डल की मध्यवर्तिनी नारी मूर्ति उनकी ओर देखकर स्नेह मधुर हँसी हँस रही है। देवी ने उनसे कहा, 'बाबाजी, उस समय तुम मुझे पहचान नहीं पाए। मैं, वृन्दा देवी हूँ। अब राधारानी की कृपा पाने में तुम्हें अधिक देर नहीं है। तुम्हें यहाँ की साधना में कठोरता की आवश्यकता नहीं है।'

अल्पकाल में ही साधक जयकृष्ण आप्तकाम हो गए। रागानुगा भक्ति उन्हें हस्तगत हो गई। धीरे-धीरे उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। उच्चकोटि के वैष्णव साधक दल उनके चरणों का आश्रय लेने लगे। इनमें उल्लेखनीय थे—श्री गोवर्धनदास और मधुसूदन दास। साधक जयकृष्ण कठोर ब्रह्मचर्य, दैन्य एवं वैराग्य की साधना के उपरांत ब्रजमण्डल के काम्यवन में तपस्यारत थे। अठारहवीं सदी के अंतिम दो चरणों में काम्यवन के सिद्ध बाबा के रूप में वैष्णव समाज में वे विख्यात हो गए।

अठारहवीं सदी के प्रथम दशक में पश्चिम बंगाल के एक वैष्णव-परिवार में जयकृष्ण दास का जन्म हुआ था। पूर्व जन्म के संस्कार एवं घर के वातावरण ने उन्हें बाल्यकाल से ही कृष्णमय बना दिया था। जीवन के उत्तरकाल में उन्हें काम्यवन में इष्टदेव व्रजेन्द्रनन्दन एवं महाभावमयी प्यारी जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

एक बार काम्यवन के विचेल्लीवास नामक एक निर्जन स्थान पर वे भजन साधना में रत थे। उनकी ख्याति सुनकर ढाका से नित्यानंद वंश के एक भक्त वैष्णव नवल गोस्वामी उनकी कुटिया में उपस्थित हुए। उनके पास राधा मदन मोहन का विग्रह भी था। जब गोस्वामी जी लौटने को तैयार हुए तो विग्रह ने यहीं रहकर जयकृष्ण दास की सेवा लेने की इच्छा व्यक्त की। यह सुनकर जयकृष्ण बाबा के आनंद की सीमा न रही। दूसरे ही दिन परम उत्साह से उन्होंने श्री विग्रह के लिए दूसरी कुटिया तैयार कर डाली। अब उनके बंधनहीन एकाकी तपस्यामय जीवन में इष्ट सेवा एवं जन-कल्याण का दौर प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे बाबा जी महाराज के व्यक्तित्व एवं साधना को केन्द्र करके निगूढ़ रागात्मिका भजन की एक वैष्णव-गोष्ठी का गठन हो गया। कुछ ही दिनों बाद एक तरुण वैष्णव साधक बाबाजी के पास आया और वह श्री विग्रह तथा बाबाजी दोनों की सेवाएँ करने लगा।

कुछ दिनों बाद बाबा जी ने तरुण साधक को गुरुप्रणाली लाने के लिए वापस बंगाल भेजा। तरुण वैष्णव जाना नहीं चाहते थे लेकिन बाबा की आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी। वापस होने पर उनका हृदय हाहाकार कर उठा। बाबा जी ने कहा था कि गुरुप्रणाली के बिना श्री विग्रह की सेवा में कठिनाई होगी। लेकिन सौभाग्यवश जब तरुण साधक ट्रेन पकड़ने के लिए हाथरस पहुँचे तो ट्रेन छूट चुकी थी। वे उल्टे पाँव वापस हुए।

इधर बाबा जी चिंतातुर कुटिया के बाहर टहल रहे थे। तरुण साधक को देखकर उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा।

हुआ यह कि तरुण साधक के जाने के बाद वृन्दा देवी ने स्वप्न में दर्शन दिया। बोली, 'तुमने नाहक ही तरुण साधक को उतनी दूर भेज दिया। उसकी गुरुप्रणाली तो श्री विग्रह के सिंहासन के नीचे है। बाबा जयकृष्ण दास ने जब सिंहासन के नीचे देखा तो वास्तव में गुरुप्रणाली वहाँ रखा था। वे चिंतातुर हो उठे।'

तरुण साधक का ट्रेन छूट जाने और उनके वापस लौटने को वह वृन्दा देवी का प्रताप ही मान रहे थे।

बाबा जयकृष्ण दास के बारे में ब्रजमण्डल में नाना जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। प्रसिद्ध वैष्णव साधक और आचार्यगण, बीच-बीच में काम्यवन आकर इन महात्मा से रागानुगा साधक का दिग्दर्शन ले जाते तथा वैष्णवशास्त्रों के निगूढ़ तत्वों की विवेचना इनके श्रीमुख से श्रवण करते। इस दौरान बाबा जी के रोम ही नहीं वरन् सिर के बाल भी प्रेमविकार से कांटों की तरह कड़े हो जाते। एक दिन इस तरह का तत्वविवेचन और भजन-कीर्तन चल रहा था। बाबा ने प्रेम प्रमत्त होकर ऐसा हुंकार भरा कि कुटिया का छप्पर फट गया।

राजा-महाराजाओं का आगमन बाबा को पसंद नहीं था। भरतपुर के महाराज वैष्णव सेवा परायण था। उन्होंने बाबाजी को राज प्रासाद बुलाने की चेष्टा की पर सफल न हुए। फिर खुद वहाँ उपस्थित होने की आज्ञा चाही, वह भी न मिली। एक दिन जब बाबा भिक्षा के लिए निकटवर्ती गाँवों में गए थे, भरतपुर के राजा एक वैष्णव भिखारी के वेश में आकर उनके भजन कुटीर के कोने में चुपचाप बैठ गए। उन्होंने सोचा था कि बाबा जब लौटेंगे तो उनका चरण पकड़ कर विनती करेंगे और कृपा भिक्षा की याचना करेंगे। राजा की यह मनोरथ बाबा से छिपा नहीं रहा। भिक्षापात्र लिए हुए जैसे ही उन्होंने वन में प्रवेश किया ग्रामवासियों से कातर प्रार्थना करने लगे—'भाई लोगों, मेरे भजन कुटीर में आग लग गयी है। तुम सभी दया करके वहाँ जुट जाओ तथा किसी तरह आग बुझा डालो।'

गांव के लोग बाबा की कुटिया की ओर भागे। अग्नि का प्रकोप नहीं था। भरतपुर के राजा दीन वेश में अवश्य बैठ हुए थे। लोगों को समझते देर नहीं लगी कि बाबा ने यह लीला भरतपुर के राजा को दूर रखने के लिए ही रची। राजा भी वैष्णव सेवा परायण थे, इसलिए अपने का अपमानित महसूस नहीं कर रहे थे। कुछ दिनों बाद ये राजा सिद्ध बाबाजी का आशीर्वाद पाकर धन्य हुए।

जीवन के अंतिम दिनों में बाबा जी ने सारे बंधनों का त्याग कर दिया और निगूढ़ प्रेम-साधना के गंभीरतम स्तर में निमन्जित हो गए। इन दिनों गोप बालकों का झुण्ड प्रायः आकर उनकी कुटिया के समक्ष शोरगुल करता, इसीलिए बाबा जी ने वह स्थान त्याग दिया। ग्रामवासियों ने मिलकर और गहन वन में उनकी कुटिया निर्मित की। वहीं बाबा जी एकांत साधना में लीन हो गए।

एक दिन गोप बालकों का झुण्ड कुटिया में आकर शोरगुल करने लगा। बालक पानी मांग रहे थे। बाबा भजन में लीन थे। अंततः बालकों के शोरगुल से उनका ध्यान भंग हुआ। वे कुटिया के बाहर निकले। उन्होंने देखा कि दिव्यकाँतियुक्त चंचल बालकों का दल लूट-पाट कर रहा है। इन पर दृष्टि पड़ते ही बाबा जी का मन शांत और प्रसन्न हो गया। उन्होंने स्नेहपूर्वक प्रश्न किया, 'लाला, तुम लोग यहाँ कहाँ से आए हो? तुम लोगों का नाम क्या है? एक श्यामकाँति बालक ने आगे बढ़कर कहा, 'उसका नाम कन्हैया और बगल में खड़े साथी का नाम बलदेव है।'

बालक चीखे—'बाबा, पहले पानी पिलाओ, प्यास लगी है।'

बाबा ने कमण्डल से पानी लाकर बालकों की प्यास बुझाई। बालक जाते-जाते कह गए—'देखो बाबा जी कल से हम लोगों के लिए शीतल जल और बाल-भोग रख देना।' कहकर बालक जंगल में खो गए।

जयकृष्ण दास को आश्चर्य हुआ। इतनी जल्दी बालक आँखों से ओझल हो गए। जब उन्होंने ध्यान लगाया तो ज्ञात हुआ कि वे श्रीकृष्ण और बलराम थे।

उनके दोनों नेत्रों से आँसू बह निकल पड़े। आर्त होकर वे जमीन पर लोटने लगे। हाय! अपने इष्ट को पहचान क्यों नहीं पाये।

अचानक उनके कानों में देववाणी पड़ी। 'जयकृष्ण, तुम दुखी मत हो। धीरज रखो। कल ही मैं तुम्हारी कुटिया के द्वार पर उपस्थित हूँगा। काफी लम्बी अवधि तक तुम्हारी सेवा-पूजा लूँगा।'

दूसरे दिन प्रात: भजन कुटीर के द्वार पर एक ब्रज माई आकर उपस्थित हुईं। उनके हाथों में एक परम मनोहर श्री गोपाल मूर्ति थी। बोली, 'बाबा जी, यह विग्रह मैं तुम्हें देने के लिए लाई हूँ। मैं बूढ़ी और अशक्त हो चुकी हूँ। आज से तुम्हीं इसका सारा भार लो।'

महाजाग्रत, दिव्य मधुर विग्रह! बाबा जी शंकित हो उठे। कहा, 'माई, प्रभु की उपयुक्त सेवा कर सकूँ ऐसी सामर्थ्य मुझमें कहाँ? गोपाल को दही, दूध तथा छेना नित्य चाहिए। इस कंगाल की कुटिया में वह कहाँ मिलेगा?'

उत्तर मिला, 'उसके लिए तुम्हें क्या चिन्ता है? सेवा के लिए सारी सामग्री तो मैं जुटा दूँगी।'

आनंद से विभोर जयकृष्ण श्री विग्रह को कुटीर में ले गए। उसी रात उन्होंने स्वप्न देखा, विग्रह को हाथ में लेकर जो वृद्धा माई उनके पास आई, वह कोई नहीं, स्वयं वृन्दा जी थीं।

उसके बाद काफी दिन बीत गए। जयकृष्ण बाबा के नश्वर शरीर के त्याग की बेला आ गई। चैत मास की शुक्ल द्वादशी तिथि थी। बसन्त श्री और आनन्द उल्लास प्रेम सिद्ध महासाधक के हृदय को उद्वेलित कर रही थी। रागानुगा भजन के सिद्ध साधक अपने परम प्रासिक आनन्द में लीन थे।

भक्त मण्डली की तथा समर्थ वैष्णव साधकगण चारो ओर खड़े थे। बाबा जी की देह अलौलिक आनन्द के आवेश से थर-थर काँप रही थी। व्याकुल कष्ठ से बाबा जी, बीच-बीच में प्रश्न कर रहे थे—'अरे मेरी घांघरी कहाँ है, ओढना तथा कंचुकी कहाँ है?'

भक्तजनों की आँखें सजल हो गईं। सभी समझ रहे थे कि प्रियमिलन की परम लग्न समुपस्थित है। अभिसार प्रस्तुति की बात कहते-कहते, प्रेमाश्रुओं का ज्वार उपना कर सिद्ध बाबा जी अपने परम अभिसार के मार्ग पर सदा के लिए चले गए।

●

९

शैवाचार्य अप्पर

तमिलनाडु के दक्षिण आर्कट जिला के एक छोटे से गाँव में लगभग 6 शताब्दी पहले एक मेधावी बालक ने जन्म लिया। पिता नैष्ठिक शिवभक्त थे। लेकिन बचपन में बालक अप्पर के माता-पिता स्वर्गवासी हो गए। उसका लालन-पालन बाल विधवा साध्वी बहन ने किया। दीदी ने भक्ति सिद्धि शैव गुरु से दीक्षा ग्रहण की थी। अप्पर ने बहन की देखरेख में स्कूली शिक्षा पूरी की। उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने कांची प्रस्थान किया। वह जैन सम्प्रदाय का गढ़ था। जैन धर्म के साधकों और विद्वानों ने इस तरुण में अपार संभावनाएँ देखी और भाँप लिया कि यह मेधावी बालक कालान्तर में जैन धर्म के आन्दोलन का नेतृत्व करेगा। अप्पर ने राजगुरु से भी जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

तरुण अप्पर एक बार गाँव आए। उनका तर्क-वितर्क दीदी से होता रहता था। दीदी ने एक दिन कहा—'तुम्हारे भीतर ज्ञान का प्रचंड गर्व जाग्रत हो उठा है। जैन पंडितों के शुष्क तर्कवाद से प्रभावित हो तुम जैन मतावलम्बी हो गए हो। हमारे पूर्वज उच्चकोटि के शैव-साधक थे। उनके पथ से आज तुम विमुख हो गए हो।'

कुछ दिनों बाद अप्पर मारात्मक शूल से पीड़ित हो गए। सारे उपचार व्यर्थ हो गए थे। उनकी हालत मरणासन्न हो गई थी। तभी दीदी के गुरु का आगमन हुआ। उनके युग की विभूति एवं महिमा से सभी परिचित थे। गुरु ने अप्पर को देखकर कहा, 'इनके ठीक होने का एक ही उपाय है कि देवाधिदेव शिव से अपने प्राणों की भीख मांगे। उनसे विमुख होने से ही इन विपत्तियों की सृष्टि हुई है।'

शिवमंदिर में जाग्रत शिव-लिंग स्थापित था। रात में चारो ओर अंधकार बिखरा था। मंदिर के भीतरी प्रकोष्ठ में प्रदीप्त प्रदीप के क्षीण आलोक में अप्पर सो रहे थे। स्फुट स्वरों में शिव नाम जप रहे थे। अचानक उन्होंने देखा, एक अलौकिक, स्वर्गीय ज्योति की दीप्ति से मंदिर का समस्त गर्भगृह आलोकित था। उस प्रकाश के साथ ही देवी भगवती का मधुर स्वर सुनाई पड़ा—'वत्स अप्पर! मैं तुमसे अत्यंत प्रसन्न हूँ। सारे रोग विकारों से मुक्त हो तुमने नव-जन्म प्राप्त किया है। तुममें नवीन ईश्वरीय चेतना का आविर्भाव हुआ है।'

देवी के शीतल स्वर के साथ ही अप्पर की वेदना तिरोहित हो चुकी थी। उन्होंने अलौकिक शक्ति के दर्शन किए। एक नूतन चेतना का ज्वार उन्हें अभिभूत कर गया था। स्वर्णिम प्रभात के साथ ही अप्पर का नव जागरण हुआ था। अप्पर शिव वेदी के पास भावाविष्ट हो शिव-महिमा का गान करने लगे। फिर एक देववाणी उनके कानों में पड़ी—'वत्स। तुम्हारे स्तोत्रों की निर्मलता ने मुझे अतीव प्रसन्नता दी है। आज से शिवभक्त तुम्हें तिरुनावक के नाम से जानेंगे। ईश्वर के आशीषपुत्र, वाक्पति के रूप में इस समस्त अंचल में तुम्हारी प्रसिद्धि रहेगी।' अप्पर ने निवेदन किया—'प्रभु! तुम्हारे सेवक के रूप में इस जीवन का उत्सर्ग कर दूँ, तुम्हारे चरणों में इस काया, इस मान-प्राण को उत्सर्जित कर दूँ, तुम्हारी महिमा का ध्यान ही मेरा एकमात्र व्रत हो।'

मंदिर की वह स्वर्गीय ज्योति धारा अन्तर्हित हो उठी थी। दिव्य उत्साह से भर कर अप्पर मंदिर से बाहर आये। देखा, दीदी भावविह्वल हो दौड़ती आ रही हैं। उनकी आंखों से आँसू झर रहे हैं। भाई ने पुनर्जीवन प्राप्त किया है। अपने धर्म की ओर उन्मुख हो गया है।

अप्पर ने कुलगुरु शैवाचार्य से दीक्षा ग्रहण की। फिर अपनी कठोर साधना प्रारंभ की। बाद में गुरु के आदेश से माणिक्यवाचक का शिष्यत्व ग्रहण किया। कुछ वर्षों बाद शैवसाधकों के अन्यतम तीर्थ चिदम्बरम में माणिक्यवाचक ने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। जनश्रुति है कि दिव्य भावावेश में शिव की स्तुति करते-करते ही यह सिद्ध महात्मा चिदम्बरम् में नटराज के विग्रह में लीन हो गये थे। माणिक्यवाचक ने एक स्तवमाला की रचना की थी जो काफी प्रसिद्ध हुई। 'तिरुवाचकम्' उनकी अपूर्व कृति थी।

इष्टदर्शन और मोक्ष की आकांक्षा से अप्पर पुनः अपने गुरु महाराज के पास गए। गुरु महाराज ने कहा—'वत्स, साधना के इस क्रम को अब समाप्त करो।' इसके साथ ही अपने स्वबोध को प्रोत्साहित करो। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें अपने आराध्यदेव का साक्षात्कार सदैव होता रहेगा। इष्ट की कृपा से तुम परममोक्ष को प्रात्त करोगे।

अप्पर स्वरचित स्तोत्रों का पाठ करते रहते। वे एक झोपड़ी में रहते थे। गाँव के सीमांत पर बने शिवमंदिर की सेवा में रत रहते थे। उनके हाथ में एक खुरपी थी जिससे वे हमेशा साफ-सफाई करते रहते थे।

शैव साधक के रूप में अप्पर पूरे तमिल देश में प्रसिद्ध हो गए। आत्म-अहंकार का निष्कासन ही उनका एकमात्र व्रत था। शिव ने उन्हें दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। अप्पर दोनों हाथ जोड़कर बोले, 'प्रभु! दास ने जिस सेवा के बल पर तुम्हारा दुर्लभ साक्षात्कार प्राप्त किया है, वह चिरकाल तक बना रहे बस तुम्हारी इसी कृपा की आकांक्षा है।' स्मित हास्य से शिव ने कहा, 'तथास्तु'।

अब अप्पर के जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया था। उनके पास नित्य सैकड़ों शिवभक्त उपस्थित रहते थे। अप्पर की ख्याति से कांची के जैन साधकों एवं शास्त्राचार्यों के मन में ईर्ष्या जाग उठी। राजपंडित गण जैन धर्मावलम्बी पाण्ड्यराज से शिकायत की—'महाराज! जैनधर्म के विकास के लिए अप्पर ने महान त्याग किया है। वे सरकारी विद्यापीठ में अध्ययन कर उपकृत हुए। अब शैवधर्म का प्रचार कर रहे हैं। उन्हें अविलम्ब दंडित किया जाय अन्यथा राजधर्म का अस्तित्व संकट में पड़ जाएगा।'

राजा क्रोधित हो उठे। उन्होंने अप्पर को शीघ्र ही राजसभा में बुला भेजा। अप्पर राजसभा में उपस्थित हुए और उन्हें दण्ड देने पर विचार होने लगा। अप्पर ने कहा—'महाराज! मैं चिरकाल से सत्य का उपासक हूँ। मैंने जैनधर्म ग्रहण जरुर किया है, परन्तु प्रभु की करुणा के परमतत्व को हृदयंगम कर लिया है। भगवान शिव का साक्षात्कार ही मेरा सायुज्य है। इससे मेरा जीवन धन्य हो उठा है। मुझसे क्या अपराध हुआ है, मैं स्वयं नहीं समझ पा रहा हूँ।'

पाण्ड्यराज ने क्रोध से तमतमाते हुए कहा—'जैनधर्म राजधर्म है। उस धर्म को अंगीकार कर तुमने उसका परित्याग किया है। इसका कठोर दण्ड तुम्हें भुगतना होगा। तुमने राजकीय विद्यापीठ में अध्ययन किया है। राज्य का पर्याप्त धन तुम पर व्यय हुआ है।'

अप्पर ने दृढ़ता से कहा—'महाराज आपने सत्य कहा है। परन्तु मैंने कोई अधर्माचरण नहीं किया है। सत्य ही धर्म का चरम लक्ष्य है। उस परम सत्य का अन्वेषण कर मैंने उसका वरण किया है। शैव धर्म की स्निग्ध छाया में, परमपुरुष शिव के आश्रय में मैंने सत्य को प्राप्त किया है। मेरा सम्पूर्ण जीवन धन्य हो उठा।'

'राजधर्म जैन धर्म असत्य है केवल शैव धर्म ही सत्य है, तुम यही कहना चाहते हो क्या?'

'महाराज, राजधर्म की अवज्ञा करने वाले इस दुष्ट को आप घोर दण्ड दें, अन्यथा इस राज्य का अमंगल होगा।' राज सभा में समवेत स्वर गूँजा।

'आचार्य अप्पर, राजधर्म का परित्याग कर तुमने उसके विरुद्ध आपत्ति-जनक बातें कह कर गंभीर अपराध किया है। पंडित होकर तुमने ऐसा किया है, इससे तुम्हारा अपराध और बढ़ जाता है। मैं तुम्हें प्राणदण्ड देता हूँ।' राजा ने आवेश में सजा सुनाई। राजा ने आदेश दिया, 'अप्पर का वध पहाड़ की चोटी से धकेल कर किया जाय।'

नियत समय पर फौजदार ऐसा करने के लिए उपस्थित हुआ। जनता की अपार भीड़ इस दृश्य को देखने के लिए उमड़ पड़ी थी। अप्पर को पहाड़ की

चोटी पर ले जाया गया और उस पर से धकेल दिया गया। अप्पर बिल्कुल सुरक्षित रहे। उनकी देह एक वृक्ष के ऊपर टँगी थी।

यह सूचना राजा को दी गई। प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या अप्पर को दुबारा पहाड़ की चोटी से धकेला जाय? राजा ने दूसरा तरीका सुझाया। अप्पर को समुद्र के किनारे ले जाओ। उनके शरीर में एक भारी पत्थर बांधकर समुद्र में फेंक दो।'

लेकिन यह क्या? अप्पर यहाँ भी बच गए। समुद्र तल में पत्थर उनकी देह से सरक कर गिर गया। समुद्र की लहरों ने उन्हें ऊपर फेंका और वे आकर तट के पास लग गए। मल्लाहों ने उनकी सेवा की। उन्हें पुनः होश आ गया। उन्होंने धीवरों को पूरी बात बताई। इस बात की चर्चा पूरे प्रदेश में फैल गयी। हजारों लोगों ने राजा से कहा, 'महाराज, शिव की असीम अनुकम्पा से पुनः अप्पर को नवजीवन मिला। अप्पर सिद्ध पुरुष हैं। इस युग के प्रहलाद हैं। इन्हें मुक्त कर आप जन-मन को संतुष्ट करें।' अप्पर को राजा के समक्ष लाया गया। उन्होंने कहा—'लगता है किसी विराट शक्ति ने तुम्हारी रक्षा की है। गोपन रहस्य को मुझे स्पष्ट करो।'

उद्धारक शिव की कृपा का स्मरण कर अप्पर भावाविष्ट हो गए। उनकी दोनों आँखें उन्मीलित थीं। चेहरे पर दिव्य ज्योति बिखरी थी। कपोल पर आनन्दाश्रु छलक रहे थे। युक्तपाणि अप्पर ने स्वरचित श्लोक द्वारा शिव की स्तुति की—

माला अनन्त कोटि, अगणित ब्रह्माण्ड की,
पहने हुए हैं गले में हमारे प्रभु आदि देव,
सृष्टि और प्रलयों की लहरों की लीला में,
कभी तो मंगलमय शिव रूप होते वे,
और कभी रुद्र रूप धारण कर
करते हैं कामरूप अपने को वे अनेक।
ये जो हैं आदि से अतीत
और अन्त से असीम अन्तहीन विभु,
कर लोगे उनको तुम धारण क्या?
क्षुद्र मानवीय इस अन्तर के पट में?
पाओगे कैसे उद्धार?
आ भयार्त बोलो तो,
मृत्यु और ध्वंस के कठोर, क्रूर हाथों से?
मूर्ख हैं हम भी और तुम भी,
हम लोग सभी मूर्ख निरे,

तभी तो दंभ के खड़े हैं कर लिये ये,
अपने प्राचीर,
और कैद करना हैं चाहते, उन्हें वे घेर,
ज्योति, त्रिनयन की।
चाहते हैं सत्य शिव सुन्दर को
औरों से दूर कर अपना बना लेना
तोड़ो प्राचीर में, अपने अभिमान को,
आगे बढ़ो दैन्य के शिकंजे को व्यर्थ कर
तेरे निजस्व के साधन एकान्त,
प्रभु होंगे कैसे वे सबके शरण्य जो,
आश्रयदाता, अनन्त, जो हैं सभी जीवों के?
अपने को कर दो विलीन, नि:शेष कर,
सेवक ओ प्रभु के,
पूछो मत—'किं करोमि?'
किंकर बने रहो।
प्रभु को करुणा सम्पति, तभी देखोगे।
देखोगे तभी आशुतोष प्रभु,
करते हैं ये आत्मसात,
अपने प्रिय दास को
और तभी देखोगे धारा पीयूष की
कल्याणकारिणी, अहेतुकी,
उतरती है कैसे सब ओर से
जीवन के एक--एक स्तर को भिगाती हुई,
होकर सहस्त्रधार।

—'तेवरम्'

दिव्य भावेश एवं प्राणों को बेधने वाली मधु झंकार से पाण्ड्यराज विगलित हो उठे। अप्पर के चरणों में लोट-पोट कर उन्होंने उनकी कृपा एवं आश्रय की कामना की।

शैवाचार्य अप्पर से दीक्षित हुए। समस्त तमिल संस्कृति में शैव-साधना मुख्य बन गई। मदुराई, कांची, चिदम्बरम् सर्वत्र शैव संन्यासियों एवं आचार्यों की प्रमुखता रही। कमर में बँधा हुआ एक जीर्ण वस्त्र, हाथों में एक झोली और खुरपी। इसी वेश में अप्पर ने शैव तीर्थों और जनपदों का भ्रमण किया। उनके साथ चलती थी कुदाली और खुरपी लिए जनता की अपार भीड़। शैव मंदिरों को स्वच्छ करते हुए जनता आगे बढ़ती रही। त्याग, तितिक्षा एवं विनम्रता की प्रति-

मूर्ति अप्पर जिस मंदिर में उपस्थित होते; असंख्य लोगों की भीड़ जमा हो जाती। उनके द्वारा प्रचारित दासमार्गीय शैव साधना की जय जयकार होने लगी थी।

एक दिन अप्पर मंदिर के प्रांगण की खुरपी से सफाई कर रहे थे, तभी भक्तप्रवर सम्बन्धर वहाँ उपस्थित हुए। अप्पर को देखते ही भावाविष्ट हो सम्बन्धर उनके चरणों पर लोटते हुए अप्पर-अप्पर की आकुल पुकार करने लगे। अप्पर ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। भक्तजन जय-जयकार करने लगे। अप्पर ने सम्बन्धर को पुत्रवत स्नेह दिया। दोनो महान विभूतियाँ साथ-साथ परिभ्रमण करने लगीं। अप्पर एकान्त साधना चाहते थे। तिरुप्पुगालूर का मन्दिर रास्ते में पड़ा। अप्पर वहीं ठहर गए। वे एकांतवास करने लगे। अप्पर के विरोधियों ने इस सिद्ध पुरुष को बदनाम करने के लिए अनेक षडयंत्र रचे। उन लोगों ने अप्पर के पास अनेक सुन्दरियों को भेजे। उन्हें धन एवं रत्न के प्रलोभन दिए गए। किंतु इस महान साधक की अलौकिक शक्ति एवं प्रचंड तेज से अभिभूत हो सुन्दरियां उनके पैरों पर गिर पड़ीं। विरोधियों ने अन्ततः आत्म-समर्पण कर दिया।

शैवाचार्य अप्पर दासमार्ग के विशिष्ट व्याख्याता थे। उनके अनुसार देवाधिदेव महादेव इस सृष्टि के प्रलय के नियन्ता हैं। जड़-चेतन सभी के प्रभु हैं। जीव उनके नित्य दास हैं। आत्माभिमान का परित्याग कर, दास्य भाव से उनकी आराधना कर तन, मन, प्राण को उनमें समाहित कर ही उस चरम सायुज्य को प्राप्त किया जा सकता है। अप्पर की यह दास मार्गी शिवभक्ति तमिल देश में ही नहीं, दक्षिण भारत के अन्य अंचलों में भी द्रुत गति से प्रसारित हो उठा। पाण्ड्य-राज महेन्द्र उनके अनुगत थे। सभी विद्या केन्द्रों के शास्त्रविद एवं महात्मा अप्पर के शैव आन्दोलन से विशेष प्रभावित थे।

महात्मा अप्पर अब अपने आराध्य शिव के चरणों में लीन होने को उत्सुक हो उठे थे। वे बार-बार प्रार्थना करते—'प्रभु! इस बार सेवक पर अपनी कृपा करो। अपने ज्योति लोक में उसे समाहित कर लो। परम मुक्ति के महासागर में उसे निमज्जित कर लो। इष्टदेव ने अप्पर की प्रार्थना स्वीकार की। उदित होकर उनके समक्ष आविर्भूत हुए। बोले—'तथास्तु'। ८1 वर्ष की अवस्था में महसिद्ध अप्पर ने अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया। अपने अभीप्सित गन्तव्य महाशिवलोक की ओर महाप्रयाण किया।

●

१०

साधक कमलाकान्त

कमलाकान्त महाशय का गाँव चन्ना अभी लगभग दो कोस दूर था। शाम ढलने लगी थी। रास्ते में डाकू दल ने उन्हें घेर लिया। 'पास जो कुछ है, रख दो' —दस्यु सरदार ने गर्जना की। भट्टाचार्य के पास शिष्य के घर से जो कुछ मिला था, उसकी पोटली थी। कुछ पैसे थे। उन्होंने दस्यु सरदार के सामने रख दिया।

'तुम्हारा घर कहाँ है ?'

'पास के चन्ना गाँव में। मेरा नाम है कमलाकान्त देव शर्मा।'

'तुम पास के गाँव के हो? तब तो तुम्हें नहीं छोड़ा जा सकता। तुम्हें छोड़कर हम लोग मुसीबत में पड़ जाएँगे। गाँव के लोगों को हमारी पहचान बताओगे। वे हमें पहचान जाएँगे। हम तुम्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे।'

'लेकिन इससे पहले हमे माँ का नाम गान कर लेने दो, फिर तुम्हारी जैसी इच्छा।'

'ठीक है।'

'डाकू कमलाकान्त को घेर कर बैठ गए। कमलाकान्त माँ श्यामा की स्तुति गान करने लगे। वे इतने निमग्न हो गए कि उनके आँखों से अश्रुधारा बह निकली। उनकी आकुल रूलाई से डाकुओं का दिल भी पसीज गया। भावावेश में उनकी आँखें भी सजल हो गईं।'

गान समाप्त होने पर डाकू दल कमलाकान्त के चरणों पर गिर पड़ा। सरदार बोला, 'ठाकुर हम लोग घोर पापी हैं। हम लोगों को अपने चरणों में आश्रय दो, हमारी रक्षा करो। हम लोगों पर कृपा करो। डाकुओं ने एक साथ 'जयकाली' का उद्घोष किया। उनके समवेत स्वर से उड़गाँव का तट गूँज उठा।

डाकुओं का यह दल भक्त और साधक बन गया।

यह लगभग पौने-दो सौ वर्ष पहले की बात है। कमलाकान्त की प्रसिद्धि एक शक्तिमान तंत्र साधक के रूप में फैल गई। उन्होंने बंगाल के जनजीवन में मातृ साधना की एक प्राणवंत धारा प्रवाहित कर दी। कुशल गायक, कवि और शक्तिधर सिद्ध साधक के रूप में वहाँ की लोक-चेतना में विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो गये।

कमलाकान्त तंत्रमंत्र के साधक थे। शक्तिरूपिणी आद्याशक्ति माँ काली की साधना उनके जीवन का व्रत था। उन्हें सिद्धि लाभ भी हुआ। उन्होंने गाँव-गाँव में मातृ नाम की शांति प्रदायिनी धारा प्रवाहित कर दी।

कमलाकान्त का जन्म अनुमानतः 1770 ई० में बंगाल के बर्दमान जिले के अम्बिका कालना गाँव में हुआ था। उनके पिता महेश्वर भट्टाचार्य की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उनके मरने के बाद परिवार की स्थिति और खराब हो गई। माता महामाया देवी सब तरह से निरूपाय होकर अपने मायके चन्ना गाँव चली आईं। कमलाकान्त के नाना ने उन्हें थोड़ी जमीन दे दी जिससे गुजर-बसर होने लगा। गरीबी के कारण कमलाकान्त को अम्बिका गाँव के अपने एक यजमान के घर भेजा जहाँ वे पढ़ाई-लिखाई करते।

उपनयन संस्कार के बाद कमलाकान्त में अद्‌भुत परिवर्तन आया। समय मिलते ही वे चन्ना गांव के विशालाक्षी मंदिर के निभृत एकान्त में ध्यानस्थ होकर बैठ जाते और घण्टों बैठे रहते। गाँव के निकट ही गोविन्द मठ था। उसके सेवाइत प्रभुपाद चन्द्रशेखर गोस्वामी थे। वे अच्छे साधक थे। कमलाकान्त अक्सर उनके पास बैठकर उपदेश ग्रहण करते।

कमलाकान्त का वैराग्य भाव देखकर चिंतातुर उनकी माता ने उनका विवाह समीप के लडुका गाँव के एक भट्टाचार्य परिवार की सुलक्षणा कन्या से कर दिया लेकिन यह कन्या ज्यादा दिनों तक जीवित नहीं रही।

पत्नी के असामयिक निधन ने कमलाकान्त के मन में वैराग्य और निर्वेर जागृत कर दिया। उन्होंने निश्चय किया कि वे अब फिर संसार-बंधन में नहीं बंधेंगे। माँ श्यामा का नाम-जप करते चरम वैराग्य-पथ पर चलेंगे। किन्तु माँ के अनुनय-आग्रह पर उन्हें पुनः विवाह करना पड़ा। कन्या वर्दमान जिले के कांचनपुर गाँव की थी। किन्तु त्याग-वैराग्य की जो धारा उनके जीवन में प्रवाहित हो रही थी वह विवाह के पश्चात् और बेगवती हो गई। वे माँ काली के नाम-जप के उन्माद में चारों ओर भटकने लगे।

चन्ना के पास एक गाँव था सुघड़े। वहाँ एक बार काली पूजा का आयोजन था। कमलाकान्त वहाँ पहुँच गए। वहाँ केनाराम भट्टाचार्य नामक एक तन्त्र साधक उपस्थित थे। कमलाकान्त को ज्ञात हुआ कि केनाराम शक्तिधर कौल साधक हैं। उनका घर पास ही है जहाँ वे पंचमुण्डी का आसन और काली की मूर्ति स्थापित कर साधना करते हैं। कमलाकान्त ने उन्हीं से दीक्षा ग्रहण की। केनाराम ने उन्हें बताया कि माँ काली की उपासना के लिए घर-बार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। कमलाकान्त ने गृहस्थ जीवन में रहते हुए उन्होंने निगूढ़ तन्त्र साधना और आचार-अनुष्ठान का व्रत लिया। माँ काली की आराधना करते-करते उनके अन्तर में दिव्य आनन्द का स्रोत फूट पड़ा और अनायास ही वे शास्त्रीय संगीत की रचना करने लगे। उनका संगीत दूर-दूर तक प्रसारित होने लगा।

कमलाकान्त ने अध्यापन वृत्ति के लिए एक पाठशाला खोल ली। लेकिन उसमें मन नहीं लगा। आठ-दस वर्ष यूँ ही बीत गए। हमेशा साधन-भजन में निमग्न रहने लगे। कभी-कभी श्मशान चले जाते। 'मां-मां' के जाप से श्मशान की नीरवता भंग हो जाती।

पाठशाला की जिम्मेदारी-विद्यार्थियों ने ले ली। वे स्वयं नए बच्चों को पढ़ाने लगे। पाठशाला चलता रहा।

कमलाकान्त एक दिन वीरभूम जिला स्थित तारापीठ चले गए। वहाँ उनकी मुलाकात एक शक्तिधर साधक से हुई। उनके द्वारा बताए गए निगूढ़ कौल-साधना-पथ पर वे क्रमशः आगे बढ़ने लगे।

पाठशाला ठीक से चल नहीं रहा था। छात्रों की संख्या कम होती गई। परिवार भयंकर अर्थसंकट में पड़ गया। एक दिन घर में एक पैसा भी नहीं था। बेटी के लिए दूध कहाँ से आये। पत्नी चुपचाप बैठी थीं। तभी किसी स्त्री ने दरवाजे पर दस्तक दी—'भट्टाचार्य महाशय क्या घर में हैं? कृपा करके दरवाजा खोलिए।'

दरवाजा खुला। सामने अत्यंत लावण्यमयी-सांवली-सलोनी किशोरी खड़ी थी। उसके साथ दो सेवक थे जिनके सिर पर खाद्य सामग्रियों से भरपूर बड़ी-बड़ी टोकरियाँ थीं। किशोरी ने कहा, 'माँ ने आप लोगों के लिए यह सब भेजा है, ले लीजिए।' सेवकों ने टोकरियाँ घर में रख दीं। कमलाकान्त की पत्नी इसे देखकर भौंचक थीं। किशोरी एक मधुर मुस्कान छोड़ कर सेवकों के साथ चली गई।

आधी रात को भावाविष्ट अवस्था में कमलाकान्त घर आए। वे खाद्य पदार्थ से भरी टोकरियाँ देखकर चौंक पड़े। पत्नी ने सारी घटना कह सुनाई तो कमलाकान्त के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। उन्हें समझते देर नहीं लगी कि यह सामग्री भेजने वाली माँ कौन हैं।

कमलाकान्त का पूरा दिन जंगल के बीच में स्थित विशालाक्षी के मंदिर में भक्ति-गीत गाते बीतता था। बिना किसी स्थायी स्रोत के देवी की पूजा-अर्चना का काम जैसे-तैसे चल रहा था।

माँ काली मानव रूप में दर्शन देती रहीं। एक दिन विशालाक्षी को भोग लगाने के लिए मछली का जुगाड़ नहीं हो पाया तो किशोरी के रूप में पास के तालाब से दो मांगुर मछलियां पकड़कर देर रात में दे गईं। इसके बाद जंगल के अंधकार में अदृश्य हो गईं।

एक दिन पंचमंडी की क्रियाएँ समाप्त कर कमलाकान्त विशालाक्षी की मूर्ति के समीप बैठे थे। भक्ति-गीत गा रहे थे। अड़उल की मालाएँ मन में गूँथ कर माँ को अर्पित करते जा रहे थे। उनके गीत का अभिप्राय निम्नवत था—

— मैं जानता हूँ, तुम तो पाषाण कन्या हो। मुझसे छिपकर अंतर में रहती हो।

— तुमने चतुर्दिक अपनी माया फैला रखी है। अनेक जीवों की तुमने सृष्टि की है और निर्गुण छाया को भी तीन गुणों में बाँध रखा है।

— तुम किसी की दुर्मति बनती हो तो किसी की सुमति। अपने दोषों को ढँककर किसी दूसरे को ही दोष देती हो।

— माँ, मैं निर्माण की आशा नहीं करता। मैं स्वर्ग भी नहीं चाहता। मैं तो तुम्हारे दोनों नेत्रों की ओर टकटकी लगाकर देखते रहना चाहता हूँ, उन्हें अपने हृदय में संजोकर रखना चाहता हूँ।

गान रुक गया। कमलाकान्त ध्यान के आनन्द में विभोर थे। आँखों से अविरल आँसू की धारा बह रही थी।

'चुप क्यों हो गए बाबा? फिर से गाओ।' अचानक एक आवाजा आई।

कमलाकान्त ने देखा, मंदिर के द्वार पर एक वृद्धा प्रसन्न मुद्रा में बैठी है। बोली, 'तुम्हारा यह गीत बड़ा ही मधुर है। मुझे कुछ और सुनाओ न, बेटा।'

'तुम कौन हो? रात्रि के इस अंधकार में कहाँ से आई हो?' कमलाकान्त ने कहाँ, 'मां, मैं तो तुम्हें गीत सुनाता हूँ, किन्तु इसके पहले अपना परिचय दो।'

'तुमने मुझे पहचाना नहीं?' वृद्धा ने कहा, 'मैं तो तुम लोगों के धर्मनारायण की माँ हूँ।'

धर्मनारायण उसी गाँव का ग्वाला है। वह प्रतिदिन विशालाक्षी मंदिर में दूध खीर भेंट चढ़ाने आता है। यह महिला उसकी माँ है, यह जानकर कमलाकान्त प्रसन्न हुए। फिर एक पर एक श्यामा गीत सुनाने लगे। कुछ देर बाद उन्होंने देखा वृद्धा वहाँ नहीं है।

दूसरे दिन सबेरे जब कमलाकान्त ने इस बात की चर्चा धर्मनारायण से की तो पता चला उसकी माँ तो बचपन में ही मर चुकी हैं। उसका लालन-पालन दूसरों ने किया है।

कमलाकान्त समझ गए कि कल रात जगज्जननी ही वृद्धा का रूप धारण कर उनके पास आई थीं। माँ के विछोह की तीव्र वेदना आर्त्त क्रन्दन बनकर फूट पड़ी। वे 'माँ-माँ' पुकारते हुए मूर्छित हो गए।

उनके परिवार की दयनीय हालत देखकर कमलाकान्त का एक मित्र उनके परिवार को अपने घर अम्बिका गाँव ले गया। कुछ दिनों बाद कमलाकान्त की माँ का वहीं देहांत हो गया। कमलाकान्त का मन चन्ना गाँव की साधन पीठ और विशालाक्षी मंदिर के बिना नहीं लगा। वे फिर विशालाक्षी की शरण में आ गए। उन्होंने और कठिन तपश्चर्या शुरू की। अन्त में एक दिन जगज्जननी की कृपा का कपाट खुल गया और उन्हें तन्त्र-साधना की चरम सिद्धि की उपलब्धि हुई।

कमलाकान्त की कीर्ति चतुर्दिक फैलने लगी। वर्दमान के महाराज के कानों में भी पहुँची। महाराजा तेजचन्द्र ने उन्हें सम्मान के साथ बुलवाया और दीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात वर्दमान के निकट कोटालहाट में उनके लिए एक घर बनवा दिया। उनकी श्यामा-विग्रह की पूजा-अर्चना के लिए मासिक वृत्ति और समय भी नियत कर दिया। कुछ दिनों बाद युवराज प्रतापचन्द्र ने भी उनसे दीक्षा ली और कमलाकान्त के आश्रम में रहकर ही तंत्र-साधना करने लगे।

कोटालहाट स्थित कमलाकान्त की श्यामामूर्ति महाजाग्रत देवी के रूप में प्रसिद्ध हो गईं। देश-विदेश के श्रद्धालुजनों की भीड़ एकत्रित होने लगी।

अमावस्या की रात थी। घोर अंधकार। जोरों की वर्षा और आंधी। कमलाकान्त काली मंदिर में भावाविष्ट बैठे थे। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि पूजा का लग्न बीता जा रहा है। उनके मानस पटल पर जगन्माता का एक भीम-भयंकर रूप उद्‌भाषित हो रहा था। ध्यानावेश के कटने पर माँ के रुद्राणी रूप का स्तव-गान करने लगे—

कराल बदनां घौरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजां।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुंडमाला विभूषितां।
सद्यश्छिन्न शिरः खड्ग बामाधोर्द्ध करांबुजां।
अभय वरदैष्ण दक्षिणाधोर्द्ध पाणिकां।
महामेघ प्रेमं श्यामां तथा चैव दिगम्बरी।
कंटावसक्त मुंडाली गलद्रुधिरचर्चितां।

महाकाली के इस स्तोत्र और मातृ-नाम के जप से पूजास्थली! प्रकम्पित हो रही थी। तभी विष्णु कर्मकार ने मंदिर में घुस कर निवेदन किया—'ठाकुर, पूजा का लग्न बीता जा रहा है।'

'आज मेरी माँ का दनुज-विनाशिनी रूप प्रस्फुटित हो रहा है। आज तो पूजा में भैंसे की बलि देनी होगी।'

कमलाकान्त की बात सुनकर विष्णु भैंसे की खोज में निकल पड़ा। मूसलाधार वर्षा के साथ तेज हवा चल रही थी। कुछ दूर जाने पर कुछ लोग मंदिर की ओर आते हुए दिखाई पड़े। उनके साथ एक भैंसा और पूजा की सामग्री भी थी।

मंदिर के परिचारक के रूप में विष्णु पूरे इलाके में परिचित था। उसे देखते ही आगन्तुकों का मन खिल उठा। यह जानकर वे प्रसन्न हुए कि मातृपूजा अभी शुरू नहीं हुई है। विष्णु की खुशी का भी ठिकाना नहीं रहा कि माँ ने अपनी पूजा का इंतजाम स्वयं कर दिया।

माँ काली की पूजा विधिवत सम्पन्न हुई।

महाराज तेजचन्द्र ने कमलाकान्त को गुरु रूप में वरण किया। तत्पश्चात इस साधक का आचार्य रूप में जीवन शुरू हुआ। भक्तों की साधना में कमलाकान्त तन्त्राचार और योगमार्ग दोनों का समावेश करने लगे। उनकी इस साधना प्रक्रिया का परिचय उनकी पुस्तक 'साधक-रंजन' में मिलता है।

कमलाकान्त एक साथ ही साधक, कवि और लोक कल्याणकारी पुरुष थे। उनकी संगीत-रचना में उनके पूर्ववर्ती साधक रामप्रसाद का कुछ प्रभाव दिखाई देता है। निस्संदेह रामप्रसाद के बाद कमलाकान्त का ही स्थान है। उनकी पुस्तक 'साधकरंजन' में तन्त्र-साधना के सभी गूढ़ तत्त्वों को सहज रूप में समझाया गया है। उन्होंने लिखा है—

'मां, मैं तुम्हारे श्याम रूप को कितना प्यार करता हूँ।
तुम भुवन मनमोहिनी हो, मुक्तकेशिनी हो।
तुम्हें सब लोग काली-कलूटी कहते हैं, लेकिन मैं तो देखता हूँ,
तुम निष्कलंक चन्द्रमा जैसी धवल हो।'

ईष्टदेवी की चिद्घन सत्ता निरन्तर उनके अन्तर में प्रकाशित रहती थी। कमलाकान्त के काली तत्त्व में सन्निहित था सर्वव्यापिनी ब्रह्मशक्ति का परम तत्त्व। वे सम्पूर्ण सृष्टि को जगज्जननी माँ श्यामा से ओतप्रोत देखते थे।—

'मेरी माँ स्थल में, शून्य में, वायु और जल में सर्वत्र व्याप्त है।
तुम लोग मेरी ब्रह्माण्ड रूपिणी माँ को जानते नहीं?
मेरी माँ घट में है, पट में है, सम्पूर्ण शरीर में है।
वह रमणी का नयन-कटाक्ष भी है जिसके फलस्वरूप संसार का मन मोहित करती है।
अरे, कमलाकान्त का मन, तुमको कितना भय है? तुम्हें तो विरंची ब्रह्मा का वांछित धन मिल गया है।'

अखण्ड ब्रह्मतत्त्व स्वरूपिणी इष्टदेवी महाकाली का जो रूप कमलाकान्त के अन्तर में प्रकाशित रहता था, उसमें आकाश-तत्त्व और शब्द-तत्त्व के साथ काली और शिव की, प्रकृति और पुरुष की परमसत्ता एकाकार होकर निहित थी। वे निरंतर अखण्ड चैतन्यमयी महाकाली के ध्यान में मगन थे, इसलिए उनकी दृष्टि में श्यामा और श्याम में कोई अन्तर नहीं था।

वर्दमान के महाराजा तेजचन्द्र के कानों में यह बात पहुँची थी उनके पुत्र राजकुमार प्रतापचन्द्र शराब के आदी हो गए हैं। वे क्रोधित हुए और कमलाकान्त से मिलने कोटालहाट पहुँचे। कमलाकान्त श्मशान से आ रहे थे। माँ का गीत गाते हुए। उनके हाथ में घड़ा था जिसमें शराब थी। कमलाकान्त के निकट आने पर महाराज ने पूछा, 'ठाकुर मैंने अपने पुत्र प्रताप को आपके हाथों में सौंप दिया था।

आशा था कि आपसे दीक्षित होकर वह आदमी बनेगा। लेकिन आपके साथ-साथ रहते-रहते वह घोर शराबी हो गया है।'

कमलाकांत ने कहा, 'महाराज किस आधार पर आप ऐसी बात कह रहे हैं?'

महाराज ने कहा, 'इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो ठाकुर आपके हाथ का घड़ा है। इसमें से शराब की गंध आ रही है।'

'लेकिन इसमें तो शुद्ध दूध है।'

महाराज और उनके साथ आए अधिकारियों ने आगे बढ़कर घड़े को देखा। उसमें सचमुच दूध था। शराब की गंध गायब थी।

महाराज को आश्चर्य हुआ। लेकिन उन्होंने कहा, 'ठाकुर, यदि इसमें दूध है तो इसमें मक्खन भी निकलना चाहिए।'

'अवश्य'। कहते हुए कमलाकांत ने घड़ा महाराज के आदमियों को दे दिया। उस दूध से मक्खन निकाला गया। फिर उसे गलाकर घी बनाया गया। उस घी से कमलाकान्त ने होम भी किया।

महाराज को खेद हुआ कि उन्होंने अपने गुरु पर अविश्वास किया।

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद युवराज प्रतापचन्द्र गृह त्याग कर कहीं चले गए।

कमलाकांत की प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई। उन्हें काली पूजा के लिए बनारस आमंत्रित किया गया। कमलाकान्त बनारस आए। काली पूजा कर रहे थे। मध्यरात्रि में वे बीच-बीच में सुरापान भी करते रहे। आयोजकों में से कुछ ने एतराज किया। माँ की पूजा में सुरापान। यह तो अनर्थ हो रहा है। कुछ लोगों ने समझाया— 'कमलाकान्त सिद्ध पुरुष हैं। उनकी पूजा-पद्धति में व्यवधान नहीं डालना चाहिए।'

'तो क्या मिट्टी की काली प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा कर देंगे?'

कमलाकांत की आंखें मुहूर्त भर में प्रदीप्त हो उठीं। उन्होंने उच्च स्वर में कहा, 'क्या सचमुच देखना चाहते हो कि मूर्ति जीवन्त हुई या नहीं? तो देखो।'

इतना कहकर उन्होंने सामने पड़ा बलिदान वाला खड्ग उठा लिया और प्रतिमा के हाथ पर उसे बैठा दिया। माटी की उस मूर्ति के हाथ से जहाँ तलवार का घाव था, झर-झर रक्त की धारा बहने लगी।

भय और विस्मय से विमूढ़ आलोचकगण कमलाकान्त के चरणों पर गिर पड़े। इसके बाद कमलाकान्त कोटालहाट लौट गए। किन्तु काशी में उनका मन भरा नहीं था। अन्तर्मुख हो कर वे धीरे-धीरे आत्मसत्ता में डूबने लगे। उनकी मानसिक स्थिति इस कविता में अभिव्यक्त हुई है—

रे मन, किसी अन्य के घर मत जा,
तुम अपने आपको ही देख
अपने अन्तःपुर में ही जो कुछ खोजोगे
मिल जाएगा।
तीर्थ यात्रा केवल दुःख पूर्ण भ्रमण है
लेकिन तुम उचाट क्यों होते हो मेरे मन?
तुम मूसलाधार की आनन्द-त्रिवेणी में स्नान कर
शीतल क्यों नहीं हो जाते?

कमलाकान्त अब वृद्ध हो गए थे। उनकी द्वितीय पत्नी भी चल बसी थीं। शिष्य प्रतापचन्द्र भी नहीं रहे। सिर्फ एक कन्या थी। अंतिम समय आ गया। महाराज तेजचन्द्र गुरु के दर्शन के लिए आए। वे उन्हें गंगा तट पर ले जाना चाहते थे लेकिन कमलाकान्त ने मना कर दिया। बोले, 'महाराज, मन का संताप दूर कीजिए। मैं यहाँ मंदिर के सामने ही प्राण छोड़ना चाहता हूँ। आप कल दोपहर को एक बार आइए।'

दूसरे दिन तमाम भक्तगणों के साथ महाराज तेजचन्द्र भी आ गए थे। कमलाकान्त सुबह से ही भाव-विभोर थे। उन्होंने उपस्थित मण्डली से कहा, 'मेरे लिए तृण-शैय्या बिछा दो।'

तृणशैया बिछाकर कमलाकान्त को उस पर सुला दिया गया। उनके मुखमण्डल पर अलौकिक आभा छिटक रही थी। क्षीण स्वर में उन्होंने गाना शुरू किया—

मां श्यामा के रूप में मेरी आंखें डूब गई हैं।
उनका अनुपम रूप कितना कोमल काला है, चिकना-चिकना।
उस सुचिक्कन, काले, अनुपमेय रूप को देखकर
त्रिलोचन शिव ने उन्हें अपने-हृदय में रख लिया है।

जगज्जननी के उस नील मेघवर्णी रूप का ध्यान करते-करते मातृसाधक कमलाकान्त ने सदा के लिए आँखें मूद लीं।

उपस्थित जनता ने विस्मय से देखा कि उस तृणशैया के नीचे पृथ्वी तक को फोड़ कर भगवती की पवित्र जलधारा फूट पड़ी है। उस अलौकिक जलधारा को देखकर साधक कमलाकान्त को अंतिम समय में गंगा-तट नहीं ले जाने का खेद महाराज तेजचन्द्र के मन से मिट गया।

●

११

राजा रामकृष्ण

साधक रामकृष्ण का जन्म बंगाल के राजशाही के आठ ग्राम नामक स्थान में उच्च ब्राह्मण वंश में हुआ था। उनके पिता का नाम हरिदेव राय था। इस राय परिवार से नाटोर-राजवंश का जातीय सम्बंध थे। नाटोर राजवंश ने रामकृष्ण को गोद ले लिया था। रानी भवानी के अगाध ऐश्वर्य और प्रताप की छत्रछाया में बालक रामकृष्ण की परवरिश होने लगी।

राज प्रासाद में कंगाली भोजन हो रहा था। एक लाख ब्राह्मणों की पदधूलि ग्रहण करने के व्रत का रानी उद्यापन कर रही थीं। कुमार रामकृष्ण भी माता के साथ रहकर स्वयं पात्र में उसी धूलि का संग्रह कर रहे थे। यह दृश्य प्राय: देखने को मिलता था।

कुमार की शिक्षा श्रेष्ठ आचार्यों के अधीन चल रही थी। कुमार राजप्रासाद के कोलाहल के प्रति उदासीन रहते थे। कुमार के मनोभाव और आचरण से रानी चिन्तित रहने लगीं। उन्होंने अपने गुरु तर्कवागीश से परामर्श लिया। वे बोले—'माँ, रामकृष्ण की शादी कर दें और कुमार के हृदय में धर्म जीवन की जो आकांक्षा उग्र हो रही है, उस ओर देखते हुए अविलम्ब उसे दीक्षा देने की व्यवस्था करें।'

कुमार की शादी अत्यंत रूपवती कन्या से हुई। तर्क वागीश ठाकुर के निर्देश से कुमार को माता रानी भवानी ने ही दीक्षा-मंत्र दिया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि उत्तरकाल में कम से कम गुरु-ज्ञान में माता के प्रति ही भक्तिमान रहें रामकृष्ण।

रानी भवानी अपना ज्यादातर समय पूजा पाठ में ही व्यतीत करने लगीं। कभी मुर्शिदाबाद में गंगा के किनारे, कभी बढ़नगर के प्रासाद में लेकिन ज्यादातर समय बनारस में।

इधर राजा रामकृष्ण का मन सभी बंधनों से मुक्त होने के लिए अधीर हो रहा था। नाटोर के प्रख्यात काली मंदिर में उनका ज्यादातर समय बीतने लगा। बीच-बीच में वान्सर के श्मशान में जाकर भी ध्यान मग्न हो जाते थे।

नाटोर के समीप ही भवानीपुर में एक सिद्ध शक्तिपीठ है। रामकृष्ण वहाँ जाकर पूजा-अर्चना करने लगे। पंचमुंडी के आसन पर बैठकर कई-कई दिनों तक ध्यान-मग्न रहते।

एक बार तारापीठ जाकर उन्होंने प्रसिद्ध तांत्रिकों के साथ मुलाकात की। उन्हें वहां साधन-निर्देश और निगूढ़ तंत्र-क्रियादि की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस समय भवानीपुर में एक महाशक्तिमान कौलाचार्य का आविर्भाव हुआ। इनके निकट राजा रामकृष्ण पूर्णाभिषिक्त हुए और उन्होंने शव-साधना का अनुष्ठान किया। कौलाचार्य की निष्ठायुक्त साधन धारा को पकड़ कर रामकृष्ण का आध्यात्मिक जीवन प्रवाहित होने लगा। वे प्रायः भवानीपुर के शक्तिपीठ में जाकर तपस्या में मग्न हो जाते थे।

शाक्त ग्रन्थों के अनुसार भवानीपुर शक्तिपीठ में ही सती का पतन हुआ था। यहां की अधिष्ठात्री प्रतिमा का नाम अपर्णादेवी है। लेकिन जनसाधारण में यह शक्ति-प्रतिमा भवानी देवी के नाम से विख्यात है।

राजा रामकृष्ण ने काली मंदिर के चारो ओर पंचमुंडी आसन स्थापित किए। पास ही दो सरोवरों के पास वकुल-वाटिका थी। यह उनकी सन्ध्याकालीन धर्मसभा का स्थान था। प्रसिद्ध तांत्रिक आचार्यों के कुलाचार की विवेचना और साधनमार्ग के अनेक मूल्यवान निर्देश इस सभा में ग्रहणकर सभी उपकृत होते थे।

भवानी देवी की सेवा-पूजा के लिए राजा रामकृष्ण ने उस समय बड़ी राशि की आय का एक तालुका अलग कर दिया था।

अमावस्या की अंधेरी रात थी। रामकृष्ण काली मंदिर में बैठकर ध्यानमग्न थे। बार-बार हाथों में लाल अढ़उल और बेलपत्र मां के चरणों में अर्पित कर रहे थे और 'माँ-माँ' का उच्चारण कर रहे थे। उनके पास सिर्फ पुरोहित और अनुचर भोला थे। अकस्मात् मंदिर प्रांगण में दण्ड-कमण्डल और त्रिशूल धारण किए हुए एक संन्यासी दिखाई पड़े। सुडौल शरीर भूरीजटा, सिद्ध साधक की दिव्य ज्योति! पुरोहित ने स्वागत सत्कार किया। उन्हें आशीर्वाद देते हुए संन्यासी ने कहा, 'मैं राजा रामकृष्ण से मिलने आया हूं, तुरंत उनके पास ले चलो।'

मंदिर के द्वार पर पहरा दे रहे भोलानाथ ने निवेदन किया, 'प्रभु, ध्यान में मग्न रहने के समय महाराज के पास जाने का कोई उपाय नहीं है। अच्छा यही होगा कि आप कल प्रातः काल आकर उनसे अपनी बात कहें।'

क्रोध से संन्यासी की आंखें लाल हो गईं। वे मंदिर के चबूतरे पर जाकर खड़े हो गए और चीखने लगे, 'रामकृष्ण तुम्हें धिक्कार है।' तुम अपने को ही भूल गए? तुम क्या थे? तुम्हारा असल परिचय क्या है? एक बार तुम अपना पहला जीवन याद करो। तोड़ डालो माया के बंधन!, और संन्यासी अंधेरे में गुम हो गए।

रामकृष्ण के कानों में संन्यासी की आवाज पड़ी। उन्हें लगा कि यह कोई, परिचित स्वर है। वे दौड़कर मंदिर से बाहर आए। पूछा, 'कहाँ गए वे संन्यासी?'

बहुत खोजने पर भी संन्यासी नहीं मिले। रामकृष्ण जब प्रातः प्रासाद लौटे तो उन्हें लगा जैसे कोई कह रहा हो—'तोड़ डालो ये बंधन।' वे उद्विग्न हो उठे।

तभी मुक्ति का अवसर भी आ गया। वारेन हेस्टिंग्स ने यह परगना अपने एक ताबेदार के नाम लिख दिया। यह अठारहवीं शती का उत्तरार्ध था। नाटोर राज्य के लिए यह बड़ी क्षति थी। एक आश्रित व्यक्ति के विश्वासघात के कारण भुलना परगना भी हाथ से निकल गया। रामकृष्ण एक संन्यासी की तरह स्थिर रहे। एक-एक इन परिसम्पत्तियों की नीलामी होती रही, रामकृष्ण सांसारिक बंधनों से मुक्ति की खुशी में निश्चिन्तता की सांस लेते रहे। मंदिर में महा समारोह और षोडशोपचार पूजा की व्यवस्था हो रही थी। मुक्ति के लिए रामकृष्ण अधीर हो उठे।

आठ ग्राम के रिश्तेदार रामकृष्ण को गद्दी से हटाने का षडयंत्र करने लगे। किंतु सफलता नहीं मिली। यह बात जब रामकृष्ण को पता लगी तो उन्होंने षड्यन्त्रकारियों को बुलाया और अपनी जमींदारी का एक बड़ा हिस्सा उन लोगों को लिख दिया। शुभचिंतकों के एतराज पर बोले—'जमीन पाकर उन लोगों की अशांति थोड़े ही दूर होगी।'

नाटोर से पाँच-छह मील दूर प्रसिद्ध वान्सर श्मशान में राजा रामकृष्ण की साधना चलती रहती थी। साधना के कई साल बीत गए। धीरे-धीरे पूरे बंगाल में रामकृष्ण की साधना, सिद्धि और दानशीलता की बात फैल गई। राज्य का ऐश्वर्य अब पहले जैसा नहीं रहा। लेकिन जब रामकृष्ण राजप्रासाद में होते तो उनके पास से कोई निराश नहीं जाता।

एक दिन रामकृष्ण राजसभा में बैठे थे। एक गरीब ब्राह्मण आया। उसने एक पत्थर का टुकड़ा राजा को दिया। उस पर एक श्लोक खुदा था—

यदुपतेः क्व गंगा मथुरापुरीः।
रघुपतेः क्व गतोत्तर कोशला॥
इति विचिन्त्य कुरुस्व मनः स्थिरं।
न सदिदं जगदिव्यधारय॥

अर्थात् यदुपति कृष्ण की मथुरापुरी कहाँ गई, रघुपति का उत्तर कौशल भी आज कहाँ है? यह विचार कर तुम अपना मन स्थिर करो और जगत् के नश्वरत्व को समझो।

राजा ने पूछा, 'यह पत्थर तुम्हें कहाँ मिला?'

'महाराज, मैं दरिद्रता से ऊबकर फाँसी लगाने के इरादे से वान्सर के जंगल में चला गया। वहां एक संन्यासी प्रकट हुए। उन्होंने यह पत्थर का टुकड़ा देते हुए कहा, 'इसे रामकृष्ण को दे देना तुम्हारी गरीबी दूर हो जाएगी।'

रामकृष्ण ने उस ब्राह्मण की दरिद्रता दूर करने का आदेश देकर सभा भंग कर दी।

रामकृष्ण के मन में बार-बार यह सवाल कौंधने लगा। कौन है वह संन्यासी जो उनका अनुसरण कर रहा है ?

रामकृष्ण की विरक्ति और दानशीलता के कारण राजकोष शून्य हो चला था। रानी भवानी उन दिनों बनारस में थीं। उन्हें समाचार मिला तो चिन्तातुर हो गईं। जमींदारी का बड़ा भाग हाथ से जा चुका था। जो बचा था उसकी देखभाल का जिम्मा स्वयं सम्हालने के निश्चय के साथ वह लौट आईं।

रानी भवानी के आने से रामकृष्ण जमींदारी की जिम्मेदारियों से मुक्त हो गए। वे तमाम शक्तिपीठों में जाकर साधना करने लगे। बनारस जाकर काशी विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णा का दर्शन किया। अंत में एक दिन उनकी साधना तब पूरी हुई जब भवानीपुर की पीठस्थली पंचमुंडी के आसन पर बैठकर इष्टदेवी आद्यशक्ति के साक्षात् दर्शन उन्हें प्राप्त हुए।

अमावस्या की अँधेरी रात में महापूजा के अनुष्ठान में कुछ विलम्ब था। राजा रामकृष्ण प्रेमानन्द में मतवाले हो उदात्त स्वर में स्वरचित गीत गा रहे थे। उनके आँखों से अश्रुधारा अविरल बह रही थी। अकस्मात सामने के वनांचल से 'हा-रे-रे' की भयावह आवाज आई। डाकुओं का एक दल मंदिर लूटने के लिए आ रहा था। डाकू जानते थे कि मंदिर के संदूक में चढ़ावे का पैसा होगा। देवी प्रतिमा पर लाखों के आभूषण होंगे। महिलाएँ भी आभूषणों से लदी होंगी। लेकिन यह कैसा अद्‌भुत दृश्य। डाकुओं का दल हाथों में मशाल लिए एक बार आगे बढ़ रहा है तो एक बार पीछे लौट रहा है। अंत में थक-हार कर डकैत वापस लौट गए। डाकुओं के आने और फिर लौट जाने का रहस्य भक्तों की समझ में नहीं आया। लेकिन सिद्ध-साधक रामकृष्ण ने यह रहस्य जान लिया। उनकी आँखों से आनंद के आँसू बह रहे थे। माँ ने अवतीर्ण होकर दस्यु दल को भगाया था।

डाकू दल का सरदार दूसरे दिन मंदिर में आया और रामकृष्ण के चरणों पर गिर पड़ा। पिछली रात उसने माँ की अलौकिक लीला देखी थी। इस दस्यु सरगना का नाम शंकरा था। उत्तरी बंगाल में इसका आतंक था। उसने रामकृष्ण से कहा, 'महाराज मुझे पता था कि केवल कुछ ही लोग मंदिर की रक्षा कर रहे हैं। एक बार भी नहीं सोचा कि स्वयं जगज्जननी अवतीर्ण होकर मंदिर की रक्षा करेंगी। आज पता चला कि आपका आश्रय ही सबसे बड़ा आश्रय है।' रामकृष्ण ने शंकरा को गले लगा कर कहा, 'भाई, तुम्हारा भाग्य असीम है, तुमने स्वयं माँ की हाथों में तलवार पकड़ा दी। मैं सारा दोष क्षमा करता हूँ। अब से माँ की वंदना करते हुए आनंदपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करो।'

एक दिन संवाद मिला, बादशाह ने नाटोरा अधिपति को 'महाराजाधिराज पृथ्वीपति' की उपाधि से अलंकृत किया है। बादशाह और ईस्ट इंडिया के प्रतिनिधि यह उपाधि देने नाटोरा आ रहे हैं। राजधानी में उत्सव आयोजित था। लेकिन रामकृष्ण इस सबसे निस्पृह थे। उन्होंने दीवान को आदेश दिया, 'कई दिनों तक षोडशोपचार के साथ नित्य देवी-पूजा, ब्राह्मण-भोज तथा कंगालों को दान देने की व्यवस्था की जाय।' बड़ी संख्या में प्रार्थियों की भीड़ लगने लगी।

बड़-बड़े परगना एक-एक कर नीलाम होने लगे। अर्थ की कमी और रामकृष्ण की उदारता से दीवान तंग आ गए। दरअसल रामकृष्ण ने यह जानते हुए कि खजाना खाली है, जानबूझ कर यह व्यवस्था अपना भार हल्का करने के लिए हो तो की थी।

एक दिन फिर उसी रहस्यमय संन्यासी का आगमन हुआ।

उत्सव की शोभायात्रा में हाथी की पीठ पर सवार होकर वे उस दिन नाटोर के राजपथ पर जा रहे थे कि उनकी नजर दिव्यकांति वाले संन्यासी पर पड़ गई।

रामकृष्ण हाथी से उतर गए। उनके दिमाग में कौंधा ये वही संन्यासी हैं जो अमावस्था की रात को काली मंदिर में आए थे और उस ब्राह्मण को पत्थर का टुकड़ा दिया था। संन्यासी ने उन्हें अपना परिचय दिया। वे उच्च कोटि के साधकों के बीच श्री जी के नाम से विख्यात थे। राजस्थान के बूंदी राजवंश में उनका जन्म हुआ था। युवावस्था में ही उन्होंने गृहत्याग किया था। उसके बाद एक महायोगी के आश्रम में उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी।

दोनों लोग नगर के पास एक निर्जन स्थान में जाकर बैठ गए। श्रीजी ने अकस्मात रामकृष्ण के मेरुदण्ड का स्पर्श किया। रामकृष्ण के शरीर में विद्युत लहर सी उठी। पूर्वजन्म की स्मृति मानस-पटल पर अंकित हो गई। उन्होंने देखा, हरिद्वार के पुथ क्षेत्र की एक गुफा में वे बैठे हुए हैं। गुरु और उनके प्रवीण गुरुभाई सामने ध्यानस्थ हैं। ये गुरु भाई ही आज के श्री जी थे।

दोनों तरुण शिष्यों के साधन-जीवन के अंतस्तल में छिपी हुई थी एक क्षीण भोग-कामना। सद्गुरु की दिव्य दृष्टि को उस दिन वे धोखा नहीं दे सके थे। प्रारब्ध मिटाने के लिए ही यह दूसरा जन्म हुआ था। श्री जी बहुत पहले आविर्भूत हुए थे। स्वयं बंधनमुक्त होकर अब वे बार-बार गुरुभ्राता की मुक्ति के लिए आ रहे थे।

संन्यासी फिर अन्तर्ध्यान हो गए।

रामकृष्ण राज-पाट, पत्नी-बच्चों सबका मोह त्याग कर, भवानीपुर के पंचमुंडी आसन पर बैठ गए। अब उनकी चरम साधना शुरु हुई।

काफी दिन बीत गए। अमावस्या को घोर अंधकार था। रामकृष्ण ध्यानमग्न थे। अकस्मात् पंचमुंडी की साधन कुटी दिव्य ज्योति से आलोकित हो

उठी। आद्यशक्ति जगज्जननी उस समय उनके समक्ष अविर्भूत हुईं। देवी ने कहा, 'इससे पहले कि मैं तुम्हें आत्मसात कर लूँ, तुम्हें अंतिम कार्य सम्पन्न कर लेना होगा। रानी भवानी तुम्हारी मां हैं। अध्यात्म-जीवन में प्रवेश के लिए तुमने दीक्षा भी उन्हीं से ली है। उनके साथ तुम्हारा मन-मुटाव हो गया है। इसे मिटाए बिना परम प्राप्ति संभव नहीं है।'

रामकृष्ण ने हाथ जोड़ कर कहा, 'जगज्जननी तुम्हीं बताओ, मुझे क्या करना चाहिए।'

'बेटे, रानी भवानी की इच्छा थी, तुम्हें प्रजापालक राजा और महान साधक दोनों एक साथ देखने की। लेकिन तुम राजत्व को ठोकर मारकर मुक्तिकामी साधक बन बैठे हो। इसी कारण यह मतभेद है। प्रारब्ध का भोग इस बार खण्डित होगा। तुम माँ से क्षमा याचना करो। सांसारिक जीवन की सभी इच्छाओं को मिटाकर फिर मेरे पास आओ।' इतना कहकर आद्यशक्ति अन्तर्ध्यान हो गईं।

रानी भवानी मुर्शिदाबाद में थीं। रामकृष्ण को वहाँ जाना होगा।

कहा जाता है, सिद्ध साधक की अमोघ इच्छा उस समय अविलम्ब और अलौकिक रूप में पूरी हो गई। क्षण मात्र उनका सिद्ध शरीर पंचमुंडी के ध्यानासन से झटके के साथ उठा और बड़ नगर की तरफ चल पड़ा। पहरा दे रहे शिष्य भोलानाथ से कहा, 'भोला, कुछ चिन्ता मत करना, मैं इस क्षण माँ के पास जा रहा हूँ।'

कुछ समय बाद संवाद मिला, रामकृष्ण का शरीर उस दिन रात में भवानीपुर से बहुत दूर पाकुड़िया अंचल के एक पुल के समीप गिर पड़े हैं। उस अंधेरी रात में, इतने कम समय में वे पाकुड़िया तक की दूरी कैसे तय कर सके, यह रहस्य कोई नहीं जान सका।

पाकुड़िया में नाटोरा के गुरुवंशीय ब्राह्मण निवास करते थे। संवाद मिलते ही वे दौड़कर आए। उन लोगों ने रामकृष्ण को पालकी में बैठा कर रानी भवानी के पास पहुँचा दिया।

माता और पुत्र का मिलन बहुत ही मर्मस्पर्शी था। माता से क्षमा प्राप्त करने के बाद रामकृष्ण का जीवन रूपान्तरित हो गया। परम पद प्राप्त करने का समय आ गया था।

बड़नगर के गंगातट पर तीन रात बिताने के बाद राजा रामकृष्ण ने मानो अंतिम रूप से आद्यशक्ति के दर्शन प्राप्त किए। उनकी सम्पूर्ण सत्ता मातृमयी हो उठी।

अंतिम साँस निकट रही। आप्तकाम साधक इस समय परमानन्द में स्फुट स्वर से गाने लगे—

मेरा मन यदि भूले,
तो मृत्युशय्या पर काली का नामामृत
पहुँचा देना मेरे कानों में।
यह शरीर अपना नहीं है,
दुश्मन के साथ चला है।
लाओ हे भोला। जप की माला,
विलीन हो जाऊँ गंगाजल में।

उत्तर साधक भोलानाथ उनके कानों में बार-बार मातृनाम सुधा पहुँचा रहा था। इष्ट क्षण में रामकृष्ण के हाथ की जयमाल सर्वदा के लिए स्थिर हो गई।

आप्तकाम महासाधक की सर्वसत्ता जगज्जननी के ज्योतिसागर में एकाकार हो गई।

1795 खृष्टाब्द के तंत्र साधना के क्षेत्र में बंगाल के इस महान साधक का देहावसान हो गया।

●

१२

यामुनाचार्य

दक्षिण के पांड्य राजा की राज-सभा। एक तरफ परम विद्वान दिग्विजई आचार्य कोलाहल और दूसरी ओर ईश्वरीय प्रतिभा से सम्पन्न बारह वर्षीय बालक यामुन। इस बेमेल 'योद्धाओं' के बीच बाद-विवाद देखने और सुनने वालों की भीड़ ठसाठस भरी राज-सभा।

पांड्यराज का निर्देश पाकर आचार्य कोलाहल ने शास्त्रार्थ शुरु की। उन्होंने पाणिनि और अधर कोष से कई प्रश्न पूछे। ऋजुता और दीप्त भंगिमा से खड़े होकर यमुना ने उनके प्रश्नों के उत्तर सहजता से दे दिए। तुमुल करतल ध्वनि से सभागृह गूंज उठा।

अब बारी-यामुन की थी। उसने कहा, 'आचार्य, आप के प्रश्न कोई गूढ़ नहीं थे। प्रतीत होता है कि मुझे एक बालक समझ कर आपने मेरी अवहेलना की है। शायद आपके अनुसार विशालकाय और विराट् उदर होने पर ही कोई अगाध पण्डित माना जा सकता है। तो क्या मैं यहा समझूँ कि एक विशालकाय हाथी आपकी अपेक्षा श्रेष्ठ पंडित है?'

सभा में हँसी के फौव्वारे फूट पड़े।

यामुन ने कहा—'आचार्यवर, आपको विदित है, जब अष्टावक्र ने जनक के सभा-पंडित बन्दी को पराजित किया था, उस समय उसकी अवस्था मात्र बारह वर्ष की थी। इसलिए मेरे साथ प्रश्नोत्तर के लिए उम्र का विचार नहीं करेंगे।'

फिर पाण्ड्यराज के निर्देश पर यामुन ने प्रश्न किया—'आचार्य कोलाहल, मैं आपसे अत्यंत सरल तीन प्रश्न करूँगा। मेरा प्रथम वक्तव्य है : आपकी माता बंध्या नहीं हैं। इस वाक्य का आप खंडन करें।'

आचार्य कोलाहल सकते में आ गए। यह क्या घृणित वाक्य है। निज माता के ज्वलंत पुत्र के रूप में जब वे राजसभा में बैठे हुए हैं, तब कैसे कहेंगे कि उनकी माता बंध्या है! नहीं, यह कोई प्रश्न नहीं है। इसका उत्तर कुछ नहीं दिया जा सकता।

यामुन ने फिर कहा—अब मेरे दो वाक्यों को आचार्यवर सुनें। मैं कहता हूँ कि पाण्ड्यराज पूर्णतः निष्पाप हैं। आपका इसका खंडन करें। मेरा शेष वाक्य है—हम लोगों की राजमाता जो इस समय राजसिंहासन पर उपविष्टा हैं, सावित्री के सदृश पवित्र हैं, आप मेरे इस वाक्य का भी खण्डन करें।

आचार्य कोलाहल विभ्रांत और विवृत हो उठे। अभियोग के स्वर में राजा से कहा—'महाराज, इन दोनों वाक्यों का खंडन करने के क्रम में मुझे प्रमाणित करना होगा कि आप पापी हैं और हम लोगों की राजमाता सती साध्वी नहीं हैं। नहीं, नहीं, यह बड़ा धृष्ट प्रश्न है। इसमें कूट और घृणा भी है। मैं इनका उत्तर नहीं दूँगा।'

पंडित कोलाहल के पक्ष में पंडितों और छात्रों ने शोर मचाना शुरू कर दिया—ये सभी प्रश्न अशालीन और असमीचीन हैं। कोलाहल के विरोधी भी अत्यधिक उत्तेजित हो उठे। उन्होंने जिद की कि जब प्रश्न किया गया है तो उस का उत्तर भी देना होगा। दोनों तरफ से वाक् युद्ध शुरु हो गया।

सभी लोगों को शांत रहने का आदेश देते हुए राजा ने कहा—'अच्छा, जब आचार्य कोलाहल इन प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ हो गए हैं तो यामुन ही इनका उत्तर दें।'

यामुन ने खड़े होकर राजा और विद्वत्जनों का अभिवादन किया और कहा—'अब मैं अपने वाक्यों का एक-एक कर खंडन करता हूँ। आचार्य कोलाहल अपनी माता के एकमात्र पुत्र हैं, फिर भी मैं कहूँगा कि उनकी माता बन्ध्या हैं। श्रेष्ठ धर्मशास्त्रकार मनु ने विधान दिया है कि एकाकी पुत्र का पिता एकाधिक पुत्र की कामना से पुनर्विवाह कर सकता है। शास्त्रकार चाहते थे कि पुत्रों के बीच से जो एक बचेगा, वह गया जाकर पिण्डदान देने में समर्थ तो हो सकेगा। मेघातिथि के भाष्य में भी हमलोग देखते हैं—एकः पुत्रोऽपुत्रो वा। अतएव आचार्य कोलाहल की माता को बन्ध्या कहा जा सकता है।'

सभा-कक्ष 'वाह-वाह' से गूंज उठा। जिस प्रकार का कूट प्रश्न, उसी प्रकार का कौशलपूर्ण उत्तर।

इसके बाद यामुन ने कहा—'अब राजा के निष्पाप होने का प्रश्न आता है। संहिता के एक श्लोक में मनु ने कहा है कि प्रजा की देखभाल के बदले में राजा प्रजा से कर लेता है। प्रजा की उत्पन्न वस्तुओं का षष्टांश उसका प्राप्य है। इस उत्पन्न वस्तु से आशय भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही वस्तुओं से है। इसीलिए तो ऐसा कहा जाता है कि राजा अपनी प्रजा के पाप-पुण्य के भी एक षष्टांश को ग्रहण करता है। अब आप ही लोग बोलें कि प्रजा क्या निष्पाप है? यदि प्रजा निष्पाप नहीं है तो राजा भी निष्पाप नहीं है।'

'जहाँ तक महारानी के साध्वी होने का सवाल है तो मनु ने कहा है—अभिषेक-अनुष्ठान के समय राजा के शरीर में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण प्रभृति अष्ट दिग्पाल विराजते हैं। तदनुयायी साम्राज्ञी, राजा और उनके अभ्यँतर स्थित अष्ट दिग्पाल दोनो की महिषी हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर आप क्या कहेंगे, वे सावित्री के समान साध्वी हैं?'

पूरा सभा-मंडप बाल-पंडित के जयघोष से गूंज उठा। आचार्य कोलाहल नतसिर थे। राजा ने अब वेदों और उपनिषदों से सवाल-जवाब के आदेश दिए। चूंकि आचार्य कोलाहल का आत्मविश्वास डिग चुका था और पूरा माहौल यामुन के पक्ष में था, इसलिए इस शास्त्रार्थ में भी आचार्य कोलाहल अंततः निरुत्तर हो गये। राजा ने बाल पंडित यामुन के विजय की घोषणा की। विजय माला उनके गले में डाली गई। रानी से किए गए वादे के अनुसार पांड्यराज ने अपने राज्य का आधा भाग बाल पंडित को दे दिया। आचार्य कोलाहल के पराजय की खबर पलक झपकते ही न केवल राज्य में वरन् राज्य से बाहर भी फैल गई।

यही विजयी बालक बाद में चलकर महान् तपस्वी यामुनाचार्य के रूप में विख्यात हुआ।

दक्षिण भारत के मदुराई में एक विख्यात वैष्णव ब्राह्मण के घर यामुनाचार्य का जन्म हुआ था। पिता का नाम ईश्वर मुनि था। पितामह नाथमुनि दिक्पाल पंडित थे। इनकी ख्याति एक सिद्धभक्त महापुरुष के रूप में थी। विशिष्टद्वैत के प्रथम पुरोधा नाथमुनि ही थे। प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य वेंकटनाथ के अनुसार 'समस्त अज्ञान-अंधकार के बिनाशार्थ यह दर्शन नाथमुनि द्वारा सूचित हुआ, यामुन के अनेक प्रयासों के फलस्वरूप इसने वृद्धि प्राप्त की एवं रामानुज द्वारा यह सम्यक् रूप में विस्तीर्ण हुआ।

नाथमुनि के एकमात्र पुत्र थे ईश्वरमुनि और 953 ई० में इन्हें यामुन के रूप में एक यशस्वी पुत्ररत्न की प्राप्त हुईं। असाधारण मेधा और प्रतिभा से सम्पन्न। पुत्र ईश्वर मुनि की अकाल मृत्यु से दुखी नाथ मुनि ने संसार-त्याग का निश्चय किया और संन्यास लेकर कृच्छ साधना शुरु की। उनका शेष जीवन प्रभु रंगनाथ जी के पवित्र पीठ में व्यतीत हुआ।

परिवार के लोगों के भरण-पोषण की व्यवस्था करने के उपरांत नाथ मुनि ने पौत्र को गुरु-गृह भेज दिया। प्रख्यात शास्त्रविद भाष्याचार्य की देख-रेख में बालक यामुन की शिक्षा-दीक्षा शुरु हुई। प्रारंभ में ही भाष्याचार्य को ज्ञात हो गया कि यह बालक ईश्वर प्रदत्त असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न है। इसीलिए उन्होंने यामुन को सर्वशास्त्रविद के रूप में तैयार किया था। उस दिन भाष्याचार्य के आनंद की सीमा न रही जब उनके चतुष्पाठी के छात्र यामुन ने दिग्विजयी और अहंकारी राजपंडित कोलाहल को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया और कोलाहल राज्य छोड़कर कहीं भाग गए।

बालक यामुन पांड्यराज के अभिभावकत्व और सहायता से अपने नए राज्य का परिचालन करने लगे। इसके साथ ही उनकी सारस्वत धारा भी प्रवाहित होने लगे। देश-देशांतर के विद्वान उनकी राजधानी में एकत्रित होने लगे। इन्हीं लोगों के साहचर्य से उन्होंने एक शास्त्र पारंगत विद्वत्मण्डली का गठन किया।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होने लगा, राज्य की सीमा बढ़ती गई। कोषागार सम्पन्न हो गया। युवक यामुन धन धान्य से पूर्ण एक राज्य के अधीश्वर हो गए। वे राजशक्ति और राजवैभव की ओर आकृष्ट हुए। लगभग तेइस वर्षों तक उन्होंने राज्य का कुशल संचालन किया।

इधर नाथमुनि के महाप्रयाण की बेला सन्निकट थी। वह यामुन के विलासितापूर्ण जीवन से खिन्न थे। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य उच्चकोटि के साधक मानाक्काल नम्बिके आदि को यह दायित्व सौंपा कि वह यामुन को श्री रंगनाथ के चरणों तले ले आएँ। यह दायित्व सौंपने के बाद नाथमुनि महाप्रयाण कर गए।

नम्बि अपने कार्य में लग गए। वे यामुन की राजधानी पहुँच गए। उन्हें अपना परिचय दिया। नाथमुनि के अंतिम क्षणों की कथा सुनाई। यामुन ने उन्हें उचित सम्मान देने के पश्चात् राज अतिथि भवन में ठहरा दिया नम्बि कई दिनों तक यामुन से वार्ता के प्रयास में रहे लेकिन सफलता नहीं मिली। इसी बीच उन्हें पता चला कि पड़ोसी राज्य के दुष्ट राजा के साथ युद्ध की तैयारी में यामुन व्यस्त हैं।

काफी चेष्टा के बाद नम्बि की मुलाकात यामुन से संभव हुई। यामुन ने कहा—'भक्त प्रवर एक आसन्न युद्ध की तैयारी में मैं व्यस्त हूँ। इच्छा रहने पर भी आप जैसे वैष्णव साधक के साथ कथावार्ता न कर सका।' यामुन ने कहा, 'प्रतिपक्षी अत्यधिक खल और बलशाली है। उस पर अकस्मात आक्रमण कर मैं उसका पूर्ण विनाश चाहता हूँ। इसके लिए अश्वारोहीवाहिनी की जरुरत है। इसके लिए अत्यंत बलवान और बेगवान् अश्वों के आयात की आवश्यकता है। इसके लिए विपुल धन चाहिए। इसी के इंतजाम में मैं व्यस्त हूं। थोड़ी प्रतीक्षा करें, समय आने पर आपके साथ फिर वार्ता करुंगा।'

नम्बि ने कहा—'महाराज अर्थ की चिंता आप न करें। मेरे पास प्रचुर द्रव्य संचित हैं। आप ही उसके एकमात्र अधिकारी हैं। आपके हाथों में यह धन सौंपकर मैं अपने दायित्वों से मुक्त होना चाहता हूँ महाराज।'

यामुन की आंखें चमक उठीं। उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की।

'महाराज, आपके पितामह नाथमुनि संन्यास लेने के बाद विपुल सम्पत्ति के अधिकारी हो गए। श्रीरंगम् की पुण्य भूमि में एकांत तपस्यारत रहते समय प्रभु की कृपा से उन्हें अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई। सब आपके लिए संचित रखी हुई हैं।'

राजा यामुन की जिज्ञासा बढ़ गई।

नम्बि ने कहा, 'महाराज सिर्फ मैं ही इसे जानता हूँ। यदि उस गुप्त सम्पत्ति को प्राप्त करना चाहते हैं तो अविलम्ब मेरे साथ चलें।' नम्बि ने आगे कहा, 'महाराज, गुप्तधन यहाँ से दूर श्रीरंगम अंचल में हैं। वहाँ आपको मेरे साथ अकेले और क्षद्मवेश में चलना होगा।'

राजकाज मंत्रियों को सौंपकर राजा यामुन श्री रंगम् की पुण्यभूमि की ओर चल पड़े। तीन कोस चलकर किसी गांव में दोनों लोग विश्राम करते। प्रातः उठकर नम्बि नित्यक्रिया के बाद पूजा-पाठ करते। गीता का पाठ प्रारंभ करते ही उनका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठता। उनके मुखमण्डल से एक दिव्य ज्योति की आभा प्रस्फुटित होने लगती और वे दिव्यानन्द से भर जाते। यामुन विस्मय के साथ परम भक्त की इस आनन्दमयी मूर्ति को एकटक देखते रहते। उनके अन्दर बार-बार एक भूचाल सा होता। वे सोचते कि नम्बि असीम आनन्द का अधिकारी है और उस स्वर्गिक आनन्द का आस्वादन कर उसका जीवन धन्य हो गया है।

६ दिनों के रास्ते में नम्बि ने इष्टाध्यायी का पाठ किया। इस पाठ से यामुन के भीतर दिव्यालोक का स्पर्श प्रतीत हुआ। मंत्रचैतन्य की तरह उसने काम किया। विषय-विमोहित राजा यामुन के जीवन में 'निर्झर का स्वप्न-भंग' घटित हुआ।

सातवें दिन प्रत्यूष में दोनों श्रीरंगम् पहुंचे। कावेरी में स्नान कराकर नम्बि ने यामुन को श्रीरंगनाथ जी के श्री विग्रह के सम्मुख उपस्थित किया और प्रेम-परिपूरित स्वर में कहा—'महाराज देखें अपने पितामह नाथमुनि का यह गुप्त भंडार। आपको इस भंडार का सधान देने हेतु मैं अपने गुरु के प्रति प्रतिश्रुत था जो आज पूरा हुआ।'

विग्रह दर्शन के साथ ही यामुन प्रेमावेश से व्याकुल हो गए और उनकी आंखों से पुलकाश्रु झरने लगे। उनके हृदयाकाश में श्रीरंगनाथ की ज्योतिर्मय और आनन्दघन मूर्ति उद्भासित हो उठी और इसके साथ ही वाह्य चेतना शून्य होकर वे मंदिर में मूर्छित हो गए।

उस दिन यामुन नूतन मानव में परिणित हो गए। राजा यामुन तो अब मर चुके थे, उनकी जगह जागृत हो गया था भक्ति-प्रेम के पथ का एक भिखारी साधक। शीघ्र ही यामुन ने राजसिंहासन का परित्याग कर पितामह नाथमुनि का पदानुशरण करते हुए संन्यास ग्रहण किया। इसके साथ ही प्रारंभ हुआ उनका अभियान प्रेम, भक्ति, प्रपत्ति और इष्ट-प्राप्ति के पथ पर।

राजधानी से तमाम राज्याधिकारी, स्वजन और मित्रगण श्रीरंगम आए। उन लोगों ने यामुन को काफी मनाने का प्रयास किया लेकिन वे अपने निर्णय पर अटल रहे। लोग हताश होकर लौट गए।

इधर श्रीरंगम के भक्त समाज विशेषकर विशिष्टा द्वैतवादियों में हर्ष की लहर दौड़ गई। उन्होंने सोचा नाथमुनि ने जिस प्रेममार्ग को प्रवर्तित किया था, प्रतिभावान यामुन की साधना और सिद्धि के द्वारा अब वह और अधिक प्रशस्त और आलोकमय होगा। कुछ ही वर्षों के भीतर यामुन एक भक्ति सिद्ध महापुरुष

के रूप में विख्यात हो गए। विशिष्टाद्वैत के श्रेष्ठ आचार्य के रूप में मान्य हुए। यामुन से हो गए यामुनाचार्य।

यामुनाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की एक विस्तृत व्याख्या उपस्थापित की। पितामह नाथमुनि की दार्शनिकता को दृढ़तर किया। परवर्ती काल में यामुनाचार्य के पौत्र के शिष्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद को और परिपुष्ट किया। आचार्य शंकर के प्रतिपक्षी दार्शनिक मतवाद के रूप में इसका आत्म-प्रकाश हुआ। यामुनाचार्य ने निर्विशेष ब्रह्मवादी आचार्यगणों का नामोल्लेख करके उनके मतों के निरसन हेतु ही 'प्रकरण प्रक्रम' की आवश्यकता स्वीकार की है।

शांकर मत की प्रबलता और भास्कर मत के अभ्युदय के समय ही वैष्णव भक्तवाद के स्थापनार्थ यामुनाचार्य का प्रयास प्रारंभ हुआ। उस समय दक्षिण भारत में सभी सम्प्रदाय अपने-अपने मतवाद की प्रतिष्ठा हेतु प्रयासरत थे, यामुनाचार्य भी वैष्णवमत की प्रतिष्ठा हेतु दार्शनिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। उस समय पूरा देश शंकर के ज्ञानवाद से सराबोर था। यामुनाचार्य ने जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया उनमें प्रमुख हैं—सिद्धित्रयम, स्तोत्ररत्नम् आगम प्रकाव्यम् तथा गीतार्थ संग्रह। सिद्धित्रयम में विशिष्टाद्वैत का निरुपण किया गया है।

यामुनाचार्य ने मुख्य रूप से शंकर के निर्विशेष ब्रह्मात्मवाद पर प्रहार किया है। उनके अनुसार चेतन-अचेतन ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म उस शरीर की आत्मा एवं अधिष्ठाता है। शरीर और शरीरी एक है क्योंकि ब्रह्म स्वरूपतः एक और अद्वितीय है। जिस प्रकार तरंग, फेन आदि अंशों के रहने पर भी निश्चय ही समुद्र को एक और अखंड कहा और समझा जाता है उसी प्रकार जीव, जगत् और ईश्वर आदि अनेकत्व के बावजूद समष्टि भूत सत्ता, पुरुषोत्तम नारायण तो एक और अखंड है। ईश्वर पुरुषोत्तम है। सृष्टजीव से वे श्रेष्ठ हैं। ईश्वर पूर्ण है, जीव अणु अंश हैं। ईश्वर तथा जीव नित्य पृथक हैं। मुक्तजीव ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करता है परन्तु वह ईश्वर भाव प्राप्त करने में सक्षम नहीं है। ब्रह्म और जीव में स्वगत भेद रहता है। भौतिक पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् और पुरुषोत्तम। चित् जीव, अचित् जगत् और पुरुषोत्तम ब्रह्म है। ब्रह्म सविशेष-सगुण, अशेष कल्याणमय गुणों के आगार और सर्व नियंता है। जीव उसका चिर दास है।

यामुनाचार्य परम प्रभु का एकान्तिक नित्यकिंकर बनकर रहना चाहते थे। वे दास्य एवं पराभक्ति के आकांक्षी थे इसीलिए सविशेष ब्रह्म एवं उनका मूर्त ब्रह्मस्वरूप ही उनका ध्येय था। अपने इस दार्शनिक सिद्धांत को उन्होंने ब्रह्मपुराण से ग्रहण किया था। उनकी रचनाओं में पराभक्ति और शरणागति सम्बन्धी तत्त्वों का मनोरम प्रस्फुटन हुआ है। वे लिखते हैं—

मखनाथ यदस्ति सोहस्म्याहम्
संकलं तृद्धि तवैव माधव
निपतं स्वमिति प्रबुद्धधीरथवा
किन्तु समर्पणामि ते ॥

अर्थात् हे नाथ, हे माधव, जो कुछ मैं हूं, जो कुछ भी मेरा है वह सभी तो तुम्हारी ही है। यदि कभी भी मुझे इस प्रकार का ज्ञान हो कि मैं सभी समय एकान्त भाव से तुम्हारा हूँ तब मैं अपनी कौन सी वस्तु और किस विधि से तुम्हें समर्पित कर सकूँगा?

इस शरणागति के साथ गौड़ीय वैष्णवों का सादृश्य है—मैं तुम्हें क्या दूँ, तुम्हें जो धन प्रदान करुंगा वह धन तो तुम ही हो। यामुनाचार्य ने इसीलिए अपनी सभी वस्तुएँ बेच दी थीं और सभी वस्तुओं को नारायण स्वरूप समझकर एक वैष्णव की भांति ग्रहण करते थे। उनका भाव था—तवैवाहम्। वैष्णव कवि का भाव अनेक परिमाण में यह भी था—ममैवत्वम्।

यामुनाचार्य—दास्यभाव को श्रेष्ठ मानते थे। एक स्तोत्र में वे प्रार्थना करते हैं—हे प्रभु, तुम्हारे प्रति सभी भावों की अपेक्षा दास्यभाव ही सर्वश्रेष्ठ है। एकमात्र दास्यसुख में आसक्त व्यक्ति के गृह में कीट रूप में जन्म लेना भी सार्थक है। परन्तु अन्य बुद्धिविशिष्ट के घर चतुर्मुखब्रह्मा के रूप में अवतरित होना मुझे काम्य नहीं।

यामुनाचार्य अब वृद्ध हो चले थे। उनकी चिंता थी कि उनके द्वारा स्थापित दार्शनिक सिद्धान्तों को कौन आगे बढ़ाएगा? एक दिन उनकी भेंट कांचीपूर्ण से हो गई। बातचीत में प्रसंग आने पर कांचीपूर्ण ने वेदान्ती यादव प्रकाश के कृती छात्र लक्ष्मण का नाम सुझाया। यामुनाचार्य के खुशी का ठिकाना न रहा। वह कुछ दिनों बाद वरदराज के विग्रह के दर्शन के लिए कांचीपुर गए। स्नान, तर्पण और पूजा आदि समाप्त कर वह कांचीपूर्ण तथा अन्य भक्तों के साथ अपने आवास के लिए लौट रहे थे तभी रास्ते में वेदान्त केसरी यादव प्रकाश अपनी शिष्य मंडली के साथ आते हुए दिखाई पड़ गए। उनके साथ लक्ष्मण भी था।

यामुनाचार्य मार्ग के किनारे खड़े हो गए। कांचीपूर्ण ने कहा—'आपकी आज्ञा हो तो मैं लक्ष्मण को बुलाकर ले आऊँ।'

'नहीं कांचीपूर्ण, इसकी आवश्यकता नहीं। लक्ष्मण को मैंने आशीर्वाद प्रदान कर दिया है। उसके भीतर पराभक्ति के उन्मेष हेतु मैंने अपनी दृष्टि का शक्तिपात कर दिया है। आज निर्भ्रान्त होकर मैंने जान लिया है कि यही लक्ष्मण श्री सम्प्रदाय का भावी नायक है।'

कालांतर में इसी प्रतिभा सम्पन्न छात्र का अभ्युदय रामानुज के रूप में हुआ।

यामुनाचार्य श्रीरंगम लौट आए। उनके दिमाग में लक्ष्मण का लावण्यमय, तेजस्वी और पवित्र रूप घूमता रहा।

इसी बीच एक खबर मिली कि लक्ष्मण का अपने गुरु यादव प्रकाश से तीव्र मतभेद हो गया है जिसके कारण लक्ष्मण उनसे अलग हो गए हैं और कांचीपूर्ण का आश्रय ग्रहण कर लिया है।

लक्ष्मण महात्मा कांचीपूर्ण से दीक्षा लेना चाहते थे लेकिन वे लगातार टालते रहे। कहते, 'वत्स मैं तो प्रभु वरदराज का कंगाल भक्त हूँ। इसके अलावा मैं जाति से शूद्र हूँ। तुम जैसे पवित्र ब्राह्मण को मैं कैसे दीक्षा दे सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि प्रभुकार्य के निमित्त तुम्हारी दीक्षा अन्यत्र होनी है।'

इधर यामुनाचार्य रोग शैया पर पड़ गए। उन्होंने अपने अंतरंग शिष्य महापूर्ण को बुलाकर कहा—'मेरी विदा-बेला प्रायः समागत है। इस समय श्री सम्प्रदाय के भक्तिवाद और उसके भविष्य के सम्बंध में व्याकुल हो रहा हूं। वाचस्पति मिश्र का अभ्युदय हो गया है, शांकर मत को उन्होंने निपुणता के साथ प्रपंचित किया है। इसके विरुद्ध विशिष्टाद्वैत कितने दिनों तक टिक सकेगा?' उन्होंने आगे कहा, 'एक ही उपाय है। तुम शीघ्र कांची जाकर लक्ष्मण को श्रीरंगम ले आओ।'

महापूर्ण कांची पहुँच गए। प्रभु वरदराज के मंदिर में जाकर उन्हें प्रणाम किया और लक्ष्मण की प्रतीक्षा करने लगे। लक्ष्मण जब सिर पर जल से भरा घड़ा लेकर समीप आए तो महापूर्ण ने यामुनाचार्य प्रणीत एक स्तोत्र का गान करने लगे। इसने लक्ष्मण के भीतर दिव्य उन्माद जागृत किया। उन्होंने महापूर्ण से प्रश्न किया—'महात्मन् अमृत-सिंचित इस स्तोत्र को आपने कहाँ पाया?'

'यह मेरे प्रभु यामुनाचार्य की रचना है।'

'क्या कृपा पूर्वक उनके आश्रय में आप मुझे ले जाएंगे?'

'वत्स आचार्य तुम्हारे दर्शन के लिए व्याकुल हैं। वे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे मृत्यु शैया पर पड़े हुए हैं। यदि उनके दर्शन की अभिलाषा हो तो विलम्ब न करो।'

करीब चार दिनों तक पैदल चलने के उपरांत जब महापूर्ण और लक्ष्मण श्रीरंगम् पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि यामुनाचार्य अब इस संसार में नहीं रहे। उनके पार्थिव शरीर को घेरकर तमाम लोग क्रंदन कर रहे हैं। लक्ष्मण ने उनके शव को साष्टांग दण्डवत किया। जब उनकी निगाह हाथ पर गई तो देखा कि यामुनाचार्य की तीन अगुलियाँ मुष्ठिवद्ध होकर रह गयी है। सेवकों ने बताया कि आचार्य तीन संकल्पों के लिए अधिक चिंतित रहते थे, इसीलिए ये तीनों अंगुलियाँ मुष्ठिबद्ध हैं।

भक्तप्रवर लक्ष्मण दिव्य भावाविष्ट होकर गिर पड़े। उन्होंने तीनों संकल्पों का उच्चारण किया। उन्होंने कहा—'विष्णुभक्तिमय द्राविड़ वेद का मैं प्रचार करूँगा, ज्ञानहीन जनों के मध्य उस भक्ति-सुधा का वितरण करूँगा और लोक-रक्षा का व्रत लेकर मैं तत्वज्ञानमय श्री भाष्य की रचना करूँगा। पुराण-रत्न विष्णु पुराण के रचयिता पराशर मुनि के नाम से चिन्हित करके मैं भक्तिवाद में एक श्रेष्ठ व्याख्याता का निर्माण करूँगा।'

अंतरंग भक्तों ने एक अलौकिक दृश्य देखा। इन संकल्पवाणियों के उच्चरित होते ही प्राणहीन यामुनाचार्य की तीनों बद्ध अँगुलियाँ खुल गईं। सभी जान गए कि लक्ष्मण ही यामुनाचार्य के भावी उत्तराधिकारी हैं, जिन्होंने अब श्री सम्प्रदाय का नेतृत्व-भार ग्रहण कर लिया है।

यामुनाचार्य की अंतिम क्रिया प्रारंभ होने के साथ ही कावेरी की विशाल तटभूमि मुखरित हो उठी सहस्त्र कंठों के स्तुति—गान से और तत्पश्चात् फूट-पड़ा अंतरंग भक्त गणों का शोकाकुल क्रंदन।

●

१३
आचार्य मध्व

तेरहवीं सदी में आचार्य मध्व का आविर्भाव एक अविस्मरणीय घटना है। ब्रह्म-सूत्र की ब्रह्मवादी व्याख्या के माध्यम से उन्होंने एक नवीन द्वैतवादी दर्शन का प्रचार किया है। वे भक्तिवादी चतु:सम्प्रदाय में श्रेष्ठतम ब्रह्मसम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं। उनके द्वारा प्रचारित तत्व एवं धर्मादर्श ने गौड़ीय वैष्णव एवं बल्लभाचारियों के मतवाद को काफी हद तक प्रभावित किया है।

मध्व का आविर्भाव ११९९ ई० में भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तट के पास बेले ग्राम के पाजका क्षेत्र में हुआ। उस समय यह क्षेत्र तुलुब राज्य के अंतर्गत था। शंकर का जन्मस्थान शृंगेरी तथा मंगलोर मध्व के जन्म स्थान से ४० मील से अधिक नहीं रही होगी। मध्व के पिता का नाम मध्यगेह नारायण भट्ट था। वे वेद वेदांत के प्रकाण्ड विद्वान थे। निष्ठावान विष्णु भक्त थे। उनकी पत्नी वेदवती भी परम भक्तिनिष्ठ थीं। घर के अंदर नारायण शिला प्रतिष्ठित थी। मध्यगेह भट्ट के दो पुत्र और एक कन्या थी। लेकिन तरुण अवस्था में ही दोनों पुत्र काल-कवलित हो गए। पिण्डदान की चिंता से ग्रसित मध्यगेह भट्ट उडुपी के नारायण मंदिर में बैठे एकाग्र हो जप-ध्यान कर रहे थे। नवमी थी। दिन बीता। रात गहरा गई लेकिन भट्ट ध्यानस्थ रहे। अकस्मात् मंदिर का गर्भगृह शुभ्र-स्निग्ध स्वर्गीय ज्योति से उद्भासित हो उठा। भविष्यवाणी हुई, 'आज दशहरे का अंतिम दिन नवमी है। एक वर्ष बाद इसी पवित्र तिथि को तुम्हारे घर एक पुत्र जन्म लेगा।' घर लौट कर उन्होंने पत्नी वेदवती को यह कथा सुनाई तो दोनों के ही नेत्र सजल हो गए।

उडुपी के अनन्तेश्वर की देववाणी फलित हुई। ठीक एक वर्ष बाद ११९९ ई० की नवमी को भट्ट की धर्मपत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया जो आगे चल कर माधवाचार्य के नाम से विख्यात हुआ। इसका नामकरण किया गया—वासुदेव।

बालक वासुदेव के संबंध में कई अलौकिक कहानियां प्रचलित हैं। एक दिन वे अपने बाल सखाओं के साथ खेल रहे थे। बगल से एक सांड़ गुजरा। वासुदेव उसका पूंछ पकड़कर झूल गये। साड़ क्रुद्ध होकर दौड़ पड़ा और जंगल में घुस गया। इधर देखने वाले चीखने-चिलाने लगे—बचाओ बच्चे को। साड़ जंगल में अनेक कंटकाकीर्ण मार्गों से गुजरा। वासुदेव ने पूंछ नहीं छोड़ी। थक-

हार कर साड़ लौटा और मध्यगेह के घर के सामने आकर लोट गया। वासुदेव गर्वपूर्वक वन-भ्रमण की कहानी उपस्थित लोगों को सुनाने लगे।

एक दिन संध्या के बाद भट्ट दम्पति वासुदेव के साथ उडुपी के अनन्तेश्वर मंदिर गए हुए थे। स्नान-ध्यान में काफी समय बीत गया। रात में जंगली मार्ग से घर लौट रहे थे। सहसा एक प्रेत उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया। भट्ट दम्पति जड़वत हो गए। लेकिन वासुदेव के चेहरे का भाव क्षणभर में ही परिवर्तित हो गया। समुंन्नत ग्रीवा और क्रोध से नेत्र रक्ताभ। पता नहीं किस मंत्र का उच्चारण करने लगे। प्रेत तुरंत अन्तर्ध्यान हो गया। वासुदेव फिर सहज हो गए। भट्ट दम्पति बालक वासुदेव को सीने से चिपकाए इष्टजाप करते घर आए।

खेल प्रतियोगिताओं में भी बलिष्ठ शरीर वाले वासुदेव हमेशा आगे रहे। कुश्ती में कभी हारे नहीं। उनके साथी इसीलिए उन्हें भीम कहा करते थे। विचारशक्ति भी अद्वितीय थी।

अल्प वयस्क काल में ही वासुदेव प्रतिभाधर पण्डित एवं शुद्धाचारी भक्ति परायण साधक के रूप में परिणत हो गए थे। उन्होंने मन ही मन आचार्य अच्युत प्रकाश से वेद-वेदान्त एवं दर्शनों का उच्चतम पाठ ग्रहण करने का निश्चय किया। उडुपी मठ में आचार्य अच्युत प्रकाश का आश्रय ग्रहण करने के उपरांत वासुदेव के जीवन में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। अपूर्व निष्ठा से न्याय, सांख्य, वेद-वेदांत के अध्ययन की ओर अग्रसर हुए और एक के बाद एक सभी में पारंगत हो गए। धीरे-धीरे इस प्रतिभाशाली छात्र की कीर्ति सभी मठ-मंदिरों में फैलने लगी।

विद्याध्ययन के पश्चात् पिता ने वासुदेव से शादी करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा व्यक्त की जिसे वासुदेव ने विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा, 'पिताजी गार्हस्थ जीवन हमारे लिए नहीं है। मैं जल्द ही संन्यास ग्रहण करने वाला हूँ।'

पिता के ऊपर तो जैसे वज्रपात हो गया। उनके सारे तर्क जब विफल हो गए तो उन्होंने मृत्योपरांत पिण्डदान की समस्या प्रस्तुत की। इस पर वासुदेव ने कहा 'पिताजी, मेरे द्वारा आपके पारलौकिक कल्याण में कोई क्षति न हो इसका मैं ध्यान रखूँगा। मैं आचार्य अच्युत प्रकाश के आश्रम में रहते हुए संन्यास ग्रहण का कार्यक्रम फिलहाल स्थगित रखूँगा। मेरा अंतर कह रहा है कि निकट भविष्य में मेरा एक अनुज जन्म ग्रहण करेगा। उसके बाद आप लोगों को पिण्डदान के लिए कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। उसके जन्म के बाद ही मैं संन्यास-आश्रम में प्रवेश करूँगा।'

और वासुदेव ने अपने अनुज के जन्म के बाद संन्यास ग्रहण कर लिया। उन्होंने आचार्य अच्युत प्रकाश के आश्रम में ही रहकर साधना तथा स्वाध्याय जारी रखा। इस तरह बारह वर्ष बीत जाने के बाद मध्यगेह नारायण भट्ट के एक और पुत्ररत्न प्राप्त हुआ।

अब वासुदेव के मार्ग में कोई बाधा नहीं रही। उन्होंने पिता की सहमति लेकर गृह त्याग दिया और फिर शुरु हुआ संन्यास जीवन का कठोर व्रत। गुरु ने इस शिष्य का संन्यास नाम पूर्णप्रज्ञ-तीर्थ रखा। आचार्य मध्यगेह का पुत्र होने के नाते वे आचार्य मध्व के नाम से भी परिचित हो गए।

एक दिन आचार्य अच्युत प्रकाश ने उडुपी मठ का सारा भार मध्व को सौंप दिया और उनका नया नाम रखा-आनंदतीर्थ।

देश में उन दिनों शास्त्रार्थ की परम्परा चरम पर थी। उडुपी मठ में भी तमाम शास्त्रविद आते रहते और उनसे शास्त्रार्थ में मध्व ही स्वयं को प्रस्तुत करते। इसलिए साधु-संन्यासियों और शास्त्रविधों के मध्य मध्व के शास्त्रज्ञान तथा विचार निपुणता की बात काफी फैल गई थी। आचार्य मध्व अपने तर्क युद्ध में भक्तिवादी व्याख्या एवं विचारों से उन्हें परास्त करते। दरअसल मध्व भक्ति आंदोलन के नवीन धारा का प्रवर्तन करना चाहते थे। इसके लिए सर्वप्रथम शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन जरुरी था। इसके साथ ही रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से पृथक एक नवीन भक्तिवाद की धारा को वे जन्म देना चाहते थे। इसके लिए शास्त्र पण्डितों को पराजित करके विद्वत् जगत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना आवश्यक था।

आचार्य अच्युत प्रकाश अपने शिष्य की तर्कशक्ति से आनंदित थे। एक दिन उन्हें पास बुलाकर बोले, 'वत्स सुरक्षात्मक तर्क युद्ध का समय समाप्त हो गया है। अब आक्रामक तर्क युद्ध का समय आ गया है। इसके लिए तुम्हें मठ से बाहर निकलना होगा और राजदरबारों तथा मठों-आश्रमों के विद्वत्जनों को शास्त्रार्थ की चुनौती देनी होगी।'

मध्व ने गुरु का आदेश शिरोधार्य किया और मठ से निकल पड़े। पहले उन्होंने दक्षिण भारत का दौरा किया। एक-एक कर विभिन्न दार्शनिकों और साधकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। घूमते-फिरते वे विष्णुमंगल तीर्थ में उपस्थित हुए। यहाँ गुरु अच्युत प्रकाश से उनकी मुलाकात हुई।

रिद्धि-सिद्धि सम्पन्न मध्व ने कई अवसरों पर कुछ यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी किया है। एक बार वे अपने साथियों के साथ घोर जंगल से गुजर रहे थे। न कोई आश्रम, न कोई गाँव। सभी साथी भूख से पीड़ित थे। यही हाल रहा तो कुछ का प्राणांत तय था। मध्व एक छतनार वृक्ष की छाया में बैठ गए। सहसा

उनके शरीर में एक दिव्यभाव का आवेश दृष्टिगोचर हुआ। एक साथी के झोले में रोटी का एक टुकड़ा मिल गया। उसे टुकड़े को हाथ में लेकर मध्व कुछ बुदबुदाएँ। सभी ने विस्मयपूर्वक देखा कि न जाने कहां से रोटियाँ झोली में आ गईं। सभी ने अपनी-अपनी क्षुधा शांत की।

एक और कथा : मध्व अपने साथियों के साथ त्रिवेन्द्रम आ गए। यहाँ के राजा भक्त और विद्याव्यसनी थे। मध्व ने राजा से साक्षात्कार किया। मध्व के कांतियुक्त चेहरे को देखकर राजा उनकी ओर आकर्षित हुए। सादर अभ्यर्थना के बाद उन्होंने कहा, 'सन्यासीवर, आदेश करें, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।'

'महाराज मैं सर्वत्यागी संन्यासी हूँ। मेरा व्यक्तिगत सेवा की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं भक्तिवाद के प्रचार के लिए कृतसंकल्प हूँ। आप शीघ्रातिशीघ्र एक विचार-सभा का आयोजन करें। उस सभा में भक्तिहीन अद्वैतवाद पर निर्मम प्रहार करूँगा।' आचार्य मध्व ने धीर-गंभीर स्वर में कहा।

'क्या आप रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी हैं?'

'नहीं महाराज, मेरा भक्तिवाद उससे बिल्कुल अलग है। मेरे विचार से ब्रह्म एवं जीव नित्य पृथक हैं। ब्रह्म स्वतंत्र है तथा जीव अस्वतंत्र। इसीलिए इस द्वैतवाद को स्वतंत्र-अस्वतंत्रवाद के नाम से सम्बोधित करना उचित होगा। इसमें शंकर और रामानुज दोनों से ही चरम विरोध है।'

'इस तत्त्व के प्रणेता कौन हैं?'

'महाराजा सनत् कुमार इस तत्व के आदिगुरु हैं। ईश्वर की कृपा से मेरे माध्यम से इसका पुनः प्रचार होने जा रहा है।'

'परन्तु यतिवर, आपने क्या अपने इस मतवाद के समर्थन में ब्रह्मसूत्र के किसी भाष्य की रचना की है? ऐसा न होने से देश के साधु-संन्यासी तथा पण्डित समाज इस मतवाद को किस तरह ग्रहण करेगा?'

'महाराज, मेरा सूत्र भाष्य मेरे कण्ठ में ही विराजमान है। आप शीघ्र विचार-सभा की व्यवस्था करें और प्रतिपक्षी के रूप में किसी अद्वैतवादी को आमंत्रित करें।'

'यतिवर, निकट ही शृंगेरी में गुरु विद्याशंकर महाराज निवास करते हैं। वे मात्र शृंगेरी मठ के ही अधीश्वर नहीं हैं, वरन् सारे दक्षिणात्य में शांकर अद्वैतवाद के श्रेष्ठ स्तंभ हैं। मैं उन्हीं को आमंत्रित करता हूँ।'

विचार-सभा का आयोजन हुआ। लोग कौतूहल से इस सभा में उपस्थित हुए। दोनों विद्वानों में भीषण तर्क युद्ध शुरु हुआ। लेकिन आचार्य मध्व साधक शिरोमणि विद्याशंकर के श्रतिसिद्ध युक्तिजाल को तोड़ने में असमर्थ रहे। अंततः उन्हें अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

इस पराजय से आचार्य मध्व ने श्रृंगेरी मठ और मूर्धन्य पंडित विद्याशंकर को अपना दुश्मन नम्बर एक मान लिया। उनका द्वैतवाद की स्थापना का संकल्प और दृढ़ हो गया। सन् 1228 ई० के लगभग आचार्य मध्व ने अपना दक्षिण भारत का पर्यटन समाप्त किया और इससे ठीक पहले उनका आचार्य विद्याशंकर से पुनः शास्त्रार्थ हुआ। आचार्य मध्व उस समय लगभग तीस वर्ष के थे।

आचार्य मध्व त्रिवेन्द्रम से सीधे रामेश्वर धाम चले आए। वहां उन्होंने चार महीने एकांत तपस्या में बिताया। यहां भी अद्वैतवादी पण्डित और संन्यासीगण उन्हें अद्वैतवाद पर शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहे। लेकिन मध्व ने उधर धान न देकर अपना चतुर्मास व्रत समाप्त किया। इसके बाद अपने साथियों और शिष्यों के साथ श्रीरंगम् चले आए। परम प्रभु नारायण की सेवा—अर्चना में कुछ समय व्यतीत करने के बाद वे उडुपी वापस आ गए।

उडुपी वापस होने से पहले जब वे विष्णुकाँची में थे तभी उन्हें अद्वैती एवं शैव संन्यासियों के एक दल ने घेर लिया। मध्व को उन लोगों ने शास्त्रार्थ के लिए विवश किया। उसी समय मध्व के भीतर एक दिव्यभाव का प्रवेश हुआ। शास्त्रार्थ के दौरान ऐसा लगा जैसे स्वयं माँ सरस्वती इस संन्यासी के कंठ में विराजमान हों। विरोधी पण्डितगण मध्व की अलौकिक प्रज्ञा देखकर अवाक् रह गये। विष्णुकांची और शिवकांची दोनों ही स्थान मध्व के जय जयकार से गूँज उठे।

उडुपी मठ में गुरु के आदेश से आचार्य मध्व ने अपने मत के समर्थन में गीता भाष्य की रचना की। इसमें कई वर्ष लग गए। इसके बाद उनकी दृष्टि वाराणसी एवं हरिद्वार पर पड़ी। उन्होंने पहले वाराणसी जाने का निश्चय किया ताकि वहाँ के पण्डितों और विद्वानों द्वारा अपने भाष्य की समालोचना के अनुसार उसमें संशोधन कर सकें। इसके बाद वे हिमालय जाकर व्यासदेव का आशीर्वाद ग्रहण करेंगे तनुपरांत हरिद्वार में नूतन भक्तिवाद की घोषणा करेंगे।

दक्षिण से उत्तर की ओर पदयात्रा के दौरान आचार्य मध्व और उनके दल के सदस्यों को नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन पर अपनी अलौकिक शक्तियों तथा योग द्वारा मध्व ने विजय प्राप्त किया। जब वे महाराष्ट्र के खण्ड राज्य देवगिरि से गुजर रहे थे, तब उनके साथ एक कौतुकपूर्ण घटना घटी। यहाँ के तरुण राजा महादेव को सिंहासनारूढ़ हुए कुछ ही दिन बीते थे। जनसाधारण के कल्याण के लिए उन्होंने एक बड़ा तालाब (खाल) खोदने का आदेश जारी किया। राजा ने ऐलान किया था कि इस खाल के करीब से जो व्यक्ति गुजरेगा, उसे एक दिन श्रमदान करना पड़ेगा। मध्व का दल जब खाल के निकट से जा रहा था तब उन्हें राज्य के प्रहरियों ने पकड़ लिया। उन लोगों को

राजा का आदेश सुनाया और श्रमदान के लिए बाध्य करने लगे। उस दिन संयोगवश राजा स्वयं खनन-व्यवस्था देखने आए हुए थे। उन्होंने रक्षकों और मध्व के दल के बीच तर्क वितर्क सुनकर जिज्ञासा जाहिर की। पहले रक्षकों ने अपनी बात बताई। फिर मध्व ने कहा, 'महाराज, साधारण प्रजा की मंगल-कामना से आपने इस खाल के खनन का आदेश दिया है, यह अच्छी बात है। पर इसके लिए साधु-संन्यासियों की धर पकड़ क्यों ?'

'राजा का विधान साधु-असाधु सबके लिए ही प्रयोजनीय है।' राजा का उत्तर था।

'कार्य का उत्तरदायित्व प्रधानत; राजा और उसके गृहस्थ प्रजा-जनों का है। साधु-संन्यासी क्यों इसके लिए परिश्रम करें ?'

'साधु-संन्यासियों के भोजन-वस्त्र की व्यवस्था समाज ही करता है। इसके प्रतिदान में क्या जनकल्याण के कार्य में साधु-संन्यासियों को अंशदान नहीं करना चाहिए ?'

थोड़ी देर तक तर्क-वितर्क के बाद आचार्य मध्व ने कहा, 'महाराज, आप इस राज्य के अधीश्वर हैं, प्रजा के पिता तथा रक्षाकर्ता हैं। प्रजा के मंगल हेतु जो पवित्र अनुष्ठान आपने शुरु किया है, उसमें आपके मंगल-हस्त का स्पर्श रहना उचित है। इतना बड़ा कार्य हो रहा है, परन्तु उसमें आपका स्पर्श पड़ रहा है क्या ?'

'नहीं, वह तो नहीं पड़ रहा है।'

'उस भूल का आज ही तथा अभी मार्जन करें महाराज।'

'संन्यासीवर आप ठीक कह रहे हैं, मैं अभी खनन कार्य में लग जाता हूँ।' कहते हुए कुदाल और टोकरी लेकर राजा खाल के भीतर उतर पड़े।

खुदाई करते-करते राजा प्रेताविष्ठ हो गए। पहर पर पहर बीतते गए। राजा पसीने से तर-वतर हो गए। अनुचरों ने उनसे खुदाई रोक देने की विनती की लेकिन वे खुदाई करते रहे। प्रासाद में भी खबर की गई। रानियां भयभीत हो उठीं। सभी लोग उनकी ओर दौड़ पड़े।

मध्व के एक शिष्य ने अतत: इस रहस्य का भेद खोल दिया। उसने कहा, 'दुर्भाग्यवश राजा हमारे आचार्य की शक्ति को नहीं समझ पाए। आचार्य वायु के अवतार हैं तथा प्रभु नारायण की लीला के प्रधान सहायक हैं। राजा के ऊपर वे क्रुद्ध हो गए हैं इसलिए राजा के ऊपर वायु का प्रकोप हो रहा है। आचार्य को प्रसन्न किए बिना राजा की रक्षा असंभव है।'

यह सुनते ही सभी लोग आचार्य मध्व के चरणों पर गिरकर उनसे शांत होने का अनुनय करने लगे। आचार्य का क्रोध समाप्त होने पर राजा पूरी तरह

स्वस्थ और स्वाभाविक हो गए। राजा भी आचार्य के चरणों पर नत हो गए। आचार्य ने उनसे कहा, 'महाराज, एक बात सर्वदा स्मरण रखिएगा, साधु-संन्यासीगण, कर्म एवं ध्यान के माध्यम से ही समाज का प्रकृत कल्याणसाधन करते जा रहे हैं। भगवान श्री नारायण का दर्शन कितने लोग पाते हैं? परन्तु नारायण के चिन्हित सेवक, साधु-संन्यासियों के दर्शन सभी अनायास ही पाते हैं। इन्हीं के माध्यम से पृथ्वी और बैकुण्ठ में योग-सूत्र की रचना होती है। इसलिए इस बात का ध्यान रखें कि आपके राज्य में साधुओं की अमर्यादा न हो। आशीर्वाद देता हूँ कि आप के खाल का खनन कार्य अत्यल्प काल में ही समाप्त हो जाएगा।'

आचार्य मध्व राजा को आशीर्वाद देकर आगे चल पड़े। उन्होंने राज्य में कुछ दिन टिकने का राजा का अनुरोध स्वीकार नहीं किया।

परिव्राजन करते-करते मध्व एक घने जंगल में पहुँचे। दिन ढलने पर उन्होंने अपने शिष्यों के साथ एक पेड़ के नीचे विश्राम करने का निश्चय किया। मध्व के एकनिष्ठ शिष्य सत्यतीर्थ अपने गुरु के खाने के लिए फल लाने के लिए जंगल में प्रविष्ट हुए। थोड़ी ही देर बाद एक बाघ का गर्जन सुनाई पड़ा। सभी को सत्यनिष्ठ की चिंता सताने लगी। मध्व अपने शिष्यों के साथ उस ओर चल पड़े। उन लोगों ने देखा—सत्यतीर्थ पेड़ पर चढ़कर फल तोड़ रहे थे। बाघ थोड़ी दूर पर आक्रामक मुद्रा में बैठा दहाड़ रहा था। बार-बार वह अपने शिकार की ओर देख रहा था। इस समय आचार्य मध्व के शरीर में एक दिव्य का आवेश दृष्टिगोचर हुआ। भावकम्पित शरीर से धीरे-धीरे इस बाघ की ओर अग्रसर हुए। बाघ सम्मोहित सा स्थिर बैठा उनकी ओर ताक रहा था। मध्व ने बाघ के ऊपर हथा फेरा। बाघ सिर झुकाये धीरे-धीरे जंगल में खो गया। सभी की जान में जान आई। सत्यतीर्थ को पेड़ से उतार कर वे लोग वापस चले गए।

सत्यतीर्थ के कृतज्ञता ज्ञापन पर मध्व ने कहा, 'वत्स, तुम्हारा जीवन तो विष्णु भगवान के काम में उत्सर्गित हैं। ईश्वरीय काम के सम्पादन हेतु तुम्हारा बचे रहना आवश्यक था। तुमने मेरे गीता-भाष्य एवं सूत्र-भाष्य की अनुलिपि लिखीं है। सेवा तथा कर्म में मेरी नाना प्रकार से सहायता की है। इसी बात को तो मैंने हिंस्त्रबाघ को इशारे द्वारा समझाया। इसी से वह कोई प्रतिवाद न करके तुम्हें छोड़कर चला गया।'

मध्व की इस योगविभूति रूप को देखकर सभी शिष्य आश्चर्यचकित रह गए।

लम्बे परिब्राजन के बाद मध्व वाराणसी पहुँचे। यहाँ मठाधीशों से उनकी घनिष्ठता हुई। गीता-भाष्य और ब्रह्मसूत्र-भाष्य की जिस नूतन द्वैतवादी भक्ति-धर्म

की उन्होंने व्याख्या की थी, उस सम्बन्ध में स्थानीय साधकों एवं पण्डितों के साथ विचार-विनिमय का सुयोग प्राप्त हुआ। इसके बाद मध्व ने पवित्र साधन-धाम हरिद्वार में प्रवेश किया।

मध्व ने व्यास-गुहा में बैठकर कई दिनों तक तपस्या की। सुदीर्घ ध्यान तथा मनन के पश्चात् महामुनि व्यास उनके समक्ष आविर्भूत हुए। मधुर हँसी के साथ अपने हाथों के सूत्र का भाष्य उठाकर उन्हें कृतार्थ किया। इसके बाद महामुनि ने कहा, 'मध्व मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मतवाद ने भारतीय दर्शन को पुष्ट किया है। यह इस युग में भक्तिधर्म के विस्तार साधन का हेतु बना है। अब तुम महाभारत के भाव निर्णयकारी एक ग्रंथ की रचना करो! इससे तुम्हारा पुण्य कर्म सहजतर होता जायेगा।' मध्व के हाथों में एक संपुट देते हुए उन्होंने स्नेहपूर्वक आगे कहा, 'वत्स इसमें तीन परम पवित्र शालग्राम शिलाएं हैं। वापस जाकर इन शिलाओं को जिन-जिन स्थानों पर तुम स्थापित करोगे, वे जाग्रत पीठों के रूप में प्रसिद्ध हो जाएँगे।' महामुनि के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके मध्व गुहा के बाहर आ गए। इन परम पवित्र शिलाओं को मध्वाचार्य ने समारोहपूर्वक सुब्रमण्य, उडुपी एवं मध्यतल, इन तीन मठों में स्थापित किया था।

हिमालय की गोद में स्थित तीर्थों के परिब्राजन के पश्चात् मध्व समतल भूमि में आ गए। फिर शुरु हुई भक्तिसिद्धि महासाधक, अद्वैतवादी, महादार्शनिक माध्वाचार्य की अविस्मरणीय भूमिका। सारा जीवन उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध संघर्ष में लगा दिया। अपने मत के प्रचार में मध्व ने स्मृतियों एवं पुराण-शास्त्रों की अधिक सहायता ली। वे रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के ऊपर आघात करने में भी पीछे नहीं रहे।

मध्वमत की प्रधान भित्ति है भेदवाद। ईश्वर एवं जीव, सेवावस्तु तथा सेवक नित्य पृथक् तथा नित्य भेदयुक्त है। मात्र यही नहीं, ईश्वर स्वतंत्र है तथा और सभी परतन्त्र अथवा ईश्वर पर निर्भर। उनका यह द्वैतवाद दार्शनिक क्षेत्रों में स्वतंत्र-अस्वतंत्रवाद नाम से परिचित है। मध्वपंथीगण अपने सम्प्रदाय को सद्-वैष्णव कहते हैं।

मध्वाचार्य ने ब्रह्म अथवा परमात्मा के स्थान पर विष्णु अथवा नारायण को स्थापित किया है। उनका कहना है कि सृष्टि के आदि से एक एवं अद्वितीय आनन्दस्वरूप भगवान नारायण विराजित थे। उस समय ब्रह्मा अथवा शिव कोई भी नहीं थे इस विष्णु के शरीर से ही यह विश्वचराचर सृष्टि हुआ है एवं ये विष्णु या नारायण ही एकमात्र सत् वस्तु हैं। अशेष सद्गुण के आधार भी वे ही हैं। वे निर्दोष एवं स्वतन्त्र हैं। वे व्यतीत हैं और सारा कुछ अस्वतन्त्र अर्थात् ईश्वर के आधीन हैं।

जीव और ईश्वर के इस केवल-भेद के अलावा आचार्य ने पाँच तरह के और भेदों का समर्थन किया है। जीव और ईश्वर का भेद, जड़ और ईश्वर में भेद, जड़ एवं जीव में भेद तथा जीव-समूह एवं जड़ पदार्थ समूह में अभ्यन्तरीय एवं परस्पर भेद—इन्हीं पाँचों भेदों को उन्होंने प्रपंच कहा है।

आचार्य मध्व कहते हैं कि जीव को मोक्ष अथवा मुक्ति तभी मिलती है जब उसके जन्म-मृत्यु का यातायात या पुनर्जन्म का अवसान घटित होता है तथा वह तभी संभव होता है जब वह बैकुण्ठ में नारायण के पास स्थिति लाभ करता है। मुख्यप्राणवायु की ही उपासना श्रेष्ठ है। नारायण के पुत्र, वायु की कृपा के अलावा, मोक्ष-लाभ की और कोई संभावना नहीं है। मध्व के अनुगामी वैष्णवों का विश्वास है कि इस युग में मध्व ही वायु के अवतार हैं। इसी कारण, वे ही मनुष्य के त्राणकर्ता हैं। पुण्यकर्म के लिए मध्व ने अक्षय स्वर्गवास की व्यवस्था दी है तथा मध्व वैष्णववाद के विरोधियों के लिए उन्होंने अनन्त नरकवास की व्यवस्था दी है।

मध्व के अनुसार, जीवात्मा स्वाभाविक रूप से ही अविद्या द्वारा आवृत्त है। भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान-लाभ होने पर ही यह आवरण हटता है और मोक्ष लाभ संभव हो पाता है। उन्नत श्रेणी के जीवात्मा ही यह ज्ञान-लाभ कर पाते हैं। इसके लिए उन्होंने अठारह अनुशासनों की व्यवस्था दी है। इनमें से प्रधान हैं—वैराग्य, शम, गुरुसेवा, भगवत चरणों में भक्ति, उपासना, पूर्वमीमांसा के अनुसार शास्त्रीय अनुष्ठान तथा मतवादों का विरोध इत्यादि।

उन्होंने विष्णुसेवा के तीन उपाय बताए हैं—

(1) अंकन अथक साधक के विभिन्न अंगों पर विष्णु के शंख-चक्र इत्यादि चिन्हों का धारण।

(2) नामकरण अर्थात विष्णु के विभिन्न नामों के अनुरूप पुत्रादिकों के नाम रखना।

(3) कायिक, वाचिक एवं मानसिक त्रिविध भजन।

जीवन के अंतिम चरण में माध्वाचार्य ने उडुपी तथा अन्य स्थानों में कृष्णमंदिरों की स्थापना की। परन्तु अखिल रसामृत-मूर्ति श्रीकृष्ण को उन्होंने इष्टरूप में ग्रहण किया था अथवा मधुर-भजन मार्ग का अनुसरण किया था, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। कुछ लोगों का मत है कि मध्व-मतवाद से ही गौड़ीय वैष्णव आंदोलन का उद्भव हुआ है तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय मध्व सम्प्रदाय का ही एक अंग है। लेकिन इस अवधारणा के लिए भी कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

कुछ दिनों तक उत्तर भ्रमण के उपरांत आचार्य दक्षिणात्य की ओर वापस लौट आए। इस क्षेत्र में शोभन भट्ट तथा स्वामी शास्त्री का व्यापक प्रभाव था। इन दोनों शास्त्रविदों ने आचार्य मध्व से शास्त्रार्थ में परास्त होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। शोभन भट्ट का संन्यास नाम पड़ा—पद्मनाभ तीर्थ। मध्व के बाद वे ही उडुपी के अध्यक्ष हुए। कालांतर में गुरु अच्युत प्रकाश ने भी मध्व से प्रभावित होकर उनके दार्शनिक मतवाद एवं साधन-प्रणाली को ग्रहण किया। अब आचार्य मध्व का वैष्णव आंदोलन पहले की अपेक्षा काफी शक्तिशाली हो उठा। दिन-प्रतिदिन आचार्य मध्व के शिष्यों, भक्तों एवं अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई।

मध्व के प्रभाव-विस्तार से श्रृंगेरी मठ के अध्यक्ष धर्मतीर्थ को ईर्ष्या हुई और उन्होंने आचार्य मध्व के खिलाफ प्रचार में पूरी ताकत झोंक दी। मध्व तथा उनके शिष्यों के लांछना तथा उत्पीड़न की सीमा न रही। श्रृंगेरी मठ के अनुयायियों की संख्या अधिक थी। आचार्य मध्व की ग्रंथशाला का भी विनाश कर डाला गया। आचार्य एवं उनके अनुयायी इस चरम आघात से संज्ञाशून्य हो गए। इन्हीं ग्रंथों को तो आधार बनाकर आचार्य मध्व ने अपने नए मतवाद का प्रणयन किया था।

आचार्य मध्व एक दिन विष्णुमंगल के राजा जयसिंह के पास गए। कहा, 'महाराज प्राचीन ग्रन्थों का यह अपहरण मात्र वैष्णवों की ही क्षति नहीं है, वरन यह सारे शास्त्रविदों की और देश की क्षति है। धर्म तथा संस्कृति के भावी गवेषकों की इससे हानि होती है। आप श्रृंगेरी के मठाधीश को समझाएँ और अमूल्य शास्त्रग्रंथों के उद्धार में सहायक हों।'

राजा जयसिंह ने सफलतापूर्वक मध्यस्थता की। उन्होंने अपने प्रभाव का उपयोग कर श्रृंगेरी के मठाधीश को समझाया और बलपूर्वक ले जाए गए प्राचीन धर्मग्रंथों को उडुपी मठ को लौटाने में सफल हुए।

काफी दिनों बाद दोनों मतावलम्बियों में मेलजोल स्थापित हुआ और दोनों के अनुयायी एक-दूसरे के मठों की यात्रा करने लगे। जिन वैष्णव विरोधी आचार्यों ने मध्व का शिष्यत्व ग्रहण किया उनमें विशिष्टतम थे त्रिविक्रम आचार्य। ये एक विख्यात शैव थे। इन्होंने बहुत से शैव मतावलम्बियों को वैष्णव बना डाला। बाद में इन्हीं के पुत्र नारायण आचार्य ने मध्व की जीवनी लिखी। दीक्षादान के समय मध्व ने त्रिविक्रम आचार्य को एक मनोरम कृष्णमूर्ति उपहार में दी। यह मूर्ति आज भी कोचीन राज्य में (दक्षिण कनारा में) भक्त वैष्णवगण तीर्थयात्रियों को इस अनुपम विग्रह का दर्शन कराते हैं।

1275 ई० में मध्व के पिता का देहावसान हो गया। इसके कुछ ही दिनों बाद मध्व के अनुज ने भी संन्यास ग्रहण कर लिया। इनका नामकरण हुआ विष्णुतीर्थ।

जीवन के अंतिम दिनों में आचार्य मध्व की भक्तिसाधना में परिवर्तन हुआ। इतने दिनों तक उनके हृदयासन पर शेषशायी विष्णु अधिष्ठित थे, परंतु अब उस पर अधिकार कर लिया श्रीकृष्ण ने। ध्यानमग्न प्रभु के नयनों के समक्ष प्रभु बाल गोपाल रूप में आविर्भूत हुए। श्रीकृष्ण ने कहा, 'सागर से आती नौका के अंदर मैं रहूंगा। मुझे निकालकर तुम अपने मंदिर में स्थापित करना।' इतना कहकर प्रभु अन्तर्ध्यान हो गए।

एक दिन आचार्य मध्व अपने शिष्यों और भक्तों के आमंत्रण पर मालपी बन्दरगाह गए हुए थे। सुबह ध्यान-जप करने के बाद आचार्य बन्दरगाह के किनारे टहल रहे थे। सहसा उनकी नजर समुद्र में तैर रही एक नौका पर पड़ी। इस नौका के नाविक एक अदृश्य टीले से मुसीबत में पड़ गए थे। जिधर भी वे नाव बढ़ाने की चेष्टा करते, नौका, उससे जा टकराती। दूर से ही आचार्य मध्व को देखकर नाविक ने पुकारा, 'साधु बाबा, मैं महान विपत्ति में फंस गया हूँ। इस रेती से नौका निकाल पाना संभव नहीं हो पा रहा है, कृपया गहरे पानी की ओर निकलने का रास्ता बता दें।'

मध्व ने चिल्ला कर कहा, 'नाविक तुम जरा भी भय मत करो। मैं अपना उत्तरीय जिधर को हिला रहा हूँ, उधर ही नौका ले जाओ।' आचार्य मध्व तट पर खड़े होकर अपना उत्तरीय हिलाने लगे। माझी उधर ही नौका ले गया और इस मुसीबत से बाहर निकल आया। उसकी नौका बन्दरगाह के तट पर आ लगी। इस नौका में गोपचन्दन के टुकड़े पड़े हुए थे। आचार्य ने उसमें से एक टुकड़ा लेने की इच्छा व्यक्त की। माझी ने जब टुकड़े हटाए तो उसके भीतर से शिलामयँ, एक अनिन्द्य सुन्दर, बालगोपाल की मूर्ति बाहर निकल आयी। गोपाल के दाहिने हाथ में दही मथने का दण्डा और बाएं हाथ में मन्थन-दण्ड की रस्सी थी।

इस श्रीमूर्ति को लेकर आचार्य मध्व और शिष्यगण उल्लासपूर्वक उडुपी आए। यहाँ के सबसे बड़े सरोवर में इस मूर्ति का स्नान-अभिषेक करने के बाद इसे एक नवनिर्मित मठ में स्थापित किया गया। आचार्य मध्व ने आठ प्रधान संन्यासी-शिष्यों के ऊपर बालगोपाल की पूजा-अर्चना का भार सौंपा। यह सरोवर आज मध्व सरोवर के नाम से प्रसिद्ध है।

बाद में इन आठ सन्यासी-शिष्यों ने विभिन्न क्षेत्रों में आठ कृष्ण मंदिरों की प्रतिष्ठा की। ये ही आठ मठ फिर दो-दो करके द्वन्द मठ के नाम से विख्यात

हुए। उडुपी के मूल मठ को उत्तरादि मठ के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आचार्य मध्व के बाद पद्मनाभतीर्थ मूल मठ के अध्यक्ष हुए।

१३०३ ई० में शुक्ला नवमी। इन दिनों आचार्य सरिदन्तर नामक स्थान में ऐतरेय उपनिषद् की व्याख्या कर रहे थे। इसी समय उनके लीलाअवसान का परम मुहूर्त अग्रसर हुआ। ईष्टध्यान समाहित होकर आचार्य मध्व ने अंतिम नि:श्वास त्याग किया तथा ईष्टधाम की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गए।

आचार्य मध्व ने कुल 38 धर्मग्रन्थों की रचना की है। इनमें तीन प्रमुख हैं—गीता भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, महाभारत तात्पर्य निर्णय।

●

१४

स्वामी अभेदानन्द

पिता रसिकचन्द्र और माता नयनतारा के दो अक्टूबर सन् 1866 ई० को एक संतान हुई। यह संतान मां काली की कृपा से हुई थी इसलिए इसका नामकरण हुआ था काली प्रसाद। काली प्रसाद विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। अल्प समय में ही बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं पर उनका अधिकार हो गया। विल्सन रचित भारत के इतिहास में आदि शंकर की कथा पढ़ने के बाद कालीप्रसाद ने वैसा ही बनने का संकल्प किया। किशोरावस्था में ही उन्होंने स्टुअर्ट मिल, हेर्सेल, ग्यानो, लुइस हेमिल्टन आदि विद्वानों की पुस्तकें पढ़ डालीं। इसके साथ ही कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव और शकुंतला का भी अध्ययन किया। भट्टनाथ को भी पढ़ा। गीता का भी अध्ययन करते रहे।

एक दिन प्रसिद्ध धर्मवक्ता शशिधर तर्कचूड़ामणि अलबर्ट हाल में पंतजलि योगसूत्र और योगसाधना विषय पर भाषण दे रहे थे। इस भाषण से उत्साहित होकर काली प्रसाद ने पंतजलि दर्शन की एक प्रति खरीद ली और वेदान्तवागीश से इनके सूत्र समझने लगे। इसी बीच उन्होंने शिवसंहिता का भी अध्ययन किया। काली प्रसाद के मन में एक गुरु के तलाश की भावना प्रबल हुई और वे पैदल ही दक्षिणेश्वर गए। उस समय ठाकुर रामकृष्ण कलकत्ता गए हुए थे। कालीप्रसाद ने उसकी वापसी की प्रतीक्षा की। देर रात में परमहंस वापस आए। अपने कमरे में जाने के कुछ ही देर बाद उन्होंने कालीप्रसाद को बुलाया। काली प्रसाद ने उन्हें प्रणाम किया और चटाई पर बैठ गए। इसके बाद की कथा स्वयं स्वामी अभेदानंद के शब्दों में—

मैं योग साधना में उपविष्ट हुआ। परमहंसदेव ने मुझे जिह्वा निकालने का आदेश दिया। जब मैंने अपनी जिह्वा बाहर निकाली तब उन्होंने अपनी मध्य माँ गुलि द्वारा उस पर एक बीज मंत्र लिखकर शक्ति का संचार किया तथा अपने दाहिने हाथ द्वारा मेरे वक्षस्थल की उर्ध्वदिशा में शक्ति का आकर्षण करके मुझे माँ काली का ध्यान करने को कहा। मैंने वैसा ही किया। गंभीर ध्यानावस्था में समाधिस्थ होकर मैं काष्ठवत् अवस्थित हो गया और एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगा। उस समय सभी सांसारिक विषय-वासनाएँ भूल गईं। इस भाव में मैं कबतक रहा, मुझे ज्ञात नहीं।

कुछ क्षणों के उपरांत परमहंसदेव ने मेरे वक्षस्थल पर अपना हाथ रख मेरी कुंडलिनी शक्ति को अधोगामी कर उसे यथास्थान किया। तब मेरी बाह्य चेतना लौटी और सम्पूर्ण शरीर एक अपूर्व तथा निर्मल आनन्द स्रोत से परिपूर्ण हो गया। मेरी उस अवस्था को देखकर रामलाल दादा और गोपाल मां ने मुझसे कहा था— 'क्या ही आश्चर्य! तुम्हें स्पर्श करते ही तुम काष्ठवत् ध्यानमग्न हो गए थे।'

परमहंस देव ने कहा—'तुम विवाह मत करो'। तत्पश्चात् ध्यान करने की पद्धति के सम्बंध में शिक्षा देते हुए उन्होंने कहा—

'शुचि अशुचि ले दिव्य घर में कब सोओगे
दोनों पत्नियों में प्रेम होने पर ही श्यामा मां को पा सकोगे।'

बाद में चलकर अभेदानन्द ने बताया—'ठाकुर के इन दोनों पदों का अर्थ उन दिनों समझ में नहीं आता था, बाद में मैंने उन्हें जाना। शुचि और अशुचि, अच्छा और बुरा इन दोनों का पृथक ज्ञान रहते हुए अभेद ज्ञान का स्फुरण नहीं हो सकता। मायातीत होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान भी संभव नहीं है।'

इस प्रकार शक्ति संचार करने के बाद श्री रामकृष्ण ने कहा—'नित्य प्रति रात्रि में अपने बिस्तर पर ध्यान करना, ध्यान से दर्शन होगा। वह सब यहां आकर मुझे बता देना। इस बार तुम स्वयं जाकर काली मंदिर में ध्यान लगाओ।' ध्यान शेष होने पर जब वापस आया तो ठाकुर ने स्नेहपूर्वक उसे मिष्ठान्न प्रसाद खाने को दिया।

इधर काली प्रसाद के माता-पिता चिन्तामग्न थे। मां नयनतारा देवी को हठात् स्मरण हुआ कि कालीप्रसाद ने उनसे दक्षिणेश्वर जाने की चर्चा की थी। यह बात जब उन्होंने पति को बताई तो वह पुत्र की खोज में दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े। वे ठाकुर रामकृष्ण के पास पहुंचे और पुत्र के बारे में पूछा। उन्हें बताया गया कि काली प्रसाद कलकत्ता के लिए रवाना हो चुके हैं।

रसिकचंद्र को शंका हुई कि कालीप्रसाद कहीं घर-द्वार न त्याग दे। उन्होंने ठाकुर से जिज्ञासा प्रकट की। इस पर उन्होंने कहा—'आपके पुत्र में तेतर योगी का लक्षण है। योग-साधना के लिए उसका मन अधीर हो उठता है। ऐसी अवस्था में उसका विवाह करना क्या श्रेयस्कर होगा?'

रसिकचन्द्र ने कहा—'जैसी आपकी इच्छा। माता-पिता की सेवा करना क्या परमधर्म नहीं है?'

'हाँ-हाँ, ऐसा ही है।' कहकर श्रीकृष्ण बार-बार आह्लाद प्रकट करने लगे।

बाद में अभेदानन्द ने इस वाक्य की व्याख्या की। उन्होंने बताया कि माता-पिता की सेवा से उस समय ठाकुर ने जगत्पिता और जगन्माता की सेवा

का तात्पर्य समझा था और इसीलिए प्रसन्नता व्यक्त की थी लेकिन उस समय मेरे पिता उसे समझ नहीं पाए थे।

बहरहाल घर लौटने के उपरान्त कालीप्रसाद रात में दरवाजा बंद कर बिस्तर पर बैठकर ध्यान करते। इस अवस्था में उन्हें अनेक विचित्र और अतीन्द्रिय दर्शन होते।

कालीप्रसाद के दक्षिणेश्वर यात्रा पर प्रतिबंध लगा दिया गया था, लेकिन जब भी मौका मिलता वे बदहवास से ठाकुर के चरणों में उपस्थित हो जाते। एक दिन पूरे दिन तक ताले में बंद रहने के बाद शाम को जब ताला खुला तो कालीप्रसाद रात में ही दक्षिणेश्वर चल दिए। जब वे ठाकुर के पास पहुँचे तो उन्होंने मुस्कराते हुए अपने इस नूतन शिष्य की ओर देखा फिर प्रसन्न होकर बोले—'ठीक है, इसी प्रकार करना। ईश्वर के लिए इसी प्रकार की तो व्याकुलता चाहिए। सुयोग पाते ही यहाँ उपस्थित होना। जो कुछ दर्शन हो, अनुभूति हो, उस सबके विषय में यहाँ आकर बता जाना।'

काली प्रसाद ठाकुर का प्राय: दर्शन करने लगे। गुरु रामकृष्ण की अहेतुकी कृपा और उनकी साधना सम्बंधी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्देशों ने इनकी ध्यान-प्रवणता को उच्चस्तरीय सिद्धि की ओर परिचालित किया। अपने आत्मचरित्र में उन्होंने लिखा है—

दक्षिणेश्वर में परमहंसदेव अपने लघु कक्ष में आसीन हैं और मैं उनका पार्श्ववर्ती हो पदसेवा कर रहा हूं। वे मेरे मुख की ओर देखकर कहने लगे—'ब्रह्मज्ञान का सहज में लाभ लिया जा सकता है।' मैंने उत्तर दिया—'पातंजलि दर्शन में एक सूत्र है : तीव्र सम्बेगावामासन्न—अर्थात् जिसके अन्दर में तीव्र संवेग (श्रद्धा, वीर्यादि) रहता है उसे शीघ्र समाधि होती है। तब उन्होंने अपने नाखून से मेरे कपाल पर जोर से चिकोटी काटकर कहा—इस स्थान पर मन को स्थिर करो। नांगटा (तोतापुरी) ने मेरे कपाल पर एक कांच-खण्ड को विद्ध करके उस बिन्दु पर मुझे अपना ध्यान स्थिर करने को कहा था और वैसा करने पर मुझे तो निर्विकल्प समाधि लग गई थी। उस अवस्था में तो कोई बाह्यज्ञान अवशेष नहीं रहता। मैं भी अहर्निश तीन दिनों तक अविरल समाधि में स्थिर रहा। मेरी अवस्था देखकर नाँगटा ने कहा था—देवी की क्या माया है! चालीस वर्षों की साधना के उपरान्त मुझे निर्विकल्प समाधि प्राप्त हुई, उसे तुमने तीन दिनों में ही सिद्ध कर लिया?

'तत्पश्चात् परमहंसदेव ने मुझे पंचवटी के नीचे आसनस्थ हो ध्यान करने का आदेश दिया।......पंचवटी पहुंचकर अपने भ्रूमध्य में मैंने मन को स्थिर किया। ध्यान करते-करते वाह्य शून्य हो गया और कितनी देर मैं समाधिस्थ रहा

इसका ज्ञान नहीं रहा। उसके बाद शनैः शनैः बाह्यज्ञान लौटने लगा, तत्पश्चात् उठकर मैं परमहंस देव के समीप पहुँचा और उनके चरणों पर प्रणिपात किया। उन्होंने स्नेहपूर्वक मेरे मस्तक पर हाथ रख मुझे आशीर्वाद प्रदान किया।'

श्री रामकृष्ण कहते—'ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। लेकिन निर्गुण ब्रह्म को तुम कैसे जानोगे। निर्गुण ब्रह्म तो अखंड और स्थिर समुद्र की भाँति है। उसमें तरंग अथवा क्रिया नहीं है। वह सुमेरुवत् अचल और अटल है। सुषुप्तावस्था में उसकी मायाशक्ति उसी में लीन रहती है और उस अवस्था में विश्व ब्रह्माण्ड, जीव, जगत् महाप्रलय उसी में रहते हैं। माया शक्ति के जाग्रत होते ही उस सच्चिदानन्द-सागर में तरंगें उठती हैं। उस अवस्था को वेदान्त में सगुण ब्रह्म कहा जाता है। तब त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति में गुण-क्षोभ होता है और उसी से आरंभ होता है यह सृष्टि-कार्य। यही सगुण ब्रह्म अर्द्धनारीश्वर, हर गौरी नामों से अभिहित है शास्त्रों में।'

काली प्रसाद को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—'आँचल में अद्वैतज्ञान की गाँठ बाँध कर जो इच्छा हो सो करो।'

जीव और ब्रह्म में भेद के सवाल पर उन्होंने कहा—'स्रोतस्विनीजल के ऊपर आरपार लाठी रखने से मन में भान होता है कि जल दो भागों में विभक्त हो गया है। ठीक उसी प्रकार अहंरूपी लाठी को धारण करने से जीव और ब्रह्म पृथक-पृथक मन में प्रतीत होते हैं। परन्तु यथार्थ में उनमें कोई पार्थक्य नहीं है। ब्रह्मज्ञान होने पर सभी भेद स्वतः दूर हो जायेंगे। जो निराकार हैं, वे ही साकार बने हैं। ईश्वर का साकार रूप ही जाना जा सकता है। साधक जिस रूप की चिन्ता अथवा ध्यान करता है, उसे उसी रूप का दर्शन होता है। बाद में अखण्ड सच्चिदानंद में वह मिल जाता है। उस अवस्था में साकार निराकार हो जाता है।'

सर्वधर्म समन्वय के बारे में ठाकुर ने कहा था—'जिन्होंने सर्वधर्म के सिद्धांतों का समन्वय किया है वे ही यथार्थ जीव हैं, अन्य सभी नीरस और निस्तेज हैं। वेदों में जिन्हें 'ऊं सच्चिदानन्द ब्रह्म' कहा गया है। तंत्रों में ही उन्हें ही 'ॐ सच्चिदानंद शिव' कहा जाता है तथा पुराणों में उन्हें ही 'ॐ सच्चिदानंद कृष्ण' कहा जाता है। जितने मत हैं, उतने ही पथ भी हैं। उसे पाने के नाना मत और नाना पथ हैं, परन्तु लक्ष्य तो एक ही है।'

जीवकोटि और ईश्वर कोटि के बारे में उनका मत था—'ब्रह्म तो सभी में विराजमान है, यह सत्य है किन्तु सभी की शक्तियों के प्रकाश में तारतम्य है। इस प्रकाश की तारतम्यता से ही ईश्वर कोटि और जीवकोटि में पार्थक्य होता है। जीवकोटि के लोग तो अपनी ही मुक्ति पाते हैं, वे दूसरे को मुक्त नहीं कर

सकते। जो अपना उद्धार करने के साथ-साथ अन्यों का भी उद्धार करते हैं, वे ही ईश्वर कोटि हैं। कोई-कोई पुनः इसी शक्ति को लेकर जन्म ग्रहण करते हैं।'

एक प्रश्न के उत्तर में श्री ठाकुर ने कहा—'जीवकोटि ईश्वरकोटि तक उठ सकता है। जीवकोटि यदि जगन्माता के पास दूसरों के उद्धार के लिए शक्ति की प्रार्थना करेगा, तभी मां उसे वह शक्ति प्रदान करेगी।'

श्री रामकृष्ण ने एक बार एक ईसाई को ईसा मसीह के रूप में दर्शन दिया था। इसके उपरांत उस ईसाई ने वहां उपस्थित जनों से कहा, 'आप लोगों ने इन्हें पहचाना नहीं। हमारे ईशु और ये अभिन्न हैं। आज मैंने जिस रूप का दर्शन किया, प्रभु ईसामसीह का भी वही रूप है। इससे पूर्व मैंने स्वप्न में इन दोनों के दर्शन किए थे। वर्तमान युग के ईसा मसीह तो वे ही हैं।'

बाद में ज्ञात हुआ कि रामकृष्ण के गले में कैंसर है। वे काशीपुर में प्रवास कर रहे थे। वहीं उन्होंने रामकृष्ण मंडली का गठन किया। नरेन्द्रनाथ को उसका प्रमुख बनाया गया। इनके साथ कालीप्रसाद की साधना चलती रही।

एक दिन रामकृष्ण ने कालीप्रसाद से कहा—'आत्मा न तो मरती है और न किसी को मारती है। यह ज्ञान जिसे होता है, वही तो आत्मस्वरूप का ज्ञाता है। अतएव अन्य किसी की हत्या करने की प्रवृत्ति उसमें किस प्रकार होगी? जिस क्षण उसमें हत्या करने की प्रवृत्ति होगी उस क्षण से तो उसमें आत्मज्ञान नष्ट हो जायेगा। तभी तो कहता हूँ कि ठीक-ठीक ज्ञान होने पर मनुष्य के पैर कुमार्ग पर नहीं पड़ेंगे। आत्मा की देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के परे साक्षीस्वरूप समझो।' यह उपदेश रामकृष्ण ने उस समय दिया जब उन्हें पता चला कि पास के सरोवर में नरेन्द्रनाथ सहित उनके कुछ युवा शिष्य मछली पकड़ रहे थे।

काली प्रसाद ईश्वर को नहीं मानते थे। यह बात जब श्री ठाकुर को पता चली तो उन्होंने काली प्रसाद के ज्ञान-चक्षु खोले। इस संबंध में वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—'श्री ठाकुर ने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिए। तत्पश्चात् मैं साधना के रहस्य सम्बंधी सभी कथाओं से भिज्ञ हो सका और सभी वस्तुओं को मानने लगा। श्री ठाकुर की असीम कृपा का स्मरण कर आज भी मेरे दोनों चक्षु अश्रुपूरित हो जाते हैं।'

बाद में एक सज्जन द्वारा दान लिए गए गेरुए वस्त्र धारण कर परमहंस के कुछ शिष्यों जिनमें कालीप्रसाद भी थे, संन्यास ग्रहण किया। आर्थिक संकट आने पर भिक्षाटन भी किए और इस दौरान गृहस्थों के कटु वचन भी सहे।

एक बार ठाकुर की अनुमति के बिना ही नरेन्द्र, तारक और काली प्रसाद बोध गया चले गए। इस स्थान पर ध्यानमग्न रहने के दौरान नरेन्द्र को ज्योति का दर्शन हुआ और कालीप्रसाद तथा तारक को आंतरिक दिव्यानंद एवं शांति की

अनुभूति हुई। इन लोगों ने जब लौट कर यह बात श्रीठाकुर को बताई तो वे अति प्रसन्न हुए।

एक बार काली प्रसाद बिना किसी को बताए ही गया चले गए। जिस धर्मशाला में वे रूके उसी में एक दशनामी संन्यासी रहते थे। उनके पास एक छोटी सी पुस्तिका थी। काली प्रसाद ने उसमें प्रेममंत्र, मढ, मढ़ी, योग पट्ट इत्यादि संन्यास मंत्रों को लिख लिया। दूसरे दिन उस हठयोगी की गुफा की ओर जाने लगे तब उसके शिष्यगण काली प्रसाद पर पत्थरों की वर्षा करने लगे क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि कोई गुफा में जाकर उनके गुरु की तपस्या में खलल डाले। काली प्रसाद ने दूर से ही हठयोगी और उनके शिष्यों को प्रणाम किया और बोले—'ॐ नमो नारायणाय।' इससे साधुगणों ने पत्थर बरसाना बन्द कर दिया। उन्होंने समझा कि कालीप्रसाद संन्यासी हैं। पास आकर उन लोगों ने काली प्रसाद से मठाम्नाय, संन्यास मंत्र आदि के बारे में सवाल पूछने लगे। काली प्रसाद ने सभी सवालों के ठीक-ठीक उत्तर दिए, इसलिए वे सभी साधुगण शांत हो गए।

कालीप्रसाद मौका पाकर किसी तरह वहां से भाग निकले और काशीपुर आ गए।

16 अगस्त 1886 को रामकृष्ण ने शरीर त्याग दिया।

मां शारदा मणि अयोध्या, वृन्दावन आदि तीर्थस्थलों की यात्रा पर निकलीं। उनके साथ काली प्रसाद भी थे। कुछ दिन वृन्दावन में बिताने के बाद जब वे वापस आए तो ज्ञात हुआ कि श्रीठाकुर के शिष्यों ने बड़ानगर में एक मठ स्थापित किया है। माँ शारदामणि की सम्पत्ति के साथ वे इस मठ में आ गए। फिर शुरु हुआ कष्ट साध्य जीवन। न खाने को अन्न, न पहनने को वस्त्र। किसी तरह भिक्षाटन पर गुजारा होता रहा।

एक दिन कालीप्रसाद मठ के बरामदे में सोए थे। सूर्य की धूप उन पर पड़ रही थीं। दोपहर का समय था। विवेकानन्द के भाई महेन्द्रनाथ दत्त पधारे। वे काली प्रसाद के पास गए। उनका स्पर्श किया। देह उत्तप्त था। जीवन का कोई लक्षण नहीं था। उन्होंने मठ के अंदर जाकर जब अन्य लोगों से यह बात कही तो योगानन्द ने हँसते हुए कहा, 'वह क्या मरेगा? वह इसी प्रकार ध्यान लगाता है।' काली प्रसाद की ध्यान-निष्ठा को जानने वाले उनके साथी इसी प्रकार की उच्च धारणा उनके सम्बंध में रखते थे।

एक दिन सभी साथियों ने शास्त्रसम्मत ढंग से संन्यास का अनुष्ठान सम्पन्न किया। संन्यास के बाद नरेन्द्र ने अपना नाम विविदिषानन्द रखा जो आगे चल कर विवेकानन्द में परिवर्तित हो गया। राखाल का नाम ब्रह्मानन्द और कालीप्रसाद का नाम अभेदानन्द रखा गया।

कुछ समय बाद माँ शारदामणि का आशीर्वाद लेकर अभेदानन्द तीर्थाटन पर निकल पड़े। सर्वप्रथम हरिद्वार, ऋषिकेश, बदरी-केदार प्रभृति आदि स्थानों का इन्होंने परिभ्रमण किया। इस समय परिव्राजक अभेदानन्द ने संकल्प लिया कि वे रुपये पैसे का स्पर्श तक न करेंगे, रंधन नहीं करेंगे, कुर्ता आदि ऊपरी वस्त्र न पहनेंगे तथा किसी के घर पर शयन न करेंगे। मधुकरी द्वारा जीविका निर्वाह करेंगे और रात्रिकाल में किसी वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहण करेंगे। इस परिव्राजन के दौरान अभेदानन्द ने अनेक कष्ट झेले लेकिन सद्गुरु श्री रामकृष्ण की कृपा से उनके कष्ट दूर हुए। उनका अधिकांश समय ऋषिकेश में बीता। इस स्थान में देश के अन्यतम श्रेष्ठ वेदान्ती धनराज गिरि का आश्रम था। उन्हीं के चरणों में बैठकर अभेदानन्द ने वेदान्त का अध्ययन किया और ज्ञान-मार्ग के सर्वोच्च तत्व को ग्रहण किया। गिरि महानुसार अभेदानन्द में अलौकिक प्रज्ञा थी।

दक्षिण और पश्चिम भारत के तीर्थों का भ्रमण कर अभेदानन्द कलकत्ता लौट आए। उस समय मठ आलम बाजार में स्थानान्तरित हो चुका था। अब मठ की आर्थिक स्थिति ठीक थी।

अभेदानन्द को वेदान्ती काली अथवा 'काली वेदान्ती' के नाम से भी प्रचार मिला। कलकत्ता में विराट धर्म सभा करके स्वामी विवेकानन्द को हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि घोषित किया गया और तत्सम्बंधी निर्णय अमेरिका भेजा गया। इस आयोजन में अभेदानन्द की भूमिका सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण थी।

1896 में स्वामी अभेदानन्द आधुनिक युग के अन्यतम वेदान्त-प्रचारक के रूप में पहले इंग्लैण्ड इसके बाद अमेरिका गए। उन्होंने अद्वैत वेदांत और रामकृष्ण की विचारधारा का प्रचार किया। खासतौर पर अमेरिका में 25 वर्षों तक प्रवास करके इन्होंने विवेकानन्द द्वारा प्रचारित भाव धारा का विस्तार किया और एक दृढ़ संगठन का निर्माण किया।

विवेकानन्द अमेरिका के बाद लन्दन पहुँचे। वहाँ अभेदानन्द को भी बुला लिया। लंदन में पहली बार क्राइस्ट थियोसोफिकल सोसाइटी में उनका भाषण हुआ। अभेदानन्द अंग्रेजी में धाराप्रवाह बोलकरश्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। जैसे उनके कण्ठ में साक्षात् सरस्वती विराजमान हों।

स्वामी अभेदानन्द लंदन में एक वर्ष और अमेरिका में 25 वर्ष रहे और इन देशों के धर्म-प्राण व्यक्तियों की श्रद्धा अर्जित करने में सफलता प्राप्त की।

1899 में स्वामी विवेकानन्द पुनः अमेरिका गए। इस बीच स्वामी अभेदानन्द की सफलता देखकर बोले—'इस न्यूयार्क के द्वार पर मैंने तीन-तीन दस्तक दिए परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। तुमने एक स्थायी केन्द्र स्थापित कर लिया है। न्यूयार्क में हम लोगों की समिति का यह प्रथम निजस्व गृह है।'

अमेरिका में स्वामी अभेदानन्द द्वारा पचीस वर्षों तक प्रचार कार्य का दूरगामी परिणाम हुआ। ईसाई पादरियों ने वेदांत के भावों को ग्रहण कर ईसाई तत्वों की नवीन व्याख्या प्रारंभ कर दी। कट्टरतापूर्ण क्रियाकलापों में उनका विश्वास नहीं रह गया। नए-नए धर्म-आंदोलन शुरु हो गए। 'न्यू थॉट', 'ईसाई साइंस', 'स्पिरिचुअल सोसाइटी' आदि नवीन मत शुरु हो गए। 'ईसाई साइन्स' की संस्थापक मेरी वेकर ने गीता के चन्द श्लोकों पर अपने सम्प्रदाय की स्थापना की। 'न्यू थाँट' वाले सभी विवेकानन्द के छात्र थे। वे कहते थे प्रत्येक जीवात्मा स्वरूपतः ख्रीष्ट है। ऐसा वेदान्त के प्रभाव के कारण हुआ। कट्टरवादी तो मानते हैं कि ख्रीष्ट ने अपना रक्तदान कर पापियों के पाप-ताप को दूर किया था। अब उनकी सोच बदल गई। वे कहने लगे कि 'ख्रीष्टत्व' तो प्रत्येक जीवात्मा के भीतर सुप्तावस्था में अवस्थित है तथा वह जागरित होगा। वेदान्त में प्रचारित एक अनन्त और सत्य सत्ता के ऊपर ही ख्रीष्ट धर्म को खड़ा करने का प्रयास शुरु हो गया। वेद वाक्यों 'एकमे वा द्वितीयम्', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' प्रभृति वाक्यों ने ख्रीष्ट साइंस, न्यू थाँट और स्पिरिचुएलिज्म ने ग्रहण किया। वेदान्त का प्रभाव पूरे यूरोप पर पड़ा। इंग्लैण्ड भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। स्वामी अभेदानन्द ने कहा है—'आर्य सभ्यता की अरुण आभा भारत के अन्तरिक्ष में सर्वप्रथम उद्भासित हुई थी। ग्रीस, रोम अरब अथवा फारस नहीं बल्कि भारत ही अध्यात्मशास्त्र, दर्शन न्याय, ज्योतिष, कला विद्या, संजीव, चिकित्सा, और नैतिक धर्म की आदि भूमि रही है।'

अमेरिका प्रवास के समय अभेदानन्द को नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़े। लेकिन उन्होंने कभी भी अपनी मानसिक स्थिरता नहीं खोई। वे अपने सहकर्मियों से कहा करते—शुद्ध होकर श्री श्रीठाकुर की ओर अपनी दृष्टि लगा कर तथा विवेकानन्द के असीम प्रेम की कथा को स्मरण करके ही वे लोग दीर्घ संग्राम में जूझ सकेंगे।'

अभेदानन्द ने एकनिष्ठ हो, आप्राण एवं दत्तचित्त हो सद्गुरु रामकृष्ण को पकड़ रखा था। उन्हें विश्वास था कि रामकृष्ण उनकी रक्षा कर रहे हैं एवं ईश्वरीय कर्म-साधना के लिए वे ही दिव्य प्रेरणा भी दे रहे हैं। एक बार अभेदानन्द को लंदन होते हुए अमेरिका जाना था। जहाज का टिकट खरीदने का प्रबंध कर लिया गया था। टिकट खरीदने जाते समय, एक आवाज सुनाई पड़ी जिसने उन्हें टिकट खरीदने से रोका। अभेदानन्द ने घबरा गए। इधर-उधर देखा। कोई नहीं था। जब वे फिर टिकट खरीदने चले तो वही आवाज पुनः उनके कानों में पड़ी। वे लौट आए और आगे का कार्यक्रम बनाने लगे। दूसरे दिन समाचारपत्रों में एक खबर मोटे शीर्षक में छपी थी—'एस.एस. लुसिटनिया डज

नो मोर।' लुसिटनिया उस जहाज का नाम था जिससे अभेदानन्द अमेरिका जाने वाले थे। यह जहाज अटलॉटिक महासागर में डूब गया था।

स्वामी अभेदानन्द की शिष्या सिस्टर शिवानी (मेरी ल 'पेज) ने कहा है कि स्वामी जी योगशक्ति और रोग निवारण शक्ति के बारे में अनेक लोगों को विश्वास था। वे एक विस्मयकारी घटना का जिक्र करती हैं। आश्रम की एक छात्रा तरुण बहन का मस्तिष्क खराब हो गया था। इसके मानसिक रोग के बारे में डाक्टरों का कहना था कि यह लाइलाज हो गया है। इस विक्षिप्त तरुणी की बहन भी आश्रम की छात्रा थी। उसने स्वामीजी से कहा—'आप तो महात्मा हैं और आपकी योग-विभूति पर हमें अटूट विश्वास है। मेरी बहन की इस उन्माद रोग से रक्षा करें।' स्वामी जी योगबल द्वारा रोग निवारण की क्षमता से इनकार करते रहे लेकिन वह छात्रा अपनी जिद पर अंड़ी रही। अंत में उन्होंने कहा—अच्छा तुम तीन दिनों बाद मुझसे मिलो।' छात्रा तीन दिनों बाद आश्रम में उपस्थित हुई तो अभेदानन्द उसके साथ उस मानसिक अस्पताल में चले गए। वहां जाकर विक्षिप्त तरुणी के सामने चुपचाप बैठ गए। उन्होंने स्नेहपूर्वक उसका हाथ पकड़ा और बीच-बीच में थपथपाते रहे। वे अधिकांश समय तक अंतर्लीन रहे। एकान्त भाव से प्रशांत और निर्विकाम हो वे कुछ समय तक उसे एकटक देखते रहे। इसके उपरांत धीरे-धीरे वह छात्रा सामान्य हो गई। अपनी बहन के ठीक होने पर छात्रा ने स्वामी जी को कुछ द्रव्य और सोना आदि देना चाहा किन्तु उन्होंने यह कह कर इनकार कर दिया कि मैंने कुछ नहीं किया, जो किया वह मेरे कृपालु गुरुदेव ने किया।'

सिस्टर शिवानी ने अपनी पुस्तक 'स्वामी अभेदानन्द इन अमेरिका' में इस तरह की कई घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे स्वामी जी के योगबल, उनके कोमल और कठोर व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है।

सिस्टर शिवानी ने मानसिक रूप से विक्षिप्त एक और तरुणी बान्धवी के स्वामी जी से साक्षात्कार के बाद पूर्ण स्वस्थ होने का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है। स्वामी अभेदानन्द एक अंतर्योगी महापुरुष थे।

अमेरिका में पचीस वर्ष बिताने के बाद स्वामी अभेदानन्द जापान, चीन आदि प्राच्य देशों की यात्रा करते हुए 1921 के उत्तरार्द्ध में कलकत्ता पधारे। इससे पूर्व वे तिब्बत में हिमिस मठ जाकर प्रधान लामा के पास नटोमिच प्रदत्त तथ्यों के सम्बंध में अनेक अनुसंधान किया जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक 'कश्मीर और तिब्बत' में किया है।

अद्वैतवाद और रामकृष्ण तत्व के प्रचार के लिए स्वामी अभेदानन्द ने १९२६ में कलकत्ता और दार्जीलिंग में रामकृष्ण मठ की स्थापना की।

ब्रह्मानन्द एवं ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बंध में उनका विचार था—ब्रह्मानन्द में सभी छोटे-छोटे सुख अंतर्निहित हैं और ये सभी सुख इस ब्रह्मानन्द के एक-एक कण हैं। जिसे इस ब्रह्मानन्द से आस्वादन हो चुका हैं उसे टुकड़े-टुकड़े आनंद नहीं चाहिए। वह तो आनंदमय हो चुका है और उसे कभी भी संसार सुख का अभावबोध होता ही नहीं। ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् यह संसार तुच्छ हो जाता है और ये सुख क्षण स्थायी। यदि विचार किया जाय तो दुख ही अधिक दिखाई देते हैं। दूसरी ओर ब्रह्मविद् पुरुषों के सुख नित्य हैं। वे जिस आनंद का उपभोग करते हैं, वह तो निरपेक्ष है अर्थात् अन्य किसी भी वस्तु की वे अपेक्षा करते ही नहीं।

गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के बारे में वे कहते थे—'ईश्वर-ईश्वर करते हो, कौन है ईश्वर? क्या वह आकाश में निवास करता है? उसकी सेवा किस प्रकार करोगे? इस समय मानव-समुदाय के मध्य उसको देखो। उसी को विराट पुरुष कहा जाता है। इसी भाव से तुम पुत्र, पड़ोसी, वंदनीय शूद्र, चांडाल, ब्राह्मण इन सबों के भीतर जो नारायण हैं उसे देखो और इस प्रकार ईश्वर बुद्धि के साथ नाम, यश अथवा स्वार्थसिद्धि किसी भी तरफ ध्यान न देकर उनके दुखों से दुखी होओ तथा उनकी सेवा करो। जो कार्य तुम करते हो उसे भगवान देखते रहते हैं और उसका हिसाब लगा कर उसका फल प्रदान करते हैं? ऐसा नहीं है। सब कुछ का विधान है, नियम है। वे तो नित्य, शुद्ध और मुक्त हैं। नित्य क्या-अनादि अनंत। शुद्ध अर्थात् उसमें कुछ भी मालिन्य नहीं है। इसीलिए वे ज्ञान और चैतन्य स्वरूप हैं। ऐसे भगवान् को प्राप्त कर हम लोग भी उसी अवस्था को प्राप्त करेंगे। जो अनित्य, अशुद्ध, अज्ञान अथवा बंधन है, उसे त्याग देना होगा। प्रतिदिन रात्रि के समय अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य सब भगवान को अर्पित करो। ठाकुर एक फूल लेकर माँ के पांव पर रखकर बोले—'माँ, यह न तुम्हारा पाप, यह न पुण्य, यह न तुम्हारी अविद्या, यह न तुम्हारी अच्छा, यह न तुम्हारा बुरा; मुझे शुद्ध भक्ति दो।' उपासना का यही आदर्श है। भगवान की दृष्टि में भला-बुरा नहीं है। एक ही वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी।

अभेदानन्द ने कहा—देह की भोगेच्छा त्याग कर ब्रह्मानन्द की ओर मन को ले जाना होगा। इसके लिए देह से आत्मा को पृथक समझने का अभ्यास करना होगा। देह से आत्मा को पृथक करने से ब्राह्यज्ञान लुप्त हो जाता है। मन निश्चल होते ही शरीर जड़वत हो जाता है। हम लोगों में ठाकुर को ऐसा होते देखा है। आंखें खुली रहने पर जब उसमें अँगुलियाँ डाली गईं तो पलकें नहीं गिरीं। १२ वर्षों तक वे सोए नहीं। आँखों की पलकें तक नहीं गिरीं। अत्यल्प साधक इस अवस्था को पहुँच पाते हैं।

प्रणव तत्व की व्याख्या करते हुए अभेदानन्द कहते-तस्य वाचकः प्रणवः। जो कुछ नाम तुम स्मरण करते, जो कुछ पढ़ते, सुनते, विष्णु का सहस्त्र नाम हो अथवा शिव का लक्ष नाम—सब कुछ उस एक प्रणव से ही हुए हैं। यही है यथार्थ तत्व। माँडूक्योपनिषद् तो ओंकार की ही व्याख्या है। आकार जाग्रतावस्था है, उकार स्वप्नावस्था मकार सुषुप्ति एवं नाद तुरीयावस्था है। तुम जितने भी प्रकार से शब्दों का उच्चारण करोगे, वे सभी यही एक ओंकार हैं। ईसाई लोग प्रार्थना के अंत में जिस 'ओमेन' का उच्चारण करते हैं, वह इसी का अपभ्रंश रूप है। वे आगे कहते हैं—जप के साथ-साथ उसके अर्थ का भी चिंतन करना होगा। इससे मन की मलिनता कालुष्य प्रभृति दूर हो जाएँगे। चित्त शुद्ध हो जाएगा। सांसारिक दृष्टि से जो घोर अशांति के कारण दिखाई देते हैं वे ईश्वरीय दृष्टि से अत्यंत कल्याणकारक हैं। तभी तो कुंती ने कहा था—हे प्रभो, मुझे दुख दो। संसार में इस प्रकार की प्रार्थना दूसरा कौन कर सकता है।

स्वामी अभेदानन्द कहते थे—ब्रह्म, अथवा भगवान तो ज्ञानस्वरूप हैं। तुम भी तो वही हो। ज्ञान स्वतः प्रकाश है। वह अपने प्रकाश के लिए अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता। साधन-भजन की बेला में यदि लाभ-हानि होती है तो वह एकमात्र साधक के निजी गुण और दोष के परिणाम हैं। निष्ठा और आन्तरिकता के साथ चेष्टा करने पर अवश्य ही सिद्धि-लाभ होगा। यदि दूसरों के प्रदर्शनार्थ जप ध्यान करते हो तो स्वयं ठगे जाओगे। तुम साधन-भजन भी करते हो और अपने मन के भीतर कुसंस्कारों को भी जगाए रखते हो तो उसमें कुछ भी होने को नहीं। साधन-भजन के समय एकान्त में रहकर मन को स्थिर करके यदि साधना की जाय तो मन के सभी संस्कार दूर हो जाएँगे। जिस दिन मन के सभी संस्कार दूर हो जाएंगे उसी दिन सिद्धि-लाभ हो जाएगा। मन में संकीर्णता रख कर भगवान को नहीं प्राप्त किया जा सकता। जो वस्तु नहीं है उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास या चेष्टा की आवश्यकता है लेकिन जो सर्वदा विद्यमान है उसे पाने के लिए और क्यों चेष्टा की जाय? अज्ञान के नाश के साथ ही ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इन सबकी ठीक-ठीक धारणा करने के लिए कुंजी की आवश्यकता है। यह कुंजी क्या है? यह कुंजी है—एकांतिकता, एकनिष्ठ भक्ति, विश्वास और व्याकुलता। उद्देश्य के प्रति मन की एकमुखता की आवश्यकता है। तुम्हारा मन केवल अपने इष्ट को चाहे, संसार की किसी अन्य वस्तु की कामना न करे। मन का आत्मनिष्ठ होना जरुरी है। ऐसी अवस्था में मन का कोई पृथक अस्तिव नहीं रह जाएगा। मनको इस आत्मनिष्ठ अथवा ब्रह्मावगाही करने के कौशल के ज्ञान को ही कुंजी कहा जाता है। 'गुहाहिंत गह्वरेष्ठं वरेण्यम्'। आत्मा हृदय-गुहा में

अवरुद्ध अथवा छिपी हुई है। इसी गुहा के द्वार को खोलने के लिए इस कुंजी की आवश्यकता है।

मन के बारे में वह कहते हैं—मन एक जड़ यंत्र है। आत्मचैतन्य ही उसके पीछे रह कर उसे नियंत्रित करता है और मन तदानुरूप कार्य करता है। आत्मा ही मन को प्रेरणा प्रदान करती है। मन तो उसका माध्यम या यंत्र है परन्तु आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि गुण या अहंकार नहीं हैं। फिर भी 'तस्य मासा सर्वमिदं विभाति'। उसी के आलोक में संसार की सभी वस्तुएं आलोकित होती हैं। जीव-जन्तु सभी उसी से शांक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर कार्य करते हैं। मन आत्मा का द्वारपाल है, एक साधारण लोक है, ऐसी स्थिति में मन के ही कर्ताभाव से और मन के ही वशीभूत हो यदि सृष्टि हो तो अनर्थ हो जायेगा। साधन का अर्थ है मन के अहं और कर्तृत्वाभिमान का विनाश करना, मन को समझा देना कि तुम कर्ता नहीं हो कर्ता तो है शरीरी आत्मा जो इस शरीर में भी है और विश्व में सर्वत्र व्याप्त भी है। जब इस तरह के भाव जागृत होंगे तभी तुम्हारा मन वशीभूत होगा और तुम मन के परे जा सकोंगे। जो मन मुक्ति के मार्ग में बाधक है, वही सहायक भी है। बाधक इसलिए है क्योंकि इस तथ्य को मनुष्य को मालूम नहीं होने देता कि कर्ता रूप आत्मा मन से पृथक है। सहायक इसलिए है क्योंकि मन ही आत्मा से परिचय कराता है। बुद्धिवृत्ति के द्वारा ही चैतन्य ब्रह्म प्रतिविम्बित होता है और उसी के द्वारा वृत्तियों के मध्य जो अज्ञान है उसे नष्टकर ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है। यही ज्ञान शुद्ध ज्ञान अथवा आत्मज्ञान है। अंग्रेजी में इसे सेल्फ नॉलेज अथवा गुड कॉन्सेन्स कहते हैं।

एक प्रश्न के उत्तर में अभेदानन्द कहते हैं— मन प्रसन्न होने का अर्थ है मन का शुद्ध होना जब संकल्प-विकल्प नामक दोनों वृत्तियों चली जाती है, तब मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होने पर दूसरा मन नहीं रहता, तब शुद्ध चैतन्य रूप ही स्पष्ट होता है। इसी को भिन्न प्रकार से कहा गया है कि मन प्रसन्न रहने पर वह आत्म ज्ञान देता है।

वह मानव-प्रेम को सर्वोपरि मानते थे। कहते थे—अपने समान अपने पड़ोसी को प्रेम करो। इस प्रकार का प्रेम अभी तो संन्यासियों के भीतर भी नहीं है। तभी तो वेदान्त की चर्चा की आवश्यकता है। हर कहीं इसका प्रचार करना होगा। विवेकानन्द ने ज्ञानचर्चा की चेष्ठा ही तो की थी, जब देश अंधकार में डूब चुका था तभी तो वेदान्त और उपनिषद् की जरुरत थी।

अपार मानव-प्रेम ही अभेदानन्द के चरित्र की विशेषता थी। भक्तप्रवर चित्स्वरूपानन्द के अनुसार उनके जीवन में मनीषा, प्रतिभा, साहस, सुरधार-विचारबुद्धि, निविड़ दार्शनिकता और गंभीर ज्ञान समान रूप से पुष्पित हुआ था। इस सब से ऊपर उनके चरित्र का परम माधुर्य था। वे एक प्रेमी थे। सत्य के द्रष्टा

थे। अतः उनके समीप जो कुछ प्राणवान् है, तत्सम्बंधी प्रेरणा उनसे प्राप्त होती की। स्वदेश का दुख और स्वदेश की व्यथा कभी विस्मृत नहीं हुई उनसे।

जीवन के अंतिम दिनों में स्वामी अभेदानन्द मंद मुस्कानों के साथ अपने अंतरंग भक्तों से कहते—'जानते हो, इस बार ठाकुर मुझे पेंशन देंगे। इस शरीर से बहुत खटा हूँ, अब विश्राम करने की इच्छा होती है।'

शरीरांत होने के डेढ वर्ष पूर्व से ही उन्हें अनेक शारीरिक कष्टों ने घेर लिया था। रोग शैया पर पड़े एक दिन वे हठात् बोल पड़े—'देश के सर्वस्व त्यागी नायक सुभाष को देखने की मेरी बहुत ही प्रबल इच्छा है।' इसकी खबर पाते ही सुभाषचन्द्र स्वामीजी के वेदान्त मठ में उपस्थित हुए। उन्हें देखते ही स्वामीजी बोल उठे—'आओ, आओ सुभाष! एक बार तुम्हारा आलिंगन तो कर लूँ।' किसी प्रकार उठकर अपने दोनों हाथों से स्नेहपूर्वक सुभाष का आलिंगन किया और प्रसन्न होकर बोले—'मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, तुम विजयी होगे।' सुभाषचन्द्र एक घण्टा तक स्वामी जी के पास बैठे रहे। इस बीच दोनों विभूतियों के बीच देश के भविष्य के बारे में बातें होती रहीं। फिर सुभाषचन्द्र ने विदा ली।

स्वामी जी कभी-कभी अपने अंतरंग भक्तों से कहते-'क्या रे, तुम लोग मेरे शेष कृत्य कहाँ करोगे?' फिर स्वयं निर्देशित करते—'सब कोई अपना भला चाहता है। सभी ठाकुर के चरणों में सोना चाहते हैं। स्वामी जी का संकेत काशीपुर श्मशान की तरफ था।'

अंततः ८ सितम्बर १९३९ को स्वामी अभेदानन्द चिर निद्रा में सो गए।

●

१५

भैरवी योगेश्वरी

उषा की राग-रश्मियाँ गंगा की मृदुल तरंगों पर विकीर्ण हो रही हैं। सारा आकाश उद्‌भासित हो रहा है। दक्षिणेश्वर मंदिर के शिखर पर मधुर प्रकाश की छटा फैली हुई है। माँ भवतारिणी की प्रात:पूजा शुरू होने में अधिक विलम्ब नहीं है।

मंदिर के तरुण पुजारी गदाधर प्रात:कृत्य से निवृत्त हो कर, हाथ में फूलडाली लिये गंगा-तट पर बगीचे में फूल चुन रहे हैं, मन-ही-मन रामप्रसादी गीत गुनगनाते हुए वे सोच रहे हैं, अपने हाथों से सुन्दर फूलमाला गूँथेंगे और माँ भवतारिणी के गले में पहनाएँगे, उनके चरणों पर पुष्पांजलि चढ़ाएँगे।

भावमग्न गदाधर की नजर अचानक निकटस्थ मौलश्री घाट की ओर गयी। देखा, घाट पर एक नाव लग रही है और उस पर एक गैरिकवसना परम सुन्दरी भैरवी खड़ी है। भैरवी के लम्बे काले केश कलाप खुले फैले हैं, उसके एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरे में गेरुआ रंग की झोली।

गदाधर एकटक भैरवी को देखने लगे। यह सुन्दर मुख, सिर पर बिखरे बाल, ये बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखें—यह सब तो स्पष्टत: जाना-पहचाना लगता है। काली मंदिर में ध्यानावस्था में उन्होंने यह रूप देखा था। माँ भवतारिणी ने उन्हें बतला दिया था कि यह तंत्रसिद्धा महासाधिका भैरवी आ रही है।

फूलडाली हाथ में लिये गदाधर जल्दी-जल्दी अपने कमरे में चले आये और अपने भांजे से कहा, ''हृदू, तुम तुरत मौलश्री घाट पर चले जाओ। देखोगे, वहाँ एक परम सुन्दरी भैरवी घाट की सीढ़ी पर खड़ी हैं। उन्हें तुम मेरे घर बुला लाओ।''

हृदय को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने मामा का सहचर है, सेवक है, बराबर साथ रहनेवाला है। वह देखता आया है कि उसके मामा त्याग-तितिक्षा और ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर अटूट निष्ठा से भक्ति-साधना में लगे हैं। उन्हें कभी भी स्त्रियों की ओर आकर्षित होते नहीं देखा था। वे आज अचानक क्यों इस संन्यासिनी से मिलने के लिए इतने व्यग्र हो गये हैं, वे स्वयं कह रहे हैं यह संन्यासिनी बड़ी सुन्दर है!

हृदय ने थोड़ा एतराज करते हुए कहा, ''मेरी तो उस संन्यासिनी से कोई जान-पहचान नहीं है। वह क्यों मेरे बुलाने पर यहाँ आएगी?''

"अरे, देरी क्यों कर रहे हो? तुम वहाँ जाकर यही कहना कि उन्हें मैं बुला रहा हूँ। उनसे मिलना मेरे लिए बहुत आवश्यक है।"

हृदय समझता था कि साधना की उच्च अवस्था में रहने के कारण मामा का माथा कुछ खराब हो गया है; एकबग्गा हो गये हैं, और, कोई संकल्प ठान लेते हैं तो उससे उन्हें डिगाना संभव नहीं होता। ऐसी हालत में उनसे बहस करना बेकार है।

यह सब सोच-विचार कर हृदय मौलश्री घाट पर गया। देखा, वहाँ भैरवी आसन फैला कर बैठी है। उसने कहा, "मेरे मामा इस मंदिर के पुजारी हैं। वे आपसे मिलने के लिए बड़े बेचैन हैं।"

बिना किसी दुविधा-संकोच के भैरवी बोलीं, "तब चलो, तब चलो, बाबा। मैं उनसे भेंट करूँगी।" इतना कह कर वे त्रिशूल और झोली उठा कर चल पड़ीं।

हृदय उन्हें राह दिखाता चल रहा था। वह विस्मय-विमूढ़, भावशून्य मनःस्थिति में था।

ठाकुर के कमरे में प्रवेश कर उन्हें देखते ही भैरवी आनन्दाभिभूत हो गयीं। हर्षातिरेक से उनकी आँखों में आँसू आ गये। भावगद्गद कंठ से कहने लगीं, "बाबा, तुम यहाँ बैठे हो! तुम गंगा-तट पर रहते हो, यह जान कर मैं तुम्हें ढूँढ़ने निकली थी।"

"माँ, तुम्हें कैसे मेरी जानकारी मिली?"—ठाकुर ने अत्यन्त उत्सुक हो कर पूछा।

"माँ जगदम्बा ने मुझे आदेश दिया कि मैं तीन साधकों से मिलूँ और उन्हें साधना में सहायता दूँ। उनमें से दो साधकों से तो मैं पूर्व बंगाल में मिल चुकी हूँ और आज गंगा-तट पर तीसरे व्यक्ति, तुमसे भेंट हुई है।"

"जगदम्बा के आदेश से तुम आयी हो तो स्थिर होकर यहाँ बैठो और मेरी बातें सुनो।" तत्पश्चात्, जैसे सरल चित्त बालक अपनी माँ से आनन्दपूर्वक मन की बात कहता है, वैसे ही ठाकुर रामकृष्ण भैरवी को अपने साधन-भजन की बातें तथा दैहिक, मानसिक प्रतिक्रियाएँ और समस्याएँ विस्तारपूर्वक बतलाने लगे।

भैरवी भी धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनने लगीं। कभी तो वे उत्साह से दीप्त हो जातीं और कभी करुणार्द्र होकर अश्रु सजल हो जातीं।

ठाकुर कहते गये कि शुद्ध भक्ति के साधना-पथ पर उन्होंने कैसे कृच्छ-साधन किया है, रागानुगा भक्ति से अनुप्राणित होकर माँ श्यामा के साथ कैसे-कैसे आचार-आचरण किये हैं, कैसे जगज्जननी ने उन्हें दिव्य दर्शन दिया है। उन्होंने यह भी बतलाया कि कुछ वर्ष पूर्व उन्हें कैसे दिव्योन्माद हुआ जिस पर

लोग-बाग कहते थे कि वायुरोग हुआ है। उस अवस्था के कट जाने के बाद उन्हें माँ का दिव्य दर्शन हुआ, अनेक प्रकार की रूप-रस पूर्ण अनुभूतियाँ हुईं। और अभी, इन दिनों वे अद्भुत दिव्य भाव-ज्वार में बहते जा रहे हैं। कोई-कोई कहता है, यह सब पागलपन के लक्षण हैं, और कुछ लोग इन्हें योगसाधना का विकार बतलाते हैं। गंगा प्रसाद नामक एक प्रसिद्ध कविराज हैं। उन्होंने बहुत तरह की दवाएँ खिलायी हैं। लेकिन उन दवाओं से कोई लाभ नहीं हो रहा है।

सारी बातें विस्तारपूर्वक कहने के बाद ठाकुर ने पूछा, "माँ, तुम बतलाओ, यह सब क्या है। क्या मैं सचमुच पागल हो गया हूँ? माँ जगदम्बा को पुकारते-पुकारते मुझे यह कैसा रोग हो गया!"

ठाकुर की बातें सुनकर भैरवी आह्लाद गद्गद हो गयीं। ठाकुर को आश्वस्त करते हुए बोलीं, "बाबा, तुम्हें कौन पागल कहता है? तुम्हारे मन-प्राण में महाभाव का उदय हुआ है। यह सब सात्त्विक प्रेम-विकार है। साधारण लोग या साधारण साधक भी इस परम आध्यात्मिक ऐश्वर्य को भला किस प्रकार समझ सकते हैं? मैं तुमसे ठीक-ठीक कहती हूँ कि कृष्ण-प्रेम में राधारानी की यही दशा हुई थी। श्री चैतन्य महाप्रभु में भी ये सब लक्षण प्रकट हुए थे। भक्ति-शास्त्र में इन बातों का विस्तृत विवरण आया है। मेरी झोली में अनेक शास्त्रग्रन्थ हैं। उन्हें पढ़ कर तुम्हें सुनाऊँगी और समझा दूँगी कि जीवन में ईश्वर-प्रेम का ज्वार आने पर कैसे इस तरह की दशा हो जाती है।"

जहाँ ठाकुर और भैरवी की बातें हो रही थीं, वहाँ एक किनारे हृदयराम भी बैठा था और बड़े मनोयोग से दोनों की बातें सुन रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसके मामा क्या सचमुच साधनापथ पर इतना आगे बढ़ गये हैं।

बातचीत में काफी समय निकल गया था। भैरवी ने जाकर गंगा में स्नान कियां, मंदिर में जाकर देवी का दर्शन कर ठाकुर के कमरे में लौट आयीं। इस बीच ठाकुर ने भैरवी के भोजन के लिए माँ भवतारिणी काली की प्रसादी का फल-मूल, माखन-मिश्री आदि मँगवा लिया था। किन्तु भैरवी तो रामकृष्ण के प्रति मातृभाव से भावित थीं। संतान को खिलाये बिना माँ भला पहले कैसे खा सकती थीं? इसलिए, ठाकुर को ही पहले आहार ग्रहण करना पड़ा और भैरवी ने बाद में भोजन किया।

भैरवी ने अपने गले में गेरुआ रंग की एक छोटी झोली लटका रखी थी। उस झोली में उनके इष्टदेव रघुवीर की नारायण-शिला थी। नारायण को भोग चढ़ाने के लिए उन्हें भोजन तैयार करना था। ठाकुर ने मंदिर के भंडार से चावल, दाल, आटा आदि भोजन की आवश्यक वस्तुएँ मँगवा दीं और भैरवी ने पंचवटी में जाकर भोग तैयार किया।

तदुपरान्त इष्टदेव नारायण-शिला को पूजा-आसन के सम्मुख स्थापित कर उन्होंने भोग चढ़ाया और आसन पर ध्यानस्थ बैठ गयीं। आँखों से प्रेमाश्रु झड़ने लगे और शीघ्र ही उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया।

उस समय ठाकुर रामकृष्ण अपने कमरे में बैठे थे। अचानक उन्हें बोध हुआ कि कोई अनिवार्य आकर्षण उन्हें पंचवटी की ओर खींच रहा है। वे अविलम्ब वहाँ जा पहुँचे और दिव्य भाव के प्रबल ज्वार में उनका बाह्य ज्ञान तिरोहित हो गया। उसी अवस्था में किसी आन्तरिक दिव्य शक्ति से प्रेरित होकर वे रघुवीर-शिला को निवेदित भोगपात्र के निकट बैठ गये और उसी भावाविष्ट दशा में पात्र से भोगान्न लेकर खाने लगे।

इतने में भैरवी की आँखें खुलीं। सामने यह कैसा आश्चर्यजनक, अविश्वसनीय दृश्य है! वे चकित, स्तम्भित रह गयीं। ध्यानावस्था में उन्होंने देखा था कि उनके इष्टदेव रघुवीर स्वयं सामने बैठे भोग ग्रहण कर रहे हैं। प्रत्यक्ष दृश्य देखकर उनका शरीर कंटकित हो गया, आँखें अश्रुसिक्त हो गयीं। यह कैसा रहस्य है! जिस भंगिमा में बैठकर रामकृष्ण भोगान्न खा रहे थे, उसी भंगिमा में भैरवी ने ध्यान में अपने इष्टदेव को बैठे भोजन करते देखा था।

बाह्य ज्ञान लौटने पर रामकृष्ण अपने कृत्य को देखकर घोर लज्जित हुए। उनकी ग्लानि की कोई सीमा न रही। बड़े पश्चात्ताप और भय से कहने लगे, ''मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कैसे बेसंभाल हो गया और यह कांड कर बैठा।''

किन्तु इधर आनन्दातिरेक से भैरवी माँ का मुखमंडल उद्भासित हो रहा था। आँखें हर्षोज्ज्वल थीं। माँ जिस तरह अपने बच्चे को आश्वस्त करती है, वैसे ही वे कहने लगीं, ''तुमने जो-कुछ किया है, ठीक ही किया है। मैं स्पष्ट रूप से समझ रही हूँ कि यह काम तुम्हारा किया नहीं है, बल्कि उनका किया है जो तुम्हारे भीतर जाग्रत् हो गये हैं। मैं यह भी जान गयी हूँ कि किसने यह भोगान्न ग्रहण किया है और क्यों किया है।''

ठाकुर अस्तव्यस्त भाव से बोले, ''तभी तो माँ, मैं बाह्य ज्ञान शून्य होकर ऐसा काम कर बैठा।''

''बाबा, मैं तो कह रही हूँ कि तुमने जो कुछ किया है, सब ठीक-ठीक किया है। मैं समझ गयी हूँ कि मुझे अब पहले की तरह आनुष्ठानिक पूजा और भोग-निवेदन नहीं करना है। मेरी इतने दिनों की पूजा सार्थक हो गयी है।''

भैरवी माँ को दृढ़ विश्वास हो गया कि उनके इष्टदेव रघुवीरजी दक्षिणेश्वर मंदिर के इस काली पुजारी में जाग्रत् हो गये हैं। वे इतना भावविह्वल अवस्था में थीं कि ठाकुर का छोड़ा हुआ जूठा अन्न उन्होंने श्रद्धापूर्वक खा लिया। दिव्य आनन्द में विभोर होकर उन्होंने चिरकाल से आराधित और सेवित इष्टदेव के पवित्र शिलाखंड को गंगा में विसर्जित कर दिया।

इस घटना के बाद भैरवी ठाकुर को संतानरूपी इष्टदेव के भाव से समझने लगीं। उन्होंने ठाकुर के आध्यात्मिक जीवन को पूर्णांग बना कर उन्हें स्वस्थान में सुप्रतिष्ठित करने का संकल्प मन में ठान लिया।

ईश्वर-प्रेरित भैरवी ने ध्यानावस्था में अपने मानस-पट पर काली मंदिर के २४ वर्षीय पुजारी, गदाधर (ठाकुर रामकृष्ण परमहंस का प्रारंभिक नाम) के भावी स्वरूप को स्पष्टतः देखा था। इसलिए वे ममतामयी माँ की तरह गदाधर की रक्षा करने लगीं। उनकी समस्त आध्यात्मिक अनुभूतियों और शास्त्र-ज्ञान का प्रकाश गदाधर के जीवनपथ पर पड़ने लगा।

सर्वप्रथम भैरवी ने ही अपने आध्यात्मिक पुत्र गदाधर के भावी जीवन की संभावनाओं की घोषणा की और तब से ही महासाधक श्री रामकृष्ण का युगाचार्य, लोकगुरु के रूप में लोगों को परिचय मिलने लगा।

देवी जगदम्बा के आदेश पर अचानक ही दक्षिणेश्वर मंदिर के प्रांगण में भैरवी का आगमन हुआ था और उन्होंने अपूर्व निष्ठा, असीम स्नेह और मातृ-वात्सल्य से रामकृष्ण का संरक्षण किया, उन्हें अभयमंत्र और संजीवनी-शक्ति दी। वे छः वर्षों तक रामकृष्ण की रक्षिका और मार्गदर्शिका के रूप में उनके साथ रहीं और, देवी के आदेश पर ही, रहस्यमय ढंग से, एक दिन चली भी गयीं। कहाँ गयीं, क्या मालूम!

मानव सभ्यता के इतिहास में जब तक ठाकुर श्री रामकृष्ण का नाम चमकता रहेगा तब तक उनकी अध्यात्म-जननी, महासाधिका भैरवी भी अविस्मरणीय रहेंगी।

भैरवी योगेश्वरी उत्तर बंगाल के यशोहर इलाके के एक संभ्रांत तंत्रसिद्ध ब्राह्मण कुछ की कन्या थीं। उनका जन्म अनुमानतः सन् १८२२ ई० में हुआ था। उनके पूर्वजन्म के शुभ संस्कार बचपन में जग गये थे और युवावस्था आते-आते, त्याग-वैराग्य और मुमुक्षा की भावनाएँ इतनी तीव्र हो गयीं कि वे एक दिन घर-संसार का निरापद आश्रय छोड़कर सद्गुरु की खोज में निकल पड़ीं। अनेक तीर्थों और सिद्ध पीठों का परिभ्रमण किया।

उन दिनों तीर्थयात्रा में बड़ी कठिनाई थी। रास्ते दुर्गम और विपत्संकुल थे। एक लावण्यमयी युवती साधिका के लिए तो अकेले राह चलना और भी कठिन था। किन्तु भगवत्कृपा और अपने साहसबल से वे सभी संकटों को पार करती गयीं। अन्ततः वे काशी धाम पहुँचीं और एक सिद्ध कौल साधक से तंत्र दीक्षा ली। गुरु के निदेश में कठिन साधना द्वारा तंत्र के विभिन्न स्तरों को पार करते हुए वे पूर्णाभिसिक्त भैरवी बनीं।

तंत्र-सिद्धि के साथ-साथ तंत्रशास्त्र का सम्यक् ज्ञान भी उन्होंने अर्जित किया। किन्तु इन सब उपलब्धियों से उनका मन भरा नहीं। इसलिए, वे रागात्मिका वैष्णवी साधना के पथ पर चलने लगीं। इस मधुर रस की भावसाधना में भी उन्होंने अनन्य मनोयोग और निष्ठा द्वारा पूर्णता प्राप्त कर ली। तत्पश्चात्, गुरु के आदेश पर, अपने इष्टदेव रघुवीर-शिला को कंठ-प्रदेश में धारण कर वे पुनः तीर्थ-परिक्रमण के लिए निकल पड़ीं।

विभिन्न प्रकार की साधना-सिद्धियों और उच्चतर अनुभूतियों के माध्यम से भैरवी योगेश्वरी संस्कार-बंधन से मुक्त होकर चैतन्यमय सिद्धि के स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। संभवतः इसी कारण वे ठाकुर रामकृष्ण की तंत्र साधना की ईश निर्धारित गुरु थीं और जगदम्बा के आदेश से ही दक्षिणेश्वर के देवी-मंदिर में अकस्मात् आविर्भूत हुई थीं।

योगेश्वरी देवी के पिता-माता का परिचय अज्ञात है। यह भी ज्ञात नहीं कि उनका विवाह हुआ था या नहीं, वे सधवा थीं या विधवा। किसी भी सूत्र से पता नहीं चलता है कि वे किस स्थिति में मुक्ति-संधान-पथ पर निकल पड़ी थीं। उनके गुरु कौन महापुरुष थे, उनकी साधना-पद्धति क्या थी और वे किस तरह साधना के विभिन्न स्तरों का अतिक्रमण करती गयीं—ये सारी बातें विस्मृति के अन्धकार में विलीन हैं। वे दक्षिणेश्वर अंचल में वर्षों रहीं और पुत्र-प्रतिम परमप्रिय शिष्य गदाधर का, असीम मातृस्नेह से, आध्यात्मिक संवर्द्धन किया। किन्तु इतने ममत्वपूर्ण घनिष्ठ संबंध के रहते हुए भी उन्होंने कभी गदाधर से अपने पूर्व जीवन की कोई चर्चा की हो—इसका भी कहीं कोई उल्लेख नहीं है। ठाकुर रामकृष्ण ने भी इन बातों को लेकर कभी कोई जिज्ञासा नहीं की, कुतूहल नहीं दिखलाया।

दक्षिणेश्वर मंदिर का पुरोहित नियुक्त होने के लिए ठाकुर रामकृष्ण को शक्ति-दीक्षा लेनी पड़ी थी क्योंकि पुरोहित-कर्म करने के लिए देह-शुद्धि आवश्यक थी और श्यामा पूजा की शास्त्रोक्त विधि भी उन्हें सीख लेनी थी। उस प्रारंभिक दीक्षा का केवल इतना ही प्रयोजन और महत्त्व था। वह दीक्षा दी थी केनाराम भट्टाचार्य नामक तंत्र साधक ने।

केनाराम द्वारा दी गयी दीक्षा लोकाचार-मात्र थी। तरुण पुरोहित रामकृष्ण तो जन्म-जन्मान्तर के सात्त्विक संस्कार लेकर उत्पन्न हुए थे, जिनके बल पर वे स्वयमेव माँ जगदम्बा की साधना में लीन हो गये और अपने असामान्य त्याग-वैराग्य और श्रद्धा-भक्ति के सहारे तीव्र गति से आगे बढ़ते गये। इष्टदेवी का दिव्य दर्शन प्राप्त करके वे कृतार्थ भी हुए।

किन्तु मुमुक्षा की कामना से व्याकुल रामकृष्ण को उससे शांति नहीं मिली। वे तो निर्विकल्प समाधि के लिए, पराशक्ति महामाया की पूर्ण उपलब्धि

के लिए, परब्रह्म की आनन्दानुभूति के लिए, अधीर थे, व्याकुल थे, पागल हो रहे थे। उस अशान्ति के प्रशमन के लिए आत्मानुग्रह—स्वकीय त्याग-वैराग्य और ध्यान-मनन—यथेष्ट नहीं था। आवश्यकता थी विधिवत् साधना द्वारा साधन-पथ के विभिन्न स्तरों को पार करने की।

वे महाशक्ति को 'माँ' कहकर पुकारते थे। अतः वे शक्ति-साधना अथवा तंत्र-साधना की प्रक्रियाओं और स्तर-क्रम को जानना चाहते थे और उनका अनुष्ठान करने के लिए बेचैन थे। देवी भवतारिणी अपने प्रिय पुत्र की व्याकुलता को समझ रही थीं। इसीलिए, उस दिन दक्षिणेश्वर में भैरवी योगेश्वरी का शुभागमन संभव हुआ था। और, भैरवी, ने शीघ्र ही महासाधक रामकृष्ण की भावी भूमिका को देख लिया।[१]

वे रामकृष्ण की ईश्वर-प्रेरित मातृस्वरूपिणी तंत्र-गुरु थीं। जिस दिन रामकृष्ण से उनकी भेंट हुई उसी दिन, सबेरे ही, रामकृष्ण ने ध्यानावस्था में उनका रूप देख लिया था। इसका उल्लेख ठाकुर के आदिभक्त अक्षयकुमार सेन ने 'रामकृष्ण पुथी' नामक बँगला पुस्तक में किया है। उन्होंने स्वयं रामकृष्ण से भैरवी का वर्णन सुना था। वे लिखते हैं :—

"प्रभुदेव पुलकित शरीर और गद्गद कंठ से उन्हें 'माँ' कह कर संबोधित करते थे। वे कहते थे, ये सामान्य स्त्री नहीं हैं। ये गुणों की भंडार हैं। बाहर से जैसी रूपवती हैं, वैसी ही भीतर से भी हैं। श्रीहरिचरणों की आश्रिता इन संन्यासिनी ने बहुत साधन-भजन किया है। इन्हें देवभाषा संस्कृत का विशेष ज्ञान है, और ये शास्त्रों के सुगूढ़ वाक्यों की सरल-सुबोध व्याख्या कर देती हैं।"

"उनकी सम्यक् चर्चा करना संभव नहीं। प्रभु तो कहते थे कि वे मूर्तिमान चारो वेद हैं। तंत्र-शास्त्र, गीता, पुराण, भक्तिशास्त्र उन्हें अक्षरशः कंठस्थ हैं। वे उन्हें ब्राह्मणी कहते थे, इसलिए सब लोग उन्हें इसी नाम से जानते हैं।"[२]

दक्षिणेश्वर मंदिर की एक कोठरी में भैरवी रहने लगीं। देवी-दर्शन और पूजा-ध्यान के बाद वे रामकृष्ण के साथ पंचवटी में चली जातीं। वहाँ दोनों देर-देर तक साधना और शास्त्रादि की चर्चा करते रहते। रामकृष्ण उन्हें विस्तारपूर्वक अपनी प्रत्येक आत्मिक अनुभूति का वर्णन सुनाते और अपनी अनेक समस्याओं और संदेहों को उनके सामने निस्संकोच भाव से रखते।

---

१. अनेक लोगों का मत है कि भैरवी योगेश्वरी ने ही अपने अध्यात्म-पुत्र गदाधर भट्टाचार्य का नामकरण किया था—रामकृष्ण।

२. रामकृष्ण नाम लेकर उनकी चर्चा नहीं करते थे। जब कभी वे उनका उल्लेख करते, ब्राह्मणी ही कहते।

भैरवी भी उत्साहपूर्वक अपनी झोली से गीता, भागवत, चैतन्य भागवत और चैतन्यचरितामृत आदि शास्त्र-ग्रंथ निकालतीं और ठाकुर को समझातीं—"यह देखो, बाबा! तुम्हारे शरीर और मन में जो कुछ हो रहा है, वह सब राधारानी और श्री चैतन्यदेव को भी हुआ। यह सब 'महाभाव' है। इसे साधन-भजनहीन साधारण लोग भला कैसे समझ सकते हैं? यही कारण है कि कुछ लोग कहते हैं, कठिन साधना के कारण तुम्हारे माथे में वायु का प्रकोप हो गया है, कोई कहता है, यह सब निरा पागलपन है और कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि माँ काली की कृपा तुम्हारे ऊपर ढलक पड़ी है जिसके कारण तुम बेसंभाल हो रहे हो।"

"माँ, तुम तो बिलकुल नयी बात कह रही हो, नया तत्त्व बतला रही हो!", चकित-विस्मित बच्चे की तरह रामकृष्ण ने उत्तर दिया।

"हाँ बाबा, मैं ठीक कह रही हूँ। यह शास्त्रोक्त बात है। मैं पंडितों के सामने शास्त्रग्रंथ खोल कर तुम्हारी अवस्था का प्रमाण दूँगी।"

इस तरह अध्यात्म-प्रसंग को लेकर दोनों के कितने ही दिन परमानन्द में कट गये। एक दिन अचानक रामकृष्ण को होश आया। भैरवी उन्हें विशुद्ध संतान-भाव से देखती हैं, और वे स्वयं भैरवी को माँ मानते हैं; वात्सल्य-रस से प्रेरित होकर मातृस्वरूपिणी भैरवी उन्हें साधन-पथ पर चलने में सहायता दे रही हैं। किन्तु, भैरवी परम सुन्दरी हैं, अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है, फिर भी, अंग-प्रत्यंग से यौवन का लावण्य फूटा पड़ता है। इसलिए, साधारण लोग दोनों का इतना घनिष्ठ भाव से मिलना-जुलना, विशेष कर भैरवी का रात में दक्षिणेश्वर मंदिर में रहना, भली नजर से नहीं देखेंगे। मंदिर में कितने प्रकार के दर्शनार्थी रोज आते रहते हैं। मंदिर में पुजारियों, सेवकों, रसोइदारों और दरवानों की संख्या भी तो कुछ कम नहीं। वे लोग भैरवी और ठाकुर के इस निष्कलुष सम्पर्क को नीच दृष्टि से ही देखेंगे।

रामकृष्ण ने भैरवी को बुला कर अपने मन की ये बातें कहीं। भैरवी ने कहा, "तुम ठीक कह रहे हो, बाबा! निन्दकों को निन्दा करने का अवसर नहीं देना चाहिए। जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर भी नजर रखना जरूरी है।"

रामकृष्ण को दक्षिणेश्वर के आसपास की सभी जगहों की पूरी जानकारी थी। उन्होंने कहा—"माँ, तुम मंडल परिवार के घाट पर जाकर रहो। वह जगह बिलकुल एकान्त है; पास में ही एक छोटा श्मशान भी है। पासपड़ोस में अच्छे भक्त लोग हैं। वे सब यत्नपूर्वक तुम्हारी देखभाल करेंगे।"

सचमुच ही वह स्थान भैरवी के लिए बड़ा उपयुक्त था। वे रामकृष्ण के अध्यात्म-जीवन में सहायता के लिए ईश्वरीय प्रेरणा से आयी थीं। इस कार्य में उन्हें अपने नये वासस्थान में बड़ी सहूलियत थी। वह स्थान दक्षिणेश्वर मंदिर के सटे उत्तर में था जहाँ से वे जितनी बार चाहतीं, दक्षिणेश्वर मंदिर के चबूतरे पर आकर रामकृष्ण को देखतीं, उनको साथ लेकर पंचवटी में जा सकती थीं।

मंडल-घाट पर जाकर भैरवी ने अपना आसन स्थापित किया। घाट के मालिकों ने इन दिव्यदर्शना संन्यासिनी का हार्दिक स्वागत किया। निकट ही एक स्थानीय जमींदार, नवीन नियोगी रहते थे। उनकी भक्तिमती स्त्री ने भैरवी माँ के रहने और खाने-पीने का अच्छा प्रबन्ध कर डाला। घाट के एक किनारे एक छोटा-सा कमरा था, जिसमें भैरवी माँ के लिए एक तख्तपोश (चौकी) डाल कर उनका बिछावन तैयार कर दिया गया। भक्त स्त्रियों ने चावल, दाल, आटा, घी-मैदा आदि खाद्य पदार्थ प्रचुर परिमाण में जुटा दिये।

थोड़े दिनों में ही स्थानीय महिला समाज में सिद्धा साधिका भैरवी माँ की प्रसिद्धि फैल गयी और सबकी सब महिलाएँ उनके दर्शनार्थ आने लगीं। भैरवी के मुख से रामकृष्ण की महिमा सुनकर वे सब विस्मित थीं। लोक-परम्परा के अनुसार, उन्होंने सुन रखा था कि काली मंदिर के युवक पुरोहित, छोटे भट्टाचार्य का 'भाव-टाव' कुछ होता है और उस पर काली माँ का 'भार' आता है। किन्तु अब तो, सारे भारत के तीर्थों की परिक्रमा करके आई हुई तेजस्विनी भैरवी अपने मुख से सब सुना रही थीं उस ब्राह्मण पुजारी के अपार माहात्म्य की बात। वह पुजारी केवल सिद्ध पुरुष ही नहीं है बल्कि अवतारी पुरुष है, जिसके दर्शनमात्र से पुण्य होगा।

ग्रामवासिनी महिलाएँ भैरवी की बातों से इतनी प्रभावित हुईं कि गंगा-स्नान करके दल बाँध कर वे भैरवी के साथ रामकृष्ण के दर्शनार्थ आने लगीं।

श्री रामकृष्ण के अभ्युदय की कथा में भैरवी योगेश्वरी द्वारा उनका यह माहात्म्य-प्रचार विशेष महत्त्व रखता है। बल्कि, उन्होंने महिला भक्तों को जो रामकृष्ण के प्रति आकृष्ट किया, यह भी रामकृष्ण के भक्तों को संघबद्ध करने का प्रारंभिक प्रयास माना जायगा।

भैरवी के द्वारा रामकृष्ण के महिमा-विस्तार का प्रभाव दक्षिणेश्वर मंदिर के परिचालकों और दर्शनार्थियों पर भी पड़ा। वे ठाकुर के प्रति विशेष सतर्क और श्रद्धावान हो गये। इससे ठाकुर का भी आत्मविश्वास जागरित हो गया।

रानी रासमणि के दामाद मथुरनाथ विश्वास रासमणि की जमींदारी के मैनेजर भी थे और दक्षिणेश्वर कालीमंदिर की व्यवस्था भी सँभालते थे। ठाकुर रामकृष्ण के साधन-जीवन पर सबसे पहले उनकी ही नजर पड़ी और वे उनके श्रेष्ठ भक्त बन गये। मथुर सचमुच बड़े भाग्यवान थे। जिस समय मंदिर के कर्मचारी और दर्शनार्थी रामकृष्ण को पगला पुजारी समझते और उनकी आर्त्तिमती मातृसाधना का, वायुरोग समझ कर, उपहास करते थे, मथुरानाथ उनके माहात्म्य को तभी पहचानने लगे थे।

वस्तुतः उन्होंने ठाकुर के त्याग-वैराग्य की सब तरह से परीक्षा कर ली थी। वर्षों उन्होंने ठाकुर की शुद्धाभक्ति के प्रबल ज्वार को देखा था, उनकी दिव्योन्माद की दशा देखी थी। वे समझ गये थे कि ठाकुर माँ जगदम्बा के शुद्धसत्त्व, भक्तिसिद्ध साधक हैं। इतना ही नहीं, कई बार कठिन सांसारिक समस्याओं के मौके पर, ठाकुर की कृपा से, उनकी रक्षा भी हुई थी। इसलिए, वे ठाकुर के प्रति आंतरिक स्नेह और श्रद्धा-भाव रखते थे। वे जब भी दक्षिणेश्वर आते, कुछ समय बड़े आनन्द से ठाकुर के साथ बिताते। नितान्त निष्कपट भाव से दोनों एक-दूसरे को अपने-अपने मन की बताते। आपस में नाना प्रकार की ईश्वरीय चर्चा भी चलाते। कभी-कभी मथुर बाबू ठाकुर को रानी रासमणि के जानबाजार स्थित महल में भी ले जाते और वहाँ बड़ी हार्दिकता से उनका स्वागत-सत्कार करते थे।

एक दिन मथुर बाबू काली मंदिर आये और ठाकुर के साथ पंचवटी में जा बैठे। वहाँ दोनों में ईश्वरीय प्रसंगों पर देर तक बातचीत होती रही, हास-परिहास चलता रहा। मथुर बाबू के मन का चिन्ता-भार बहुत कुछ हलका हो गया।

उस बातचीत के दौरान मथुर बाबू को भैरवी के आगमन की खबर मिली। उन दिनों दक्षिणेश्वर मंदिर में देश के विभिन्न अंचलों से साधु-सन्त आते थे। मंदिर के खजांची से 'सीधा' लेकर वे देवी-देवता को भोग-राग लगाकर अपनी राह चले जाते थे। इन आगन्तुक साधुओं से भैरवी सर्वथा भिन्न प्रकार की थीं। इनमें प्रचुर शास्त्र-ज्ञान के साथ-साथ अत्युच्च कोटि की साधना का अपूर्व संयोग था।

मथुर बाबू को यह भी खबर मिली कि भैरवी को वहाँ आये कई दिन हो गये हैं और इसी अवधि में उन्होंने उस इलाके के जनमानस को प्रभावित कर दिया है। वे दैवादेश से प्रेरित होकर साधक रामकृष्ण को गंगा-किनारे-किनारे खोजते हुए दक्षिणेश्वर आई हैं।

सरलचित बालक की तरह रामकृष्ण ने मथुर बाबू से कहा, ''इतना ही नहीं, मँझले बाबू! वे तो मेरे संबंध में बड़ी अद्‌भुत बातें कह रही हैं, जिन पर सहज ही कोई आदमी विश्वास नहीं करेगा।''

मथुर बाबू ने आग्रहपूर्वक पूछा, ''मुझे बताओ न बाबा, भैरवी क्या सब कहती हैं।''

अपने शरीर की ओर उँगली से इशारा करते हुए ठाकुर बोले, ''कहती हैं कि इसमें ईश्वर का अवतरण हुआ है। मुझे वायु रोग-टोग नहीं है। मुझमें महाभाव का उदय हुआ है, जैसा कि राधारानी और महाप्रभु चैतन्य में हुआ था। वे तो यह भी कहती हैं कि इस देह में नित्यानन्द के साथ चैतन्य देव का आविर्भाव हुआ है।''

प्रस्तुत स्थिति में यह कहना कठिन था कि भैरवी ये बातें रामकृष्ण के प्रति अपने अतिशय मातृस्नेह के वशीभूत होकर कहती थीं या उनकी बातों के पीछे कोई शास्त्रीय प्रमाण भी था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनकी बातों से तरुण साधक रामकृष्ण का मन अनेक प्रश्नों को लेकर व्यग्र हो उठा था।

ठाकुर रामकृष्ण के संबंध में भैरवी की इन सब धारणाओं के मूल में मुख्यतः तीन कारण थे। प्रथमतः, वे दैवी प्रेरणा से गंगातटवर्त्ती इस दक्षिणेश्वर मंदिर में एक ऐसे साधक की शिक्षागुरु होकर आयी थीं जो परम शुद्धसत्त्व था, सर्वथा अपापविद्ध था, और जिसमें एक ईश्वर-प्रेरित विराट् पुरुष के भावी अभ्युदय की संभावना थी।

द्वितीयतः, भैरवी ने रामकृष्ण के शरीर में शास्त्रवर्णित महाभाव के सभी लक्षण देखे थे।

तृतीयतः, भैरवी ठाकुर के मुख से ही सिउड़ गाँव में अलौकिक दर्शन की कहानी सुन कर उत्साहित थीं। डेढ़ वर्ष पहले ठाकुर अपने गाँव, कामारपुकुर गए थे। वहाँ के निकट ही सिउड़ गाँव था जहाँ वे एक दिन पालकी पर चढ़ कर घूमने जा रहे थे। सिर के ऊपर निस्सीम आकाश का विस्तार फैला था। नीचे जहाँ तक नजर जाती, शस्य-श्यामल खेतों का फैलाव था। सड़क के किनारे बट-पाकड़ की छाया देखकर पालकी के कहार पालकी उतार कर तम्बाकू खाने और सुस्ताने के लिए बैठ गये। प्रकृति के इस रम्य परिवेश को देखकर ठाकुर का मन स्वभावतः परमानन्दमुखीन हो गया।

हठात् उन्होंने देखा कि उनकी देह से दो अतिशय रूपवान बालक निकले हैं, जिनके मुखमण्डल दिव्य आनन्द से उद्‌भासित हो रहे हैं। दोनों लड़के कभी तो ठाकुर की पालकी के निकट खेलते हैं, आनन्दातिरेक में हँसते हैं और कभी दौड़-दौड़ कर खेतों से बनफूल तोड़ लाते हैं। यह सब कुछ देर तक चला और दोनों लड़के अन्ततः ठाकुर की देह में प्रवेश कर अन्तर्हित हो गए।

कुछ ही दिनों में घनिष्ठता हो जाने पर ठाकुर अपने साधन-भजन और अलौकिक अनुभूतियों की बातें भैरवी को बताने लगे थे। उसी क्रम में उन्होंने सिउड़ गाँव के उस अतीन्द्रिय-दर्शन की कहानी भी कह डाली जिसे सुन कर भैरवी ने भावावेग में आकर कहा, "बाबा, तुमने ठीक ही देखा था। नित्यानन्द की देह में चैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ है और वे दोनों एक साथ ही तुम्हारे शरीर में अधिष्ठित हैं।"

"यह सब मैं क्या जानूँ?"—कह कर ठाकुर उस दिन मौन हो गये।

जैसी कि ठाकुर की आदत थी, उन्होंने खुले मन से सारी बातें मथुर बाबू से कही दीं और पूछा, "मुझे तो यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता; तुम कुछ समझ रहे हो, बाबूजी?"

मथुर बाबू को ठाकुर के प्रति यथेष्ट श्रद्धा-विश्वास था किन्तु वे दृढ़ व्यक्तित्व-संपन्न व्यक्ति थे; अंग्रेजी शिक्षा पायी थी। और विविध विषयों एवं विज्ञान का भी उन्हें ज्ञान था। सुचतुर संसारी आदमी होने के कारण लोगों को समझने में वे बड़े प्रवीण थे। अनेक दिनों के घनिष्ठ सम्पर्क से उन्हें ज्ञात हो चुका था कि ठाकुर रामकृष्ण पर माँ जगदम्बा की अपार कृपा है। इसलिए वे आपद्-विपद् में ठाकुर को अपना संरक्षक मानते थे। परन्तु ठाकुर को अवतार मानने के लिए उनका मन किसी तरह राजी नहीं था। इसलिए, उन्होंने हँसते-हँसते कहा, ''बाबा, हमलोगों के शास्त्र में दस अवतारों की ही चर्चा है। इससे अधिक क्या कहा जा सकता है ?''

दोनों पंचवटी में बैठे बातें कर रहे थे। उसी समय थोड़ी दूर पर भैरवी दिखायी पड़ीं। वे बहुत स्नेहपूर्वक रामकृष्ण की ओर बढ़ी आ रही थीं। उनके साथ कई भक्त महिलाएँ भी थीं।

रामकृष्ण ने उल्लसित होकर मथुर बाबू से कहा—''यह देखो! यह भैरवी हैं, जिनकी मैं इतनी देर से चर्चा कर रहा था।''

भैरवी के हाथ में एक थाली थी जिसमें खीर, मिठाई, मक्खन-मिसरी आदि प्रचुर भोजन-सामग्री सजी थी। वे नन्दरानी, माँ यशोदा के भावावेश में थीं। वात्सल्य-रस से उनका देह-मन-प्राण भरा था। वे संगिनियों के साथ अपने गोपाल को खिलाने आयी थीं। भावातिरेक से उनका शरीर काँप रहा था, मुखमंडल आरक्त हो रहा था।

मथुर बाबू इस प्रियदर्शना संन्यासिनी को एकटक देखने लगे—आयु चालीस के आसपास है, फिर भी, अंगों में यौवन तरंगायित है; सारा शरीर साँचे में ढला-जैसा है; कच्चे सोने-जैसा रंग है; आँखें बड़ी-बड़ी और भावपूर्ण हैं; सिर पर आलुलाथित दीर्घ केशराशि दोनों ओर फैली है। बड़ा ही विस्मयकारी, आकर्षक व्यक्तित्व है।

ठाकुर के निकट बैठे मथुर बाबू को देखकर भैरवी अपने भाव-ज्वार को संभाल कर संयत हो गयीं और भोजन की थाली ठाकुर के हाथ में रख दी।

ठाकुर ने बड़े आदर से भोजन किया और बालकोचित सहजता से भैरवी माँ से कहा, ''तुमने मेरे संबंध में जो कुछ कहा है वह सब मैंने इन्हें बतला दिया है। लेकिन ये तो कह रहे हैं, दस ही अवतार हैं, अधिक नहीं। तब ?''

मथुर बाबू ने हाथ जोड़ कर संन्यासिनी को प्रणाम किया। हँसते हुए बोले, ''हाँ, बाबा को मैंने ऐसा ही कहा है।''

भैरवी मथुर बाबू को आशीर्वाद देकर अपनी बात का शास्त्रीय प्रमाण देने को उद्यत हुईं, ''क्यों बाबा, मैंने तो कोई अशास्त्रीय बात नहीं कही है। श्रीमद्भागवत

भक्ति-मार्ग का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ है। उसमें स्वयं व्यासदेव ने प्रथम चौबीस प्रधान अवतारों की बात लिखी है और बतलाया है कि और भी अवतार होंगे। इसके अलावा, वैष्णव पंडितों ने भी अपनी पुस्तकों में लिखा है कि जीव-कल्याण के लिए महाप्रभु अब अवतीर्ण होंगे।''

मथुर बाबू शांत भाव से भैरवी की बातें सुनते रहे। तर्क-वितर्क के वितंडावाद में पड़ना उन्होंने उचित नहीं समझा। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वे ठाकुर के साथ दूसरी-दूसरी बातें करके चले गये।

कई दिनों बाद मथुर बाबू माँ भवतारिणी का दर्शन करने दक्षिणेश्वर आये। देखा, भैरवी ध्यान-पूजन करके देवी-मंदिर से निकल रही हैं। वे एक बड़ी जमींदारी और व्यवसाय के कर्त्ताधर्त्ता थे। बुद्धिमान तो थे ही, हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद में भी निपुण थे। उन्हें मालूम नहीं था कि भैरवी किस स्तर की साधिका हैं और साधना-सिद्धि के किस स्तर पर अधिष्ठित हैं। उन्होंने अनेक सात्विक प्रकृति के बुद्धिमान लोगों को पथभ्रष्ट होते देखा था। वैसे भ्रष्ट संन्यासियों और संन्यासिनियों की उन्हें खूब अच्छी जानकारी थी। वे तांत्रिकों के भोगवाद और कामविलास की अनेक रसीली कहानियाँ जानते थे। इसलिए वे भैरवी के संबंध में सतर्क थे। उनके प्रति अभी उनके मन में श्रद्धाभाव का उदय नहीं हुआ था।

उन्होंने ठाकुर के मुँह से भैरवी की प्रशंसा अवश्य सुनी थी, किन्तु उनका खयाल था कि ठाकुर सरल स्वभाव के आदमी हैं, भैरवी पर संदेह करना या उनकी जाँच करना उनके लिए संभव नहीं है। किन्तु हम संसारी लोग केवल गेरुआ वस्त्र देख कर ही किसी पर कैसे विश्वास कर लें!

इन सब प्रश्नों को लेकर मथुर बाबू भैरवी के संबंध में ऊहापोह में पड़े थे। सोचते थे—यौवन-चंचल देह-मन लेकर अनेक तीर्थों की अकेले पदयात्रा की है; कितने ही कामुक गृहस्थ और संन्यासी इनके पीछे पड़े होंगे। वैसी स्थिति में, ये कितनी दूर तक अपनी रक्षा कर सकी होंगी?

तो, उस दिन देवी-मंदिर से निकल कर भैरवी जा रही थीं और मथुर बाबू पास ही प्रांगण में खड़े थे। उन्होंने हास-परिहास के स्वर में पूछा, 'भैरवी, तुम्हारा भैरव कहाँ है?'

इस प्रश्न पर भैरवी न तो क्रुद्ध हुईं और न घबरायीं ही। स्थिर नेत्रों से मथुर बाबू को देखते हुए उन्होंने देवी-मूर्त्ति के पदतल में शायित शिव की मूर्त्ति की ओर उँगली का इशारा करते हुए कहा, 'वही तो मेरे भैरव हैं!'

रसिक मथुर बाबू चुप रहने वाले नहीं थे। कहा, 'वह तो अचल प्रस्तर-मूर्त्ति है। मैं तो सचल, जीवन्त भैरव की बात पूछ रहा था।'

धीर गंभीर स्वर में योगेश्वरी भैरवी ने उत्तर दिया, 'अगर अचल शिव को सचल करने का सामर्थ्य नहीं रखती तो मैं भैरवी बनती ही क्यों?'

यह आत्मविश्वासपूर्ण वाणी सुनकर मथुर बड़े लज्जित हुए। उनसे आगे कुछ कहते नहीं बना।

मथुर बाबू और रानी रासमणि तथा दक्षिणेश्वर मंदिर से संलग्न लोगों को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि भैरवी योग-विभूति-सम्पन्न उच्चस्तर संन्यासिनी हैं; वे तंत्रोक्त शक्ति-साधना में जिस तरह पारंगत हैं, उसी तरह रागात्मिका भक्ति-साधना में अत्युच्च स्तर पर अवस्थित हैं।

योगश्वरी भैरवी के आगमन-काल में तरुण साधक रामकृष्ण का जीवनप्रवाह भरपूर भक्ति-प्रेम के रस से तरंगित हो रहा था और शरीर में तीव्र जलन होती थी। इस जलन को शांत करने के लिए वे बार-बार गंगा में डुबकी लगाते थे, घंटों सिर में भींगा गमछा लपेटे रहते थे, कभी कमरे के अन्दर तख्तपोश को भिजाकर उस पर लोट-पोट करते। किन्तु उनका शरीर-दाह किसी तरह भी शांत नहीं होता था; अन्तर्ज्वाला से देह-प्राण भट्ठी-सा जल रहा था। तीव्र पीड़ा से वे दिनरात छटपट करते रहते थे।

बड़े करुण स्वर से ठाकुर ने भैरवी से कहा—"शरीर की यह जलन अब असह्य हो रही है। कई वर्ष पहले भी एक बार ऐसा ही हुआ था और अनेक प्रकार के उपचार करने पर जलन शांत हुई थी। किन्तु इस बार तो प्राण ही जा रहा है। मथुर, हृदू और कविराज, सब लोग कोशिश करते-करते हार गये हैं; कोई लाभ नहीं हो रहा है। पता नहीं, माँ जगदम्बा इस शरीर का क्या करना चाहती है!"

स्नेहसिक्त स्वर से भैरवी ने आश्वासन देते हुए कहा, "कोई चिन्ता न करो, बाबा, तुमको कोई रोग नहीं हुआ है। यह तो इष्ट-विरह की ज्वाला है। महाभाव का वेग इसी तरह चढ़ता है, और उस समय इसी तरह की अन्तर्ज्वाला होती है। मैं इसका उपाय करती हूँ।"

मथुर बाबू के दक्षिणेश्वर आने पर भैरवी ने उनसे कहा, "बाबा के लिए तुम लोग कोई चिन्ता न करो। उसके देह-दाह का उपचार है गले में सुगंधित फूलों की माला पहनाना और शरीर पर चन्दन का लेप चढ़ाना।"

मथुर बाबू हँसी रोक नहीं सके—भैरवी पागल की तरह क्या सब बक रही हैं! वे मन-ही-मन सोचने लगे—इन्हें कविराज की दवाएँ काँड़ी-काँड़ी खिलायी गयी हैं। सिर पर मध्यम नारायण तेल और विष्णु तेल की मालिश की गयी है। इन सबसे जब कोई लाभ नहीं हुआ तो फूलमाला पहनाकर, चन्दनलेप लगाकर ठाकुर को नट-वेश में सजाने से क्या होगा?

"क्यों बाबा! तुम चुप क्यों हो गये? मेरी बात पर तुम्हें विश्वास नहीं हुआ? क्या यह कोई रोग है जो डाक्टर-कविराज की दवा से दूर हो जायगा? यह तो इष्ट-विरह का परिणाम है। फूल-चन्दन से शरीर को खूब सुसज्जित कर प्रगाढ़ प्रेमभाव से इष्टदेव के साथ एकात्म हो जाने पर इस पीड़ा का अवसान होगा। माला-चन्दन से दिव्य प्रेम का स्फुरण होगा और शरीर में इष्ट-स्फूर्त्ति आएगी।"

भैरवी का यह कथन सुनकर मथुर बाबू चौंक पड़े। सोचा, भैरवी की बात हास्यास्पद तो अवश्य है, किन्तु उसे मान लेने में हर्ज क्या है? फूल-चन्दन का जोगाड़ करना अत्यन्त सहज है। तब, देखा जाय कि इस उपचार का क्या परिणाम होता है। कोई लाभ नहीं होगा तो रोगी स्वयं ही फूल-चन्दन को हटा फेंकेगा।

भैरवी के कहने के मोताबिक ठाकुर को गंगा-स्नान कराके कई लड़ियों वाली फूलमाला पहना दी गई, देह पर चन्दन का लेप चढ़ा दिया गया। तीन दिनों तक यह उपचार चला। किसी को विश्वास नहीं था कि इससे कोई लाभ होगा। लेकिन तीन दिनों के बाद ही लोगों ने देखा कि ठाकुर का देह-दाह बिल्कुल दूर हो गया है। देह-मन आनन्दोत्फुल्ल हो चला है और शरीर की गौर कांति फूटी पड़ रही है।

भैरवी की व्यवस्था का यह परिणाम देख कर बहुत-से लोग विस्मित थे। लेकिन सर्वत्र सब समय कुछ संशयशील लोग तो रहते ही हैं। वैसे शंकाग्रस्त लोग कहने लगे कि यह तो संयोग की बात भी हो सकती है। पहले जो दवाएँ दी गई थीं, तेल-मालिश चली थी, उन सबका ही यह परिणाम है।

लेकिन ठाकुर के मथुर तथा कुछ अन्य बुद्धिमानं भक्तों ने मान लिया कि भैरवी ने अपनी दिव्य दृष्टि से रोग का ठीक-ठीक निदान निकाला और उपचार किया। भैरवी का यह कहना भी बिलकुल सही निकला कि ठाकुर तीन दिनों में स्वस्थ हो जायँगे और अपनी स्वाभाविक स्थिति में लौट आएँगे।

इस घटना के बाद मथुर बाबू की नजर में भैरवी की बुद्धिमत्ता, शास्त्र-ज्ञान और योग-विभूति का मूल्य बढ़ गया। किन्तु भैरवी का रामकृष्ण को बार-बार अवतार घोषित करना उन्हें बिलकुल पसंद नहीं था और न वे इस बात को कोई महत्त्व ही देते थे। अन्य लोगों को भी भैरवी की इस बात पर विश्वास नहीं होता था; कुछ लोग तो निन्दा-उपहास भी करने लगे थे।

यों तो बात आयी-गयी हो गयी होती, लेकिन, स्वयं ठाकुर रामकृष्ण के आग्रह-अनुरोध से इस चर्चा ने तूल पकड़ लिया। उन्होंने एक दिन मथुर बाबू से कहा, "ब्राह्मणी मेरे बारे में तरह-तरह की बात कहती रहती हैं; वे बड़े-बड़े

पंडितों को बुलाकर शास्त्रार्थ करना चाहती हैं। तुम उस तरह की तर्क-सभा का आयोजन कर दो, बाबू! देखा जाय कि वे लोग क्या कहते हैं।''

मथुर बाबू ने भी सोचा कि जब बाबा अनुरोध कर रहे हैं तो क्यों नहीं दो-चार पंडितों को बुलाया जाय। उन लोगों का तर्क-वितर्क सुनने में हानि ही क्या है?

मथुर बाबू के मन में क्षीण आशा भी जग रही थी कि पंडित लोग अगर शास्त्रबल से भैरवी के दावे का खंडन कर देंगे तो एक झमेला ही कट जायगा; बाबा भी समझ जायँगे कि कठोर साधना के कारण उन्हें सचमुच वायु-रोग हो गया है। सही बात की जानकारी हो जाने पर वे स्वयं ही संभल जायँगे। भैरवी दिन-रात बाबा को घेरे रहती है और उन्हें बार-बार अवतार घोषित करती हैं। इससे बाबा का माथा और भी बिगड़ जायगा, और आश्चर्य नहीं कि वे बिलकुल पागल हो जायें।

खूब सोच-समझ कर, अच्छी तरह पता लगाकर, मथुर बाबू ने सुपंडित वैष्णवचरण को आमंत्रित करने का निश्चय किया। उन दिनों कलकत्ता शहर और आस-पास के इलाके में, वैष्णव लोगों के बीच, पंडित वैष्णवचरण की बड़ी प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि थी। भैरवी ने भी उनका नाम सुन रखा था। उन्होंने भी पंडितजी को बुलाने के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। तय हुआ कि दक्षिणेश्वर मंदिर के प्रांगण में ही पंडित वैष्णवचरण का भैरवी के साथ विचार-विमर्श हो।

उस समय ठाकुर एक और व्याधि से पीड़ित हो रहे थे। उन्हें दिन-रात भूख लगी रहती थी। भोजन की मात्रा बेहिसाब बढ़ गई थी; आकंठ भोजन करने के बाद भी वे भूख की शिकायत करते थे। इस राक्षसी क्षुधा से छुटकारा कैसे मिले?

ठाकुर ने भैरवी से पूछा, मुझे यह कैसा रोग हो गया है? दिन-रात 'खाँव-खाँव' करता रहता हूँ। लोगबाग क्या कहते होंगे!

''नहीं बाबा, तुमको कोई रोग-टोग नहीं है। साधना की उच्च अवस्था में स्थूल, मोटी साँस सूक्ष्म हो जाती है, और सूक्ष्म वायु ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर उठने लगती है। उसके परिणामस्वरूप पाकस्थली में शून्यता का भाव आता है और बराबर भूख लगती रहती है। योग, तंत्र, भक्ति, ज्ञान—सभी तरह की साधनाओं में उच्च स्तर पर पहुँचने पर ऐसा होता ही है। ऐसी अवस्था थोड़े दिनों में स्वयं मिट जाती है। इसलिए, चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं इसका भी उपाय करती हूँ।''

दूसरे दिन मथुर बाबू दक्षिणेश्वर आये थे। ठाकुर उनसे अपनी भूखव्याधि की बात कहने लगे। भैरवी वहाँ पास में ही थीं। उन्होंने हँसते-हँसते मथुर बाबू से कहा, ''बाबा के घर में हाँड़ी-हाँड़ी मूढी, चिउड़ा, पूरी-संदेश, रसगुल्ला वगैरह खाद्य-सामग्री रखवा दो। कुछ ही दिनों में सब ठीक हो जायगा।''

मथुर बाबू तो अपने बाबा के भक्त, सेवक, रसददार—सबकुछ थे। भैरवी का प्रस्ताव उन्हें खूब पसन्द आया। उन्होंने तुरत ही सब कुछ का इन्तजाम करवा दिया। ठाकुर के कमरे में खाने की चीजें प्रचुर मात्रा में रख दी गयीं।

भैरवी ने भी हँसते-हँसते ठाकुर से कहा, "लो बाबा, इच्छा भर खाओ। तुम्हारी बीमारी की दवा का जोगाड़ हो गया। तुम दिनरात अपने कमरे में ही रहो और जब इच्छा हो, जो इच्छा हो, पेट-भर खा लिया करो। कुछ ही दिनों में तुम्हारी यह राक्षसी भूख मिट जायगी।"

सचमुच, कुछ वैसा ही हुआ। ठाकुर शीघ्र ही इस अस्वाभाविक स्थिति से छुटकारा पा गए।

शास्त्रीय आलोचना-सभा का निमंत्रण पाकर पंडित वैष्णवचरण एक दिन दक्षिणेश्वर आये। उनके साथ उनके कुछ भक्त और प्रशंसक भी थे। पंडितजी को वैष्णव शास्त्र का प्रचुर ज्ञान था जिसके कारण वैष्णव समाज उनका विशेष आदर करता था। वैष्णव तत्त्व की व्याख्या-विश्लेषण के लिए अनेक लोग उनके घर आते थे। श्रीमद्‌भागवत और चैतन्यचरितामृत की कथा कहने में वे बड़े दक्ष थे। वैष्णव शास्त्र के सुपंडित होने के अलावा वे उच्च कोटि के वैष्णव साधक भी थे।

भैरवी योगेश्वरी को उन्हीं पंडित वैष्णवचरण और उनके भक्तों के सम्मुख, सभा में, सिद्ध करना था कि ठाकुर रामकृष्ण कोई सामान्य जन नहीं, बल्कि अवतारी पुरुष हैं।

उस शास्त्र-चर्चा में स्वयं रामकृष्ण एक दर्शक के रूप में उपस्थित थे। उनसे ही सभा का विवरण सुनकर स्वामी शारदानन्द ने लिखा है :—

"ब्राह्मणी ने सभामंडली को रामकृष्ण की अवस्था के संबंध में सारी बातें विस्तारपूर्वक बतायीं जिन्हें उन्होंने लोगों से सुना था और जिनकी वे स्वयं प्रत्यक्षदर्शिनी थीं। भक्ति-पथ के पुराने आचार्यों और साधकों के शास्त्रवर्णित अनुभवों से रामकृष्ण की वर्तमान अवस्था की समानता सिद्ध करते हुए उन्होंने अपना मत प्रस्थापित किया।"

"उन्होंने वैष्णवचरण से कहा, आप यदि विचाराधीन विषय पर मेरे विचारों से सहमत नहीं हैं तो मुझे अपनी असहमति का कारण समझाइए।"

"माता जिस तरह वीरता और साहस से अपनी संतान की रक्षा करती है, उसी तरह ब्राह्मणी भी किसी दैवी बल से रामकृष्ण के समर्थन में प्रस्तुत थीं। और ठाकुर ?—जिनको लेकर यह सब कांड हो रहा था—वे तो वाद-विवाद में अन्य लोगों के बीच में अलग-थलग बैठे आत्मानन्द में मुसकरा रहे थे। कभी-कभी निकटस्थ खोमचा वाले से एक-दो मिठाई या चना-चबेना लेकर मुँह में डाल लेते थे और इस तरह बातचीत सुनने लगते थे जैसे कि यह विचार-विमर्श

उनके संबंध में नहीं, किसी अन्य व्यक्ति के संबंध में चल रहा है। कभी-कभी वे वैष्णवचरण की देह छूकर उनसे अपनी अवस्था के संबंध में कहते, 'हाँ, हाँ, मुझे ऐसा ही होता है।''

''सभा में ठाकुर श्री रामकृष्ण को देखते ही पंडित वैष्णवचरण ने समझ लिया था कि यह कोई उच्च कोटि के महात्मा हैं। स्वयं भैरवी के मुख से भी उन्होंने रामकृष्ण के संबंध में उनके अपने अनुभव सुने। भक्तिशास्त्र के प्रमाणों को लेकर दोनों में कुछ विचार-विमर्श हुआ।''

''वैष्णवचरण उच्च कोटि के पंडित तो थे ही, वे विशिष्ट साधक भी थे। वे वहीं, सभा-स्थल पर, ईश्वरीय भाव से अभिभूत हो गये। सभा में उपस्थित सब लोगों को विस्मित करते हुए उन्होंने भैरवी के मत को स्वीकार कर लिया।''

''आनन्दभाव से वे कहने लगे, भक्तिशास्त्र में उन्नीस प्रकार के भावों के एक साथ संयोग को महाभाव कहा गया है। वैसा संयोग द्वापर में राधारानी में देखा जाता था और इस युग में महाप्रभु चैतन्य देव में देखा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभाव के सभी लक्षण इनमें (रामकृष्ण में) प्रकाशित हो रहे हैं। साधारणतः इस महाभाव के दो-चार ही लक्षण किसी सौभाग्यशाली साधक में प्रकट होते हैं। एक साथ उन्नीस भावों के एकत्र संयोग-वेग को कोई साधक धारण भी नहीं कर सकता है। यह सामर्थ्य केवल राधारानी और चैतन्यदेव में थी।''

पंडित वैष्णवचरण की इस स्वीकारोक्ति के बाद मथुर बाबू तथा सभा में उपस्थित पंडितों और भक्तदर्शकों की तो बोलती ही बन्द हो गयी। स्वयं रामकृष्ण कौतुकपूर्वक मथुर बाबू से पूछने लगे, ''ये पंडित लोग क्या कह रहे हैं? ये लोग जो भी कहें, मुझे तो खुशी है कि मुझे कोई रोग-टोग नहीं है।''

मथुर बाबू को ठाकुर रामकृष्ण के प्रति अपार स्नेह था। भैरवी और पंडित वैष्णवचरण का ठाकुर के संबंध में मत जान कर उन्हें हर्ष ही हुआ और उनका बहुत सारा संदेह मिट गया। वे मान गये कि ठाकुर उच्च कोटि के साधक हैं जो साधना की ऊँची अवस्था में जाकर बेसंभाल हो रहे हैं, जब कभी पागलों-जैसा करने लगते हैं। ये 'मध्यम नारायण तेल' आदि दवाओं के रोगी नहीं हैं।

इतना कुछ समझ लेने के बाद भी मथुर बाबू, जो स्वभावतः तर्कशील बुद्धिवादी व्यक्ति थे, सोचने लगे—ठाकुर शुद्धसत्त्व, शक्तिमान साधक अवश्य हैं किन्तु अप्रसिद्ध भैरवी अथवा एकमात्र पंडित वैष्णवचरण के कह देने से इन्हें लोग-बाग अवतार क्योंकर मानने लगेंगे! दूसरे, प्रमाण क्या है कि भैरवी और पंडित वैष्णवचरण ने इनका सही-सही मूल्यांकन किया है?

किन्तु उस दिन से, रामकृष्ण के दर्शनमात्र से, आचार्य वैष्णवचरण बहुत-कुछ बदल गये। विचारसभा में रामकृष्ण को देखकर वे केवल उनके प्रति

आकर्षित ही नहीं हुए बल्कि समझ भी गये कि मेरी साधना की कुंजी इन्हीं अप्रसिद्ध काली-साधक के हाथ में है। रामकृष्ण ने उनके प्रति प्रसन्न दृष्टिपात किया था और अदृश्य आकर्षण-डोर से उन्हें अपने प्रेम में बाँध लिया था।

फलतः, सुयोग पाकर पंडित वैष्णवचरण अक्सर रामकृष्ण से मिलने आने लगे। यहाँ उन्हें अपनी साधना के संबंध में आवश्यक निर्देश मिलता था और जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान भी हो जाता था। वे समय-समय पर अपने अंतरंग भक्तों और मुमुक्षुओं को रामकृष्ण के पास भेज देते थे। ठाकुर के प्रति सच्ची श्रद्धा और प्रेमभाव नहीं रहता तो पंडित वैष्णवचरण-जैसे वैष्णव आचार्य ऐसा क्योंकर करते?

वैष्णवचरण का साधन-पथ रामकृष्ण से भिन्न अवश्य था, फिर भी, वे रामकृष्ण को बड़े आग्रहपूर्वक अपने 'कर्त्ताभजा' वैष्णव पंथ के गुप्त साधनाचक्र में ले जाते थे। स्वामी शारदाचरण लिखते हैं :—

"कलकत्ता से कुछ मील उत्तर काछीबगान में इस सम्प्रदाय का अखाड़ा था जिससे वैष्णवचरण का घनिष्ठ संबंध था। इस सम्प्रदाय के अनेक स्त्री-पुरुष वहाँ उनके उपदेश के अनुसार साधना किया करते थे। वे ठाकुर को वहाँ कई बार ले गये। एक बार वहाँ की कुछ स्त्रियाँ ठाकुर को सर्वथा निर्विकार और भागवत भाव में आविष्ट देखकर उनकी परीक्षा लेने को उद्यत हुईं कि ये सचमुच सम्पूर्ण भाव से कामजयी हैं या नहीं। ठाकुर को सब प्रकार अविचलित पाकर उन लोगों ने उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। अपने बाल-स्वभाववश ठाकुर वहाँ पंडित वैष्णवचरण के आग्रह पर सरल भाव से गये थे। उन्हें क्या पता था कि वहाँ उनकी परीक्षा ली जायगी। उस दिन की घटना के बाद वे फिर कभी वहाँ नहीं गये।

ठाकुर के चरित्रबल, पवित्रता और भाव-समाधि को देखकर वैष्णचरण की उनपर श्रद्धा-भक्ति इतनी बढ़ गयी कि वे सबके सामने ठाकुर को ईश्वर का अवतार स्वीकार करने में तनिक भी कुंठित नहीं होते थे।"

वैष्णवचरण प्रायः ही ठाकुर का दर्शन करने आते थे और उनके उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के कृपा-स्पर्श से अपने जीवन को नये सिरे से सुगठित करने का प्रयास करने लगे थे।

पंडित वैष्णवचरण जैसे आचार्य ने ठाकुर को सार्वजनिक रूप से भगवान् का अवतार स्वीकार कर लिया, इस पर भैरवी योगेश्वरी के हर्षोल्लास की कोई सीमा नहीं रही। वे देंवादेश से दक्षिणेश्वर आयी थीं और तरुण साधक रामकृष्ण की मातृस्वरूपिणी अभिभाविका बन गयी थीं। वे रामकृष्ण के साधन-माहात्म्य को और उनकी भावी भूमिका को अच्छी तरह समझ रही थीं।

एक दिन मथुर बाबू से भेंट होने पर भैरवी ने उनसे कहा, ''बाबा, तुमने तो प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य का मत जान लिया। अब किसी बड़े तांत्रिक को बुलाओ और तुमलोग रामकृष्ण के संबंध में उनका मत भी जान लो।''

मथुर बाबू भैरवी के विचार से सहमत हुए और कहा, ''ठीक तो है। तुम किस तांत्रिक आचार्य को बुलाना चाहती हो?''

''बाबा, सुना है कि गौरी पंडित नामक कोई उच्चस्तरीय तांत्रिक साधक हैं और कौल तत्त्व का उन्हें अच्छा ज्ञान है। उन्हें ही बुलाओ।''

मथुर को यह प्रस्ताव जँच गया। गौरी पंडित को निमंत्रण भेज दिया गया।

गौरी पंडित को कई विशिष्ट तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे प्रतिदिन महाशक्ति की पूजा करने के बाद होम किया करते थे। किसी-किसी दिन वे विशेष प्रकार का होम करते थे। साधारणतः तांत्रिक लोग ताँबे के बरतन में या मिट्टी पर बालू की वेदी बनाकर उसपर होमाग्नि प्रज्वलित करते हैं। किन्तु गौरी पंडित की क्रिया अद्भुत थी। वे अपने बायें हाथ को शून्य में फैला कर उस पर करीब एक मन समिधा की लकड़ी सजाते और उसमें अग्नि सुलगा कर दाहिने हाथ से घी की आहुति डालते थे। समिधा के गुरुभार को और होमग्नि के प्रचंड उत्ताप को गौरी पंडित बड़ी आसानी से खड़े-खड़े सहन करते थे।

यह कार्य सामान्यतः असंभव प्रतीत होता है, किन्तु परवर्त्ती काल में स्वयं रामकृष्ण इस अद्भुत होम-क्रिया का वर्णन किया करते थे। कोई-कोई भक्त इस कहानी पर विश्वास नहीं करते थे। तब रामकृष्ण कहते, ''अरे, मैंने स्वयं अपनी आँखों उन्हें वैसा करते देखा था। यह उनकी एक प्रकार की सिद्धाई थी।''

गौरी पंडित की विशिष्ट देवी-पूजा की भी कहानी रामकृष्ण कहा करते थे। गौरी पंडित बड़े समारोह के साथ दुर्गापूजा का आयोजन करते थे। वे अपनी पत्नी को मूल्यवान वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर पूजा-वेदी पर बैठाते थे और देवी-भाव से उनकी आराधना करते थे। वे नारी-मात्र को जगदम्बा का अंश समझते थे। इसीलिए वे अनुष्ठानपूर्वक अपनी शक्ति-पत्नी को पूजार्घ्य निवेदित करते थे।

गौरी पंडित की एक और गुप्त तांत्रिक सिद्धाई थी। वे किसी से शास्त्रार्थ करते समय इस सिद्धाई का प्रयोग किया करते थे। सभास्थल में प्रवेश करते समय वे गंभीर उच्च स्वर से 'हारे-रे-रे निरालम्बो लम्बोदरजननी कंयामि शरणम्' का उच्चारण करते। उनके इस तांत्रिक स्तवन से वातावरण कम्पित हो जाता।

इस प्रसंग में स्वामी शारदानन्दजी लिखते हैं :

''ठाकुर कहा करते थे कि बीरभाव-द्योतक अपने मेध-गंभीर स्वर से आचार्य जब 'हारे-रे-रे' के शब्द के साथ स्वरचित देवी-स्तोत्र का उच्चारण करते तो सुननेवालों का हृदय भय से काँप जाता। उससे दो काम हो जाते थे—

एक तो शब्दोच्चारण से गौरी पंडित के भीतर की अपनी शक्ति अच्छी तरह जग जाती थी और, दूसरे प्रतिपक्षी को भयकंपित और मुग्ध करके......उसका बल हरण कर लेते थे। इस प्रकार इस स्तवन का शब्दोच्चारण करके पहलवान की तरह ताल ठोंकते हुए गौरी पंडित सभा-भूमि में प्रवेश करते और अपने दोनों पैरों को मोड़ उन पर बैठ जाते थे। उसके बाद वे तर्क-संग्राम शुरू करते थे। ठाकुर कहते थे कि उस समय गौरी पंडित को पराजित करना किसी के लिए भी संभव नहीं था।''

''गौरी पंडित की यह सिद्धाई ठाकुर को पहले से मालूम नहीं थी। दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में प्रवेश करते हुए गौरी पंडित ने जैसे ही 'हारे-रे-रे.......' का उच्चारण किया, वैसे ही ठाकुर को अन्तर से ठेल कर कोई शक्ति गौरी पंडित से भी अधिक ऊँचे स्वर में उन शब्दों का उच्चारण करने के लिए प्रेरित करने लगी। ठाकुर की ऊँची आवाज सुन कर गौरी ने और भी जोर से शब्दोच्चारण शुरू किया। इससे ठाकुर उत्तेजित हो गये और पहले की अपेक्षा और भी अधिक ऊँची आवाज में 'हारे-रे-रे' चिल्लाने लगे।''

''ठाकुर हँसते-हँसते कहा करते थे, दोनों पक्षों से उठने वाली 'हारे-रे-रे.......' की तुमुल ध्वनि से लगता था कि डाका पड़ रहा है। कालीमंदिर के दरबान, जो जहाँ थे वहाँ से, लाठी-सोंटा लेकर दौड़े आये। अन्य लोग तो भय से काँप रहे थे।''

''गौरी पंडित ने जब देखा कि वे ठाकुर की अपेक्षा ऊँची आवाज लगाने में असमर्थ हो रहे हैं तो वे शांत हो गये और धीरे-धीरे काली मंदिर में चले गये। अन्य लोग, जो भयंकर आवाज सुनकर दौड़े आये थे, यह जानकर कि ठाकुर और नवागत पंडितजी यह कांड कर रहे हैं, हँसते-हँसते अपनी जगह लौट गये।''

''ठाकुर कहते थे, माँ ने मुझे बतला दिया कि यहाँ इस तरह पराजित होने से गौरी की वह सिद्धाई समाप्त हो गयी जिसके बल पर वह दूसरों की शक्ति का अपहरण कर अजेय हो रहा था। माँ ने उसके कल्याण के लिए ही उसकी शक्ति को (अपने शरीर को दिखलाते हुए) इसमें खींच लिया।''

उस दिन की शक्ति-परीक्षा के बाद गौरी पंडित काली मंदिर के एक कमरे में कई दिनों तक रहे और ठाकुर के पुण्यमय संसर्ग से उनमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हो चला। ठाकुर के भीतर की ईश्वरीय शक्ति, ज्ञान और प्रेम-प्रवाह से पंडितजी का अहं भाव क्रमशः शिथिल पड़ने लगा और एक दिन उन शक्तिमान् सिद्ध तांत्रिक ने अचानक तरुण साधक के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया।

यह सब देखकर भैरवी योगेश्वरी आनन्दोत्फुल्ल हो रही थीं। उन्हें गर्व हो रहा था कि उनके पुत्रप्रतिम रामकृष्ण में ईश्वरीय सत्ता का क्रमिक जागरण हो चला है और इन विराट् अवतारी पुरुष के अभ्युदय की बात उन्होंने ही सबसे पहले घोषित की है। उनके मन में खयाल आ रहा था कि इस प्रसंग में एक विराट् सभा बुलायी जाय। यह प्रस्ताव मथुर बाबू को सहज-सहर्ष स्वीकार था। कई दिनों के अन्दर ही वैसी सभा आयोजित की गयी। कलकत्ता से आचार्य वैष्णवचरण और अन्यान्य पंडित और साधक बुलाये गये। इस बार की सभा बड़े पैमाने पर हो रही थी।

जिस दिन सभा बैठने वाली थी, सबेरे ठाकुर रामकृष्ण देवी भवतारिणी के मंदिर में आये। माँ के सन्मुख बैठते ही उनका देह-मन-प्राण दिव्य भाव से उद्वेलित हो गया और जिस समय मंदिर से निकल कर बरामदे में आ रहे थे, वे अर्द्ध-बाह्य ज्ञान की अवस्था में थे। उसी दशा में उनकी पंडित वैष्णवचरण से भेंट हो गयी। पंडितजी अभी-अभी सभाभूमि में आये थे और देवी का दर्शन करने मंदिर में जा रहे थे। सामने रामकृष्ण का दिव्योज्ज्वल स्वरूप देख कर भक्ति-ज्वार से उनका शरीर थर-थर काँपने लगा। भावाविष्ट होकर उन्होंने ठाकुर के चरणों में प्रणाम निवेदित किया।

पंडितजी को देख कर ठाकुर प्रेमानन्द में बाह्य ज्ञानशून्य हो गये और अनायास पंडितजी के कन्धे पर चढ़ गये।

प्रेमभाव में बाह्यज्ञानहीन, शुद्धसत्त्व महापुरुष के पुण्य स्पर्श से पंडित वैष्णवचरण भी भावाभिभूत हो चले। उल्लसित हृदय से उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर ठाकुर की प्रार्थना में तत्काल एक स्तव-गाथा की रचना कर डाली और भक्तिभाव से उसे बार-बार दुहराने लगे। आँखों से प्रेमाश्रु की धारा बह रही थी।

मंदिर के सामने, जगमोहन में खड़े गौरी पंडित, भैरवी, मथुर बाबू तथा सभा में आमंत्रित अन्य आचार्य और साधकगण यह दृश्य देख कर हक्का-बक्का हो रहे थे।

थोड़ी देर के बाद दोनों स्वाभाविक स्थिति में आ गये और साथ-साथ सभामंडप में आये।

ठाकुर और आचार्य वैष्णवचरण का वह प्रेममय मिलन-दृश्य देख कर सभा में भाग लेने आये अन्य लोग भी अव्यक्त भावतरंग में बह रहे थे। तंत्रसिद्ध गौरी पंडित भी इस तरंग से अछूते नहीं रहे। गद्गद कंठ से कहने लगे, मैंने सोचा था कि आचार्य वैष्णवचरण के साथ कुछ देर शास्त्र-चर्चा करूँगा किन्तु अभी अपनी आँखों देखा कि मातृसाधक ठाकुर रामकृष्ण ने आचार्य पर अशेष कृपा की है। मैं समझ रहा हूँ, इस कृपा के बल पर वे विशेष बलशाली हो रहे हैं। इसलिए आज मैं उनके साथ

शास्त्रार्थ में उलझना नहीं चाहता हूँ। दूसरे, मैं देख रहा हूँ कि ठाकुर रामकृष्ण के मूल्यांकन में आचार्य चरण का और मेरा मत एक-जैसा ही है। इसलिए उस विषय को लेकर सभा में तर्क-वितर्क करना निष्प्रयोजन होगा।

इसके बाद दोनों आचार्य कुछ देर तक शास्त्र-चर्चा करके विदा हुए।

ऐसी बात नहीं थी कि गौरी पंडित भयवश आचार्य वैष्णवचरण से शास्त्रार्थ में नहीं उलझे। असल बात यह थी कि वे कई दिनों तक ठाकुर के साथ उनके प्रेमभक्तिमय परिमंडल में रहे थे जिससे उन्हें नयी आध्यात्मिक उपलब्धि हुई थी। वे स्वयं भी उच्च स्तर के तंत्र-साधक थे। अपनी साधनोज्ज्वल दिव्य दृष्टि से उन्होंने ठाकुर के माहात्म्य और स्वरूप को देख लिया था। इसलिए, ठाकुर के संबंध में वादविवाद करने की रुचि ही नहीं हुई।

कुछ दिनों के बाद गौरी पंडित की परीक्षा लेने के उद्देश्य से ठाकुर ने उनसे पूछा, ''अच्छा, पंडित वैष्णवचरण, इसे (अपनी ओर उँगली दिखाकर) अवतार कहते हैं। यह क्या कभी संभव है ? इस संबंध में तुम्हारी क्या राय है ?''

पंडित गौरी ने हाथ जोड़कर भावपूर्ण स्वर में कहा, ''आप उससे भी अधिक हैं। जिसका अंश मात्र लेकर अवतार आते हैं, वही परम वस्तु आप हैं।''

''अरे बाबा, देख रहा हूँ, तुम उन पंडित को भी पीछे छोड़े जा रहे हो!'' कहते हुए ठाकुर बालक की तरह खिलखिला कर हँसने लगे। आगे पूछा, ''किन्तु तुम यह सब क्यों कहते हो ? मुझमें क्या देखते हो ?''

गौरी पंडित ने पूरे आत्मविश्वास से कहा, ''जो कह रहा हूँ, ठीक कह रहा हूँ। यह शास्त्र-सम्मत बात तो है ही, मेरे अपने प्राणों के अनुभव पर भी आधारित है। मेरी बातों के विरुद्ध कोई कुछ कहना चाहता हो तो मैं उसके साथ तर्क-वितर्क करने के लिए हमेशा तैयार हूँ।''

ठाकुर ने अपनी बालकोचित सरलता से कहा, 'तुमलोग इतना कुछ कहते हो, लेकिन मैं तो कुछ भी नहीं जानता हूँ।'

गौरी पंडित माथा हिलाते हुए गंभीर भाव से बोले, ''ठीक बात है। शास्त्र भी कहता है कि ब्रह्म या महामाया के संबंध में जो कहते हैं 'मुझे मालूम नहीं', वे ही वास्तव में जानते हैं। आपकी वही अवस्था है। आप किसी को कृपापूर्वक अपना माहात्म्य बतला देंगे तो वही आपका वास्तविक स्वरूप समझ सकता है।''

ठाकुर रामकृष्ण के पारस-स्पर्श से गौरी पंडित खाँटी सोना बन गये थे। ठाकुर के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर उनका विद्या-बुद्धि का दर्प, पता नहीं, कहाँ विलीन हो गया था।

पंडित-प्रवर ने समझ लिया था कि पांडित्य-प्रदर्शन, बाह्यडम्बर और प्राणहीन पूजा-अनुष्ठान में उन्होंने इतने दिनों तक अपना समय व्यर्थ गँवाया है; ईश्वर की उपलब्धि नहीं हुई है, सारा जीवन व्यर्थ चला गया।

कई महीने ठाकुर के सान्निध्य में रहने से इन तंत्रसिद्ध साधक के अन्तर में सच्ची मुमुक्षा जग गयी थी। वे एक दिन अचानक ठाकुर के कमरे में आए, और अश्रुसजल नेत्रों से उन्होंने ठाकुर से चिर विदा की अनुमति माँगी।

ठाकुर ने विस्मयपूर्वक पूछा, ''यह क्या पंडित? तुम कहाँ जाना चाहते हो?''

''मैं परम वस्तु ईश्वर को पाने के लिए संसार का त्याग करने जा रहा हूँ। आप मुझ पर कृपा कीजिए, आशीर्वाद दीजिए कि मेरा अभीष्ट सिद्ध हो।''

इसके बाद किसी ने कभी गौरी पंडित को सांसारिक जीवन में नहीं देखा। परम प्राप्ति के पथ पर वे किसी अज्ञात स्थान को चले गये थे।

मातृस्वरूपिणी भैरवी योगेश्वरी अपने संतानोपम बालगोपाल रामकृष्ण को भोजन कराने प्रतिदिन माँ यशोदा के रूप में साड़ी और कंचुकी पहन कर और सिर पर बूटीदार रंगीन ओढ़नी डालकर आती थीं। उनके साथ उस इलाके की भक्त महिलाएँ भी रहतीं। भैरवी उन्हीं महिलाओं के घर से खीर, मक्खन-मिसरी माँग कर लातीं और रोमांचित देह अश्रुसिक्त नेत्र लिये वात्सल्य-रस से भरपूर आवाज में ठाकुर को भोजन करने के लिए बुलातीं।

भैरवी की उस भावमयी मातृमूर्ति को देख कर ठाकुर आत्मविस्मृत हो जाते थे और भैरवी की गोद में बैठकर परम आनन्द से भोजन करते।

कभी-कभी ठाकुर अपने भांजे हृदय को साथ लेकर भैरवी के वास स्थान पर जाते और उन्हें देखकर भैरवी की सेविका और भक्त महिलाएँ आनन्दविभोर हो जातीं।

आये दिनों रामकृष्ण का स्वरूप धीरे-धीरे लोगों की दृष्टि में उद्घाटित हो रहा था; उनकी भावमूर्ति पूर्वापेक्षा उज्ज्वलतर हो गयी थी। जो लोग उन्हें पागल पुजारी और भावुक कालीसाधक समझ कर उनकी अवज्ञा किया करते थे, वे सब भयभीत होकर उनसे कतरा कर चलने लगे।

मथुर तथा अन्यान्य भक्तगण भी जो ठाकुर के अनुरागी होकर भी उनके वास्तविक स्वरूप और माहात्म्य को समझ नहीं पाये थे, अब उनके संबंध में ऊँची-ऊँची बातें करने लगे।

भैरवी योगेश्वरी के संबंध में भी दक्षिणेश्वर मंदिर के लोग-बाग मानने लगे थे कि ये साधारण भक्त महिला नहीं हैं बल्कि उच्च कोटि की साधिका हैं, जो अपनी दीर्घकालीन साधना और शास्त्र-ज्ञान से बड़े-बड़े साधकों और आचार्यों को परास्त करने में समर्थ हैं।

इस प्रकार, क्षेत्र तैयार हो गया था और भैरवी को अपने दैवादिष्ट कार्य में, जिसके लिए वे यहाँ अवतीर्ण हुई थीं, प्रवृत्त हो जाना था। उन्हें ठाकुर रामकृष्ण

को तंत्रक्रिया में पारंगत करना था और ईश्वर निर्दिष्ट उनकी विराट् भूमिका को सुदृढ़ आधार देना था।

ठाकुर पहले से ही जानते थे कि जगदम्बा के आदेश से भैरवी दक्षिणेश्वर आयी हैं। भैरवी से भेंट होने के पहले ही जगदम्बा ने ठाकुर को बतला दिया था कि इन्हीं साधिका से उनको साधना संबंधी सहायता लेनी है। लेकिन अब माँ जगदम्बा से पूछना था कि तंत्रसाधना में वे व्रती हों या नहीं।

उन्होंने प्रशांत कंठ से भैरवी को कहा, ''मैं तुम्हारे प्रस्ताव के संबंध में माँ से पूछूँगा।''

''पूछोगे क्या, बाबा? मैं जानती हूँ, माँ तुम्हें इसके लिए अनुमति देंगी ही। तुम माँ जगदम्बा की शक्ति, भक्ति और ज्ञान लेकर जनमे हो और माँ की कृपा से विपुल साधन-ऐश्वर्य के अधिकारी हो गये हो। लेकिन, लोकगुरु होने के लिए, तुम्हें शास्त्रीय विधि के अनुसार साधना करनी चाहिए, शक्ति अर्जन करना चाहिए। तुम्हें तांत्रिक क्रियाओं में पारंगत होना होगा।''

माँ जगदम्बा की अनुमति मिलने में विलम्ब नहीं हुआ और उन्होंने अपनी दैवप्रेरिता शिक्षा-गुरु के हाथों में कुछ समय के लिए अपने को सौंप दिया। अपनी स्वाभाविक विशिष्टता के अनुरूप, वे तीव्र एकनिष्ठा से तांत्रिक साधना में लग गये और अबाध वेग से तंत्र की वीराचारी स्थिति की ओर बढ़ने लगे।

भैरवी योगेश्वरी तंत्र की वामाचारी और दक्षिणाचारी—दोनों ही पद्धतियों में पूर्णत: सिद्ध थीं। वे इन सभी पद्धतियों में रामकृष्ण को पारंगत करने में लग गईं ताकि ठाकुर का साधन-आधार सब तरह से सुदृढ़ और सुसंगठित हो जाय।

परवर्ती दिनों में रामकृष्ण कहा करते थे, वेद-पुराण को कानों से सुनना होता है और तंत्र की साधनाओं को हाथोंहाथ क्रिया द्वारा सिद्ध करना पड़ता है। वे साधिका भैरवी के उपदेशानुसार तंत्र की निगूढ़ क्रियाओं को सिद्ध करने में प्रवृत्त हो गये।

कर्मकुशला भैरवी भी अपने दायित्व को पूरा करने में इतनी दत्तचित्त हुईं कि उन्हें क्षण-भर के लिए भी फुर्सत न रहीं। कौलक्रिया में तरह-तरह की आवश्यकताएँ होती थीं। उन सबका भैरवी के संकेतमात्र से मथुर बाबू अपने धनबल और जनबल द्वारा अविलम्ब जोगाड़ कर देते थे।

वीराचारी साधना में कौल सिद्धासन की अनिवार्य आवश्यकता थी। भैरवी की निगरानी में दो आसन शीघ्र तैयार हो गये : एक आसन दक्षिणेश्वर बगान की उत्तरी सीमा पर बेल-वृक्ष के नीचे बनाया गया और दूसरा पंचवटी में स्वयं ठाकुर ने अपने हाथों तैयार किया।

योगिनीतंत्र (पंचम पटल) में कौल सिद्धासन के लिए, नरमुंड के अलावा, भैंसा, बिल्ली, सियार, साँप, कुत्ता, बैल आदि के मुंडों की आवश्यकता होती है। उन सबका जोगाड़ करके बड़ी निष्ठा से सिद्धासन तैयार किया गया।

इस प्रसंग में स्वामी शारदानन्द लिखते हैं, ''सचराचर पंचमुंड से एक वेदिका बना कर साधक उस पर बैठता है और जप-ध्यानादि का अनुष्ठान करता है। ठाकुर ने अपने दो मुंडासनों के संबंध में हम लोगों को बताया था कि बेल-वृक्ष के नीचे बनाई गई वेदी में तीन नरमुंड रखे गये थे और पंचवटी वाली वेदिका के नीचे पाँच प्रकार के जीवों के सिर थे। साधना सिद्ध हो जाने के कुछ दिनों बाद ठाकुर ने दोनों वेदिकाओं को भंग कर सभी मुंडों को गंगा में फेंक दिया था।''

''बेलवृक्ष के नीचे चौड़ा आसन बनाने की सुविधा देख कर अथवा स्थान को निर्जन पाकर, वहाँ तीन मुंडों की वेदी बनायी गयी थी। किन्तु उस स्थान के पास ही ईस्ट इंडिया कम्पनी का बारूदखाना था जिसके कारण वहाँ होम कुंड को प्रज्वलित रखने की सुविधा नहीं थी। इसलिए दूसरी जगह दो मुंडासन तैयार किये गये थे।''

पंचमुंडों को जुटाना आसान काम नहीं था। भैरवी ने विश्वस्त लोगों को भेजकर दूर-दूर से इनका संग्रह किया। तंत्र क्रियाओं में दुष्प्राप्य काष्ठ-औषधों और रत्नों की भी आवश्यकता थी। इन सबको भी बड़े परिश्रम से जुटाया गया।

उन्होंने रामकृष्ण को इन द्रव्यों की प्रयोग-विधि सिखलाई, होम-क्रिया बताई और मंत्र को चैतन्य करने की कला का ज्ञान कराया। यह सब काम वे निष्ठा और श्रमपूर्वक महीनों करती रहीं। इस प्रसंग में, परवर्ती काल में, ठाकुर रामकृष्ण भैरवी माता के निदेश में अनुष्ठित तंत्र क्रियाओं का विस्तृत विवरण दिया करते थे।[१]

भैरवी दिन में प्रयोजनीय वस्तुओं को दूर-दूर से मँगवाती थीं और रात में, पंचवटी स्थित आसन पर, ठाकुर से महाशक्ति की आराधना में होम तथा विभिन्न प्रकार की निगूढ़ तंत्र क्रियाएँ करवाती थीं। अन्त में, ठाकुर को पुरश्चरण और निर्दिष्ट जप-साधना का निदेश देतीं।

ठाकुर बताते थे, ''प्रायः ही मुझसे जप-साधन नहीं सपरता था। एक बार ही माला फेरने में मैं समाधि में डूब जाता था और सभी क्रियाओं के फल एक-एक कर प्रत्यक्ष देखने लगता था। उस समय सूक्ष्म लोक में मैं कैसे-कैसे अपूर्व दृश्य देखता था, उनका वर्णन करना संभव नहीं है।''

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग।

उन्होंने यह भी कहा, "तंत्र में जिन चौंसठ[1] साधनाओं का उल्लेख है, उन सबका अनुष्ठान भैरवी ने मुझसे कराया। ये सारी साधनाएँ बड़ी कठिन थीं। इन्हें सिद्ध करने में अधिकतर साधक पथभ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु माँ की कृपा से मैं उन सबको पार कर गया।"

वामाचारी क्रियाओं का भैरवी ने बड़े यत्न से रामकृष्ण से अनुष्ठान कराया। उन्होंने पंचमकार के उपकरणों को जुटाकर राम-कृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किया किन्तु दिव्यभावनापन्न ठाकुर कभी तो आविष्ट भाव से उन क्रियाओं को पूरा करते और कभी केवल उनका स्पर्श-आस्वादन करते। किन्तु, सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि प्रत्येक अनुष्ठान के बाद ठाकुर की समस्त सत्ता में कौल साधना के अनेक ऐश्वर्य और भाव स्वयमेव जागरित हो जाते थे।

भैरवी जैसे ही ठाकुर की जीभ पर कारणवारि (शराब) का स्पर्श करातीं, वैसे ही वे दिव्य चेतना से उद्दिप्त हो जाते। किसी-किसी दिन वे भैरव-वेश में उन्मत्त हो उठते।

भैरवी की सहायता से तंत्र-साधना में व्रती ठाकुर को अनेक दिव्य दर्शन हो रहे थे जिनका वर्णन वे परवर्ती काल में अपने अंतरंग शिष्यों को सुनाया करते थे।

वे कभी देखते थे कि अनेक काली-मूर्तियाँ सम्पूर्ण विश्व में नाच रही हैं, और उनके लिए सारी सृष्टि, सारा महाकाश भी छोटा पड़ रहा है।

कभी देवी अपनी द्विभुजा रूप में, कभी त्रिभुजा रूप में, कभी अष्टभुजा और दशभुजा रूप में प्रकाशित होतीं। किसी-किसी दिन माँ का त्रिपुरसुन्दरी रूप इतने उज्ज्वल प्रकाश के साथ दिखलायी पड़ता कि आँखें चौंधिया जाती थीं। आसमान में सदा-सर्वदा त्रिशूलधारी, रक्तचन्दन-चर्चित भैरवों के दल खड़े रहते थे।

कभी-कभी त्रिकोणाकार ज्योतिर्मयी ब्रह्मयोनि का दर्शन होता था। ये ही जगत्-कारण आद्याशक्ति माँ समग्र सृष्टि की जननी थीं जिनसे प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्मांडों की सृष्टि हो रही थी। इस सृष्टि-प्रवाह का न आदि था, न अंत, न विराम ही!

कभी तो अनाहत-ध्वनि, प्रणवध्वनि से ओतप्रोत ठाकुर के मन में सारा संसार प्रपंच प्रतीत होता था और उस ध्वनि के महागुंजन में वे डूबे जाते थे।

उन दिनों ठाकुर प्रत्येक चक्र में ऊर्ध्वगामिनी कुलकुंडलिनी की गति का स्पष्ट अनुभव करते थे। उस अनुभूति में महाशक्ति का प्रोज्ज्वल आविर्भाव प्रकट होता था। कुलागार में माँ जगदम्बा का रूपदर्शन करके भैरवी के वीराचारी साधक-शिष्य रामकृष्ण कृत्य-कृत्य थे।

---

१. चौंसठ तंत्रों की बात सुनने में संभवतः स्वामी शारदानन्द ने भूल की। विशिष्ट तंत्रसाधकों और गवेषकों का कहना है कि इस युग में केवल १६ तंत्र ही प्रचलित हैं।

तत्पश्चात् भैरवी ठाकुर को वीराचारी साधना की दुःसाध्य अवस्था में ले चलीं। इस अवस्था में साधक को शक्ति-रूप में किसी नारी को ग्रहण करना पड़ता है। किन्तु ठाकुर तो शुद्धसत्त्व, अपापविद्ध साधक थे। वे अपने जन्मजात संस्कारवश नारीमात्र को विश्वजननी का अंश मानते थे। इसीलिए वे वीराचारी साधना की अब तक की निगूढ़ क्रियाओं की कठोर परीक्षा में अनायास उत्तीर्ण होते आये थे।

जैसा कि ठाकुर के कृपापाय अक्षय कुमार सेन ने लिखा है, वीराचारी तंत्रसाधक को 'शक्ति' को ग्रहण कर मंत्रपुटित अभिचार और मैथुनादि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। किन्तु ठाकुर को वह सब नहीं करना पड़ा। स्वयं ठाकुर से इस विषय के अनुभवों का विवरण सुन कर सेन महोदय ने लिखा है कि बिना जल स्पर्श किए ठाकुर ने मछली पकड़ ली।

वामाचारी वीरभाव की साधना में रामकृष्ण को व्रती बना कर भी योगेश्वरी भैरवी जान रही थीं कि ठाकुर अत्यन्त सत्त्वगुणी साधक हैं। इसलिए वे, इस साधना के स्थूल अंगों का उनसे अनुष्ठान न कराके, सभी उपादानों का स्पर्श-मात्र कराती गयी थीं।

उस दिन गंभीर रात्रि में, ठाकुर पंचवटी स्थित पंचमुंडी आसन पर बैठे थे। उसी समय भैरवी अपने साथ एक स्त्री को लेती आईं। वह स्त्री शुभ लक्षणों से युक्त अत्यन्त सुन्दर और पूर्ण यौवना थी।

भैरवी ने अपनी झोली से पूजा-उपचार की बहुत-सी सामग्रियाँ निकाल कर उन्हें वेदी के समाने सजा दिया। युवती को सामने लाकर वे ठाकुर से बोलीं, "बाबा, देवी का ध्यान करो और तंत्रशास्त्र के अनुसार इसकी पूजा करो।"

ठाकुर ने बिना कुछ बोले उस स्त्री की पूजा की। पूजा समाप्त होने पर भैरवी ने स्त्री को निर्वस्त्र कर दिया और ठाकुर से कहा, "बाबा, इस नंगी स्त्री की गोद में बैठ कर तुम्हें जप करना होगा और उस जप में तुम्हें सिद्ध होना पड़ेगा।"

भैरवी का यह आदेश सुनकर ठाकुर भय-संकोच में पड़ गये। मन ही मन वे अपनी इष्ट देवी जगदम्बा से प्रार्थना करने लगे, "माँ, मुझमें विद्या-बुद्धि नहीं है, साधन-भजन का बल नहीं है। मैंने एकान्त निष्ठा से तुम्हारी शरण ली है। तुम भैरवी के मुख से मुझे यह कैसा आदेश दे रही हो? अपने इस दुर्बल सुत की कैसी परीक्षा ले रही हो?"

इस आकुल प्रार्थना के साथ ही ठाकुर के देह-मन में विपुल शक्ति का संचार हो आया और वे भैरवी के निदेशानुसार उस नग्न स्त्री की गोद में जा बैठे। उसी क्षण वे प्रगाढ़ गंभीर ध्यान में डूब गये।

बाह्य ज्ञान लौटने पर उन्होंने देखा कि भैरवी गंगाजल से उनका मुँह पोंछ रही हैं और पंखा झल कर उन्हें सुस्थ-शांत करने की चेष्टा कर रही हैं।

भैरवी स्व-आत्मोत्फुल्ल हो रही थीं। बोलीं, "बाबा, तुम्हारी क्रिया पूर्ण हो गयी। दूसरे साधक इस अवस्था में कुछ ही देर तक जप करते-करते उत्तेजित हो जाते हैं, लेकिन तुम तो एकबारगी देहबोधशून्य होकर समाधिस्थ हो गये!"

ठाकुर रामकृष्ण जगज्जननी के प्रति अन्तर्मन से कृतज्ञ हो रहे थे। सजल नेत्रों से वे बार-बार जगदम्बा के चरणों में प्रणाम करने लगे।

अन्य एक दिन भैरवी नर-खप्पर में मछली राँध कर ले आयीं। पहले तो उन्होंने पंचवटी में बैठकर माँ जगदम्बा को उस राँधी हुई मछली का भोग लगाया और तत्पश्चात् ठाकुर से कहा, "लो बाबा, माँ की प्रसादी ग्रहण करो।" पंचवटी को 'माँ-माँ!' की ध्वनि से गुंजित करते हुए ठाकुर ने उस प्रसाद को खा लिया और उस दिन के लिए निर्धारित जप-ध्यान और अनुष्ठान करने बैठे गये।

और एक दिन भैरवी एक बरतन में सड़ा-गला नरमांस ले आयीं। 'तो क्या आज अन्ततः नरमांस का प्रसाद खाना पड़ेगा?'—यह सोच कर ठाकुर विचलित हो गये। संस्कारवश घृणा से उनका जी मिचलाने लगा। भय से घबरा कर वे बोले, 'यह क्या कभी हो सकता है?'

"इस महामांस का भक्षण इस साधना का महत्वपूर्ण अंग है। जब तुमने इतना-कुछ किया है तो अंत में यह क्रिया भी पूरी कर ही लो; घृणा मत करो।" इतना कह कर भैरवी ने स्वयं बरतन से थोड़ा-सा गलित नरमांस उठाकर निर्विकार भाव से अपने मुँह में डाल लिया।

इस घोर संकट की स्थिति में ठाकुर जगदम्बा को पुकारते हुए भावाविष्ट हो गये। अकस्मात् उनमें रूपान्तर हुआ और वे चामुंडा देवी के भयंकर भाव में उद्दिप्त हो उठे। आँख-मुख पर एक अपूर्व दृढ़ता आ गयी और गुरु-गंभीर आवाज से 'माँ-माँ!' पुकारने लगे। उसी समय भैरवी ने हँसते-हँसते उस गलित नरमांस का शेषांश ठाकुर के मुँह में डाल दिया। इस प्रकार उस दिन की निर्धारित साधना पूरी हुई।

एक और दिन भैरवी ने अपने इस शिष्य के लिए एक विशेष प्रकार की क्रिया का आयोजन किया। उसके संबंध में भक्तप्रवर अक्षयकुमार सेन ने लिखा है कि उस दिन भैरवी कहीं से प्रणयी स्त्री-पुरुष के एक जोड़े को ले आईं और ठाकुर से कहा कि बाबा, तुम दिव्य भाव से जप करो और सुसंयत भाव से स्त्री-पुरुष को संभोगावस्था में देखो। ध्यान रखना कि मन चंचल न होने पावे। यह पुरुष-प्रकृति का संयोग है। इसी को शिव-शक्ति का मिलन कहते हैं। यही कोटि-कोटि ब्रह्मांडों का उद्‌गम-क्षेत्र है।

ठाकुर अविलम्ब ही बाह्य ज्ञानशून्य होकर समाधिलीन ही गये। ध्यान टूटने पर उनसे ब्राह्मणी बोलीं, "आज हर्षातिरेक में मैं कुछ भी कहने में असमर्थ हो रही हूँ।"

मातृरूपिणी, गुरुरूपिणी भैरवी योगेश्वरी का दैवादिष्ट कर्त्तव्य पूरा हो गया। तरुण साधक रामकृष्ण को तंत्रोक्त साधना में पूर्ण सिद्ध कर वे परम परितृप्त हो रही थीं।

स्नेह दृष्टि से रामकृष्ण को देखते हुए उन्होंने कहा, "मेरा संकल्प पूरा हो गया। तुम तंत्रसिद्धि के आनन्दासन पर प्रतिष्ठित हो गये हो।"

तंत्र-साधना की एक बहिरंग अंतिम क्रिया बच रही थी। उसे भी भैरवी ने पूरा करा दिया। ठाकुर ने परवर्ती काल में अपने अंतरंग भक्तों से कहा था, "एक अन्य भैरवी की सहायता से मुझे तंत्रविधान के अनुसार 'कुलागार' पूजा करनी पड़ी। उसे भैरवी को सवा रुपया दक्षिणा देकर संतुष्ट किया। यह वीराचारी साधना की अंतिम क्रिया थी। यह पूजा कालीमंदिर के मंडप में सब लोगों के सामने की गयी।"

अपनी तंत्र-साधना के संबंध में रामकृष्ण ने कहा है, "इतने दिनों तक भैरवी ने मुझसे तंत्र-क्रियाएँ करायीं किन्तु माँ जगदम्बा की कृपा से मैं कभी भी किसी रूपसी रमणी को मातृरूप में देखने में तनिक भी विचलित नहीं हुआ। स्त्रियों के प्रति मेरा मातृभाव निरंतर अविचल, अटल रहा। लेकिन मैं कारण-वारि (तंत्रानुसार देवी को निवेदित मदिरा) कभी पी नहीं सका। कारण-वारि की गंध से ही, या उसका नाम सुनते ही मैं जगत्कारण स्वरूप परमात्मा के ध्यान में डूब जाता था और मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता था। उसी प्रकार 'योनि' शब्द सुन कर मुझे ब्रह्मयोनि का ध्यान आ जाता और मैं समाधिस्थ हो जाता था।"

सचमुच, माँ भैरवी योगेश्वरी और ठाकुर रामकृष्ण का मिलन एक अद्‌भुत मणि-कांचन संयोग ही था।

विधि-विधान मानकर रामकृष्ण ने विवाह अवश्य किया था किन्तु वे बाल-ब्रह्मचारी, ऊर्ध्वरेता पुरुष थे। उन्हें किसी तरह की सांसारिक भोगलालसा नहीं थी। वे त्याग-वैराग्य और अनासक्ति की जीवन्त मूर्ति थे।

उनकी तंत्रगुरु, भैरवी योगेश्वरी वामाचारी, दक्षिणाचारी—सभी तांत्रिक विधियों में पूर्ण पारंगत[१] थीं। सर्वोपरि बात यह थी कि उन्होंने तरुण साधक रामकृष्ण को संतान-रूप में ग्रहण किया था। तंत्र-साधना की प्रत्येक क्रिया को उन्होंने अपूर्व मनोयोग और निष्ठा से रामकृष्ण के द्वारा संपन्न कराया। हर कदम पर वे सतर्क रहती थीं। वैसी कर्मकुशल तत्पर गुरु नहीं मिली होती तो रामकृष्ण-जैसे आत्मभोला साधक से तंत्र-साधना के अनेक अभिचारों और क्रियाओं को विधिवत् सम्पन्न करा लेना कदापि संभव नहीं था।

---

१. कहते हैं कि तंत्र-साधना की सर्वोच्च क्रिया, शव-साधना है। भैरवी ने रामकृष्ण से इस क्रिया का अनुष्ठान नहीं कराया। यह भी कहना कठिन है कि स्वयं भैरवी को इस क्रिया का ज्ञान था या नहीं।

रामकृष्ण अवश्य सात्त्विक गुणसंपन्न साधक थे किन्तु भावी लोकगुरु की भूमिका के लिए संक्षिप्त रूप से ही सही, स्पर्श को बचा कर ही सही, तंत्र-साधना का अनुष्ठान पूरा कर लेना उनके लिए अत्यावश्यक था।

उनके सात्त्विक गुणों का कुछ प्रभाव उनकी शिक्षागुरु, माँ भैरवी पर भी पड़ा। इस प्रसंग में स्वामी शारदानन्द के विचार मूल्यवान हैं। वे लिखते हैं :

''ब्राह्मणी के आगमन के समय रामकृष्ण का अन्तर्मन ईश्वर के प्रति मातृभावना से पूर्णतः ओतप्रोत था। संसार के सभी जीवों और पदार्थों में, विशेषतः स्त्री जाति में, वे श्री जगदम्बा का साक्षात् प्रकाश अनुभव करते थे। यही कारण है कि भैरवी को देखते ही उन्हें वे 'माँ' कहकर संबोधित करने लगे। वे अपने को ब्राह्मणी का बालक मान कर उनकी गोद में बैठ जाते और उनके हाथ से आहार ग्रहण करते थे।

''हृदय के मुँह से हमने सुना है कि कभी-कभी ब्राह्मणी ब्रजगोपी के भाव से आविष्ट होकर मधुर-रस के गीत गाने लगतीं। उस समय ठाकुर कहते, 'मुझे यह भाव अच्छा नहीं लगता है' और इस भाव को रोक कर मातृभाव से परिपूर्ण गीत गाने के लिए ब्राह्मणी से अनुरोध करते। ब्राह्मणी भी रामकृष्ण की मनोदशा समझ कर, उनकी प्रसन्नता के लिए तत्काल श्री श्री माँ जगदम्बा की दासी के रूप में मातृगीत गाना शुरू कर देतीं अथवा, नन्दरानी माँ यशोदा के भाव से बालगोपाल के प्रति उल्लासपूर्ण गीत गाने लगतीं। यह निश्चय ही ठाकुर के मधुर-रस-साधना शुरू करने के बहुत पहले की बात है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ठाकुर के मन में 'भावके घर में चोरी' की बात लेशमात्र भी नहीं थी।''

पता नहीं है कि तंत्र-साधिका भैरवी योगेश्वरी के कितने शिष्य थे। उन्होंने स्वयं विस्तारपूर्वक बतलाया था कि रामकृष्ण से मुलाकात होने के पहले उन्होंने दो शिष्यों को तंत्रसिद्ध करने का प्रयास किया था। इन दोनों के नाम थे, चन्द्र और गिरिजा।

पहले दिन ही भैरवी ने रामकृष्ण को बताया था, ''बाबा, तीन व्यक्तियों को साधना में सहायता देने के लिए मुझे देवी का आदेश मिला था। दो व्यक्तियों से तो भेंट हो गयी, केवल तुम बचे थे। आज तुम मिल गये।''

भैरवी ने कथा-प्रसंग में रामकृष्ण को चन्द्र और गिरिजा की साधना और सिद्धि की बात बताई थी। यह भी आश्वासन दिया था कि वे उन दोनों से ठाकुर की भेंट करा देंगी।

भैरवी के आग्रह से चन्द्र और गिरिजा उत्साहपूर्वक आकर ठाकुर से मिले। उन लोगों के साथ ठाकुर का अच्छा प्रेम संबंध बन गया।

उन लोगों की साधना संबंधी उन्नति के विषय में ठाकुर के विचार हमें स्वामी शारदानन्द से प्राप्त हुए हैं। उन्होंने लिखा है, ''ठाकुर से सुना कि वे दोनों उच्चकोटि के साधक थे। साधन-पथ पर बहुत दूर तक बढ़ जाने पर भी उन्हें प्राप्ति का लाभ नहीं हुआ। विशेष-विशेष शक्ति और सिद्धाई प्राप्त कर वे लोग पथभ्रष्ट हो गये।''

चन्द्र स्वभावतः भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे। भरपूर ईश्वरप्रेम से उच्छ्वसित रहते थे। भैरवी योगेश्वरी की कृपा से उन्हें द्रव्यगुण की सिद्धि प्राप्त हुई थी। गुटिका-सिद्धि नामक एक विशेष सिद्धि उन्होंने अर्जित की थी। इस मंत्रपुटित गुटिका का बड़ा अलौकिक प्रभाव था। इसको धारण कर चन्द्र अदृश्य हो जाते थे और उस अवस्था में किसी भी दुर्गम स्थान में चले जा सकते थे।

शक्ति-लाभ के विभिन्न स्तरों को पार करने के बाद तांत्रिक साधक को शक्ति के प्रति, आधाशक्ति महेश्वरी के प्रति, सावधान रहना पड़ता है और अन्ततः वह उसी परम सत्ता में निर्वाण प्राप्त करता है। किन्तु साधन-पथ पर उपलब्ध शक्ति के अपव्यय और व्यभिचार के कारण अनेक अभागे साधकों का जीवन व्यर्थ हो जाता है। चन्द्र भी ऐसे ही एक अभागे साधक थे।

गुटिका-सिद्धि की प्राप्ति के बाद भावुक-स्वभाव चन्द्र दैहिक सुख, इन्द्रिय-संभोग-सुख की ओर झुक गये। सिद्धि-लाभ के थोड़े ही दिनों बाद वे एक धनी व्यक्ति की रूपसी कन्या में आसक्त हुए और तांत्रिक सिद्धाई के बल पर उसके घर जाने लगे। भोग-लालसा दिनोंदिन बढ़ती गयी।

फल यह हुआ कि उनकी सिद्धाई नष्ट हो गयी और एक दिन उस लड़की के साथ प्रणय-अभिसार करते समय वे पकड़े गये।

भैरवी के आग्रह पर चन्द्र ठाकुर से मिलने दक्षिणेश्वर आये थे। वे कुछ दिनों तक ठाकुर के साथ रहे भी। ठाकुर ने उन्हें सिद्धाई के अपव्यय और दुष्परिणामों के प्रति सावधान भी किया था। लेकिन, स्पष्ट है कि चन्द्र ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया और अंततः अहंभाव और कामिनी-कंचन की उग्र वासना उन्हें पतन के गर्त में ढकेल कर ही रही।

परवर्तीकाल में जबकि उनका साधन-जीवन व्यर्थ हो गया था, भग्न मनोरथ चन्द्र बेलूर मठ में आकर रामकृष्ण के शिष्यों के साथ कुछ दिनों तक रहे थे। वे विषाद-खिन्न चित्त से परम शान्ति का पथ खोज रहे थे। 'रामकृष्ण लीला प्रसंग' नामक ग्रंथ में इसका वर्णन यों आया है :—

१८९९ ई० के जून महीने में पूज्यवाद स्वामी विवेकानन्द दूसरी बार इंग्लैंड और अमेरिका की यात्रा पर निकले। उसके कुछ समय बाद बेलूर मठ में एक दिन सहसा एक व्यक्ति आये और 'चन्द्र' नामसे अपना परिचय दिया। वे एक

महीने से कुछ अधिक समय तक मठ में रहे। उन दिनों पूजनीय स्वामी ब्रह्मानन्द हमेशा मठ में रहते थे। उनके साथ इन व्यक्ति को अनेक बार एकान्त में बातचीत करते हमलोगों ने देखा था।

''सुना है, वे स्वामीजी से बार-बार पूछा करते थे—आप क्या यहाँ कुछ देखते हैं''—अर्थात्, क्या ठाकुर की जाग्रत् सत्ता का अनुभव करते हैं?—इत्यादि।

''वे कहा करते थे, ठाकुर ने उनके विषय में जो कुछ कहा था, वह सब घटित हुआ है। ठाकुर ने उन्हें वचन दिया था कि उनके मरने के पूर्व उन्हें वे दर्शन देंगे। उसी आश्वासन को घटित होना बाकी है।''

''वे प्रतिदिन मठ के ठाकुर-घर में जाकर बड़े भक्तिभाव से जपध्यान किया करते थे। उस समय उनकी आँखों से प्रेमाश्रु झड़ते थे। ठाकुर के संबंध में किसी-किसी के जिज्ञासा करने पर वे बड़े आनन्द से बात करते थे। हमलोग उन्हें अत्यन्त शांत प्रकृति के व्यक्ति समझते थे। उन्हें हमेशा एक स्थान पर स्तब्ध भाव से बैठा देख कर, और कभी-कभी आँखें मूँदे देखकर, एक दिन किसी ने उनकी हँसी उड़ाते हुए पूछा—'क्या आपको अफीम खाने का अभ्यास है?' उन्होंने अत्यन्त विनीत भाव से उत्तर दिया था—''मैंने आपलोगों के प्रति कौन-सा अपराध किया है कि आप ऐसी बात कह रहे हैं?''

किसी समय के तंत्रसिद्ध, प्रतापी साधक चन्द्र के जीवन में उन दिनों घोर पश्चात्ताप, आत्म-समर्पण और अहं-हीनता का भाव था। उन्होंने वैष्णवी दीनता, आडंबरहीनता, त्याग-तितिक्षा का मार्ग स्वीकार कर लिया था।

इस संबंध में स्वामी शारदानन्द लिखते हैं :—''वे प्रथम प्रणामकाल में ठाकुर-घर में जाकर ठाकुर की मूर्त्ति को 'दादा' कह कर सम्बोधित करते और प्रेम-भाव से अभिभूत होकर रोते रहते। देखने में वे साधारण आदमी जैसे लगते थे। उन्होंने गेरुआ वस्त्र या तिलक धारण नहीं किया था। सामान्य एक धोती पहनते थे, शरीर पर एक चादर और हाथ में एक बैग रहता था। बैग के भीतर वे पहनने की एक धोती, गमछा और संभवतः पानी पीने के लिए एक लोटा रखते थे। वे कहते थे, प्रायः वे इसी रूप में तीर्थ-पर्यटन करते हैं।

''स्वामी ब्रह्मानन्द ने, विशेष आदर और आग्रह से, मठ में स्थायी रूप से रहने का उनसे अनुरोध किया था। उन्होंने इस अनुरोध को स्वीकार करते हुए कहा भी, मैं घर जाकर जगह-जमीन का बन्दोबस्त करके आता हूँ, तब स्थायी रूप से यहाँ रहूँगा। किन्तु वे आज तक लौटे नहीं। इस प्रसंग में वर्णित चन्द्र संभवतः वे ही थे।''

भैरवी के दूसरे शिष्य, गिरिजा के संबंध में, ठाकुर रामकृष्ण अनेक कहानियाँ सुनाया करते थे।

अपने नए शिष्य, रामकृष्ण से परिचय कराने के लिए भैरवी ने गिरिजा को दक्षिणेश्वर बुलाया। किन्तु उस समय गिरिजा शायद नहीं आये। आये, भैरवी के दक्षिणेश्वर से चले जाने के बाद।

ठाकुर का त्याग-वैराग्य, दिव्योज्ज्वल मूर्ति और दक्षिणेश्वर मंदिर का परिवेश देखकर गिरिजा बड़े प्रसन्न हुए। वे ठाकुर के साथ कुछ दिनों तक दक्षिणेश्वर में रहे।

उन दिनों ठाकुर ने गिरिजा की एक अलौकिक सिद्धाई देखी थी।

दक्षिणेश्वर कालीबाड़ी के बगीचे के पास ही सिंदूरपट्टी के धनी-मानी व्यक्ति, शंभु मल्लिक का बगीचा था। सब लोग जानते थे कि शंभु मल्लिक और उनकी पत्नी ठाकुर के परम भक्त हैं। ठाकुर अपने भक्तों से कहा करते थे, 'शंभु मल्लिक मेरे दूसरे रसददार हैं।' मथुरनाथ विश्वास की मृत्यु के बाद ये ही ठाकुर के लिए आवश्यक सामान और रुपए-पैसे का जोगाड़ करते थे।

शंभु मल्लिक ने दक्षिणेश्वर मंदिर के पास ही थोड़ी जमीन लिख कर उसपर ठाकुर की पत्नी शारदा देवी के लिए घर बनवा दिया था, जहाँ माँ शारदा देवी कुछ दिनों के लिए रहीं भी। शंभु मल्लिक की पत्नी माँ शारदामणि की बड़ी आंतरिक श्रद्धा करती थीं। प्रत्येक जयमंगल व्रत के अवसर पर वे देवी के रूप में माँ शारदा की चरणपूजा करती थीं।

एक दिन ठाकुर भैरवी के शिष्य गिरिजा को साथ लेकर शंभु मल्लिक के बगीचे में टहलने गये। शंभु मल्लिक बड़े प्रसन्न हुए और बड़े सत्कार से दोनों को बैठकखाने में बैठाया। ठाकुर जहाँ-कहीं जाते थे, ईश्वर प्रसंग लेकर दिव्य आनन्द में मतवाला हो जाते थे। उस दिन भी कुछ वैसा ही हुआ।

बातचीत के दरम्यान हँसी-आनन्द में काफी रात हो गयी। गिरिजा के साथ ठाकुर काली मंदिर की ओर चले।

एक तो जंगल-झाड़ का रास्ता, दूसरे रात का गहन अंधकार। गिरिजा का हाथ पकड़े-पकड़े कुछ दूर जाने पर ठाकुर खेदपूर्वक कहने लगे, "अब तो इस रास्ते से जाना ही है। लौटने की जल्दवाजी में सोचा भी नहीं कि शंभु के यहाँ से एक लालटेन ले लेना चाहिए।"

गिरिजा ने समझा कि अँधेरे के कारण ठाकुर को कष्ट होता है। बोले, "दादा, तुम स्थिर खड़े रहो, मैं रोशनी जला कर तुम्हें रास्ता दिखलाता हूँ।"

इतना कह कर गिरिजा ने अपनी एक अद्‌भुत सिद्धाई दिखलायी। पीछे घूम कर पता नहीं उन्होंने कौन-सा मंत्र पढ़ा कि तुरत उनकी पीठ से प्रकाश की एक धारा निकली जिससे वह दुर्गम रास्ता प्रकाशित हो गया।

जैसा कि ठाकुर ने अपने भक्तों को बतलाया, "उस प्रकाश में काली-बाड़ी के फाटक तक सब जगह स्पष्ट दिखलाई पड़ती थी। मैं उस रोशनी में अपने घर चला आया।"

इस प्रसंग में ठाकुर ने कहा कि चन्द्र और गिरिजा की अद्भुत सिद्धाई अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी।

अपने शरीर की ओर उँगली से संकेत कर ठाकुर यह भी बोले, "इस खोल में भी वे सब सिद्धियाँ आयी थीं और कुछ दिनों तक वास करके चली गईं।"

तरुण भक्तगण शांतिपूर्वक ठाकुर से यह सब कहानी सुन रहे थे। उन लोगों के मन में तरह-तरह की बातें उठती थीं। एक जिज्ञासु भक्त पूछ ही बैठा, "मैं समझ नहीं रहा हूँ कि ऐसा क्यों हुआ।"

अपनी देह की ओर इशारा करते हुए ठाकुर ने शांत स्वर में कहा, "इसके कल्याण के लिए ही माँ ने सभी सिद्धाई खींच ली। उसके बाद तो मन उन सब बातों को छोड़कर एकान्त ईश्वरमुखी हो गया।"

अपने प्रथम दोनों शिष्यों, चन्द्र और गिरिजा, की ठाकुर रामकृष्ण से भेंट कराने के लिए भैरवी बहुत व्यग्र हुई थीं। क्या वे जानती थीं कि वे दोनों अपनी तंत्र-सिद्धियों का दुरुपयोग करेंगे? क्या वे इसीलिए उनलोगों को सत्त्वशुद्ध दिव्य-भाव-संपन्न महासाधक रामकृष्ण के सान्निध्य में रहने के लिए बुला रही थीं जिससे कि वे लोग उन्नत साधन-स्तर पर स्थापित हो सकें?

भैरवी की दृष्टि में रामकृष्ण ही उनके सर्वोत्तम शिष्य थे। उन्हें विश्वास था कि रामकृष्ण ने सत्-संस्कारों के साथ जन्म लिया है और भावी लोकगुरु की भूमिका के लिए चिह्नित होकर आये हैं। इसीलिए वे भी अपनी समस्त शक्ति लगाकर इस तरुण शिष्य के आध्यात्मिक जीवन को सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील हुई थीं। केवल इतना ही नहीं, वे अपने इस अध्यात्म-पुत्र के साथ दीर्घ छः वर्षों तक रहीं और उन पर सदा अपनी कल्याणमयी दृष्टि रखती थीं। रामकृष्ण की इन गुरुरूपिणी, मातृरूपिणी भैरवी की प्रशंसा में स्वामी शारदानन्द लिखते हैं :—

"ठाकुर के अलौकिक भावावेश और शक्तिप्रकाश को देखकर ब्राह्मणी कभी-कभी स्तंभित रह जाती थीं लेकिन अपने प्रति ठाकुर के मातृभाव, निर्भरता और अटूट विश्वास को देखकर उनका आंतरिक कोमल मातृत्व सदा उद्वेलित रहता और वे उसी में सब कुछ भूल जाती थीं। उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं कि ठाकुर की तनिक भी प्रसन्नता के लिए अशेष कष्ट सहना भी उन्हें स्वीकार था। वे दूसरों से उनकी सदा रक्षा करती थीं और साधना में निरत रहने के लिए सतत उनकी सहायता करती रहती थीं।"

''विशिष्ट अधिकारी शिष्य को शिक्षा-दान करने का सुयोग पाकर गुरु के हृदय में भी परितृप्ति और आत्मतोष का भाव जगता है। ब्राह्मणी ने इसके पहले कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि इस युग में भी आध्यात्मिक जगत् में ठाकुर-जैसा उत्तम अधिकारी जन्म ले सकता है। इसलिए हम अनुमान कर सकते हैं कि ठाकुर को शिक्षा देने का अवसर पाकर ब्राह्मणी को कितना आनन्द हुआ होगा। यही कारण था कि ठाकुर के प्रति उनका अकृत्रिम वात्सल्य-भाव था। इसलिए यदि वे अपने स्वाध्याय और तपस्या का समस्त फल ठाकुर को थोड़े ही दिनों में अनुभव करा देने के लिए व्यग्र थीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या?''

तंत्र साधना के बाद ठाकुर के मन में अवतार-पुरुष श्रीरामचन्द्र की आराधना का भाव जगा। उनके अध्यात्म-जीवन के लिए जगज्जननी ने पहले से ही इसका प्रबन्ध कर रखा था।

उन्हीं दिनों जटाधारी नामक एक रामायत साधु दक्षिणेश्वर आये। उनके पास बालक श्रीराम की एक नयन-मन-लोभन मूर्ति थी जिसे वे रामलला कहते थे और उसे हमेशा अपने साथ लेकर चलाफिरा करते थे; अपार निष्ठा से उसकी सेवा-पूजा किया करते थे।

ये रामलला जितने ही जाग्रत् थे, उतने ही चंचल भी। धातु की बनी मूर्ति में सूक्ष्म रूप से निहित श्रीराम को ठाकुर ने अपनी दिव्य दृष्टि से पहचान लिया। वे देखते थे कि साधु जटाधारी कितने प्रेम से उस मूर्ति को रसपूर्ण मीठे फल और मिठाई निवेदन करते हैं और दिव्यदेही रामलला साधु के साथ कितना खेल करते हैं।

रामलला की सेवा-पूजा और दिव्य लीलाएँ ठाकुर नित्य-प्रति देखा करते। हठात् उन्होंने एक दिन देखा कि रामलला उनके ही पीछे लग गये हैं और उनके ही प्रेम में व्यस्त हो रहे हैं। उनके पीछे-पीछे घूमने लगे हैं, स्नान के समय दौड़धूप कर सामान इधर-उधर कर दिया करते हैं। भोजन के समय भी उनके तरह-तरह के उपद्रव शुरू हो जाते हैं।

रामकृष्ण के मन में इच्छा हुई कि वे साधु जटाधारी से राममंत्र की दीक्षा ले लें और बालक श्रीराम की आराधना करें। इसके लिए उन्हें शीघ्र ही माँ भवतारिणी की अनुमति मिल गई। शिक्षागुरु भैरवी भी इसके लिए सहमत हो गईं। उन्होंने कहा, ''बाबा, तुम्हारे कुल देवता हैं श्री श्री रघुवीर। उनके श्रीविग्रह की नित्य पूजा करने के लिए तुमने बचपन में राममंत्र की दोक्षा ली थी। इस बार जटाधारी से फिर दीक्षा ले लो और बालक श्रीराम के लीला-रस का आस्वादन करो। लोकगुरु होने के लिए सब रस, सब भाव की जानकारी आवश्यक है।''

वात्सल्य-रस की इस साधना में ठाकुर शीघ्र ही डूब गये। रामलला अपनी धातुमूर्ति से निकल कर दिव्य देह में उनके साथ हमेशा घूमने-फिरने लगे। दोनों के बीच कितने ही तरह के मान-मनौअल, अभिमान-अभियोग के प्रेम-व्यापार अविरत चलने लगे।

रामलला अपने दीर्घायत कमलनेत्रों से रामकृष्ण को देखकर हँसते और हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते थे। कभी ठाकुर से डाँट-फटकार सुनकर या चाँटा खाकर वे अपने लाल-लाल ओठ फुला कर रूठ जाते थे।

एक दिन रामलला कुछ खाने की जिद करने लगे। पास में कुछ नहीं पाकर ठाकुर ने धान का लावा उनके मुख में डाल दिया। लावे में धान का कुछ भूसा लगा रह गया था, जिसकी तेज नोक से रामलला का कोमल मुँह कट गया। फिर तो उनके रोने का क्या कहना!

रामलला के रोने से, वात्सल्य-रस-परिपूर्ण ठाकुर को घोर दुःख हुआ। उनकी आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे। बार-बार कहने लगे, ''हाय रे! ...... माँ कौशल्या जिसको अपना नयन-रतन कहती हैं, जिसे बड़े प्रेम से गोद में बैठा कर खीर-मक्खन खिलाती हैं, उसके मुँह में मैंने भूसा लगा हुआ लावा डाल दिया। मैं कितना अभागा, कितना निष्ठुर हूँ!''

परवर्ती समय में जब भी कथा-प्रसंग में उस दिन की दुखद घटना की याद आती, ठाकुर व्याकुल होकर रो पड़ते थे। भक्त लोग ठाकुर की दशा देखकर विस्मित रह जाते थे।

ठाकुर और रामलला का पारस्परिक प्रेम दिनोंदिन प्रगाढ़ होता गया। श्रीविग्रह का वह ज्योतिर्मय रूप ठाकुर को छोड़ना ही नहीं चाहता था।

एकदिन साधु जटाधारी अश्रु-छलछल आँखें लिये ठाकुर के पास आकर कहने लगे, ''रामलला बड़े कृपालु हैं। उन्होंने आज अपने ज्योतिर्मय रूप में दर्शन देकर मेरे अन्तर की प्यास बुझा दी है। उन्होंने मुझसे कहा है कि वे अबसे यहीं रहेंगे, किसी भी हालत में तुम्हें छोड़ कर जाना नहीं चाहते हैं। ठीक ही है। रामलला की खुशी ही मेरी खुशी है। उनकी इच्छा पूर्ण हो। वे जहाँ रहना चाहते हैं, वहीं खुशी से रहें। मुझे इसके लिए तनिक भी दुःख नहीं है।''

रामलला की धातु-मूर्ति को ठाकुर के पास छोड़कर साधु जटाधारी यात्रा पर निकल गये। ठाकुर से फिर कभी उनकी भेंट नहीं हुई।

वात्सल्य-भाव की साधना पूर्ण कर लेने के बाद ठाकुर मधुर भाव की साधना के लिए व्यग्र हो उठे। जिस समय, जिस प्रकार की साधना करने की इच्छा होती, वे दौड़े-दौड़े माँ भवतारिणी का आदेश प्राप्त करने जाते। माँ का आदेश मिलने पर वे उस साधना में पूर्ण निष्ठा से व्रती हो जाते। मधुर भाव की

साधना के लिए माँ की अनुमति मिल जाने पर दृढ़ संकल्प के साथ वे उसमें सिद्धकाम भी हुए।

उस समय भी भैरवी योगेश्वरी ठाकुर की अभिभाविका थीं। कोई भी आध्यात्मिक कार्य शुरू करने के पहले ठाकुर उनसे पूछ लेते थे। भैरवी प्रायः प्रतिदिन दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में आती थीं। कभी-कभी ठाकुर ही हृदय के साथ भैरवी के वासस्थान पर चले जाते थे।

ठाकुर का मधुर भाव की साधना करने का विचार सुन कर भैरवी बड़ी प्रसन्न हुईं। बोलीं, ''यह तो बड़े आनन्द की बात है। साधना में सिद्ध होने की योग्यता तुममें सब लोगों से अधिक है। तुममें त्याग-वैराग्य और अनासक्ति है और तुममें कामवासना लेशमात्र भी नहीं है। तुम गोपी प्रेम, राधा प्रेम के श्रेष्ठ आधार हो।''

भैरवी ने केवल भावावेशवश होकर यह सब नहीं कहा। रामकृष्ण ने सरलचित्त बालक की तरह अपने साधन जीवन की सभी समस्याओं, संकटों और परीक्षाओं का एक-एक विवरण भैरवी को पहले ही सुना रखा था। स्वयं भैरवी को रामकृष्ण की वामाचारी तंत्र साधना के क्रम में उनके पूर्णतः कामजयी होने का परिचय-प्रमाण मिला था।

रानी रासमणि बड़ी भाग्यवती महिला थीं। उन्होंने रामकृष्ण के अभ्युदय और लीलानाटक के लिए ही दक्षिणेश्वर में रंगमंच तैयार कराया था। ठाकुर ने कहा भी था, ''रानी जगज्जननी की अष्टनायिकाओं में एक थीं। इसीलिए उन्होंने दक्षिणेश्वर मंदिर की स्थापना की थी जहाँ माँ की षोडशोपचार-पूजा और साधु-सतों के रहने और खाने-पीने की सुव्यवस्था थी।''

मंदिर के पुजारी, छोटे भट्टाचार्य ठाकुर रामकृष्ण पर पहले दिन ही रानी की नजर पड़ी और दिन-पर-दिन इस तरुण पुजारी की भाव-तन्मयता देखकर वे मुग्ध थीं। ठाकुर से संबद्ध अनेक घटना-प्रसंगों से वे समझ गई थीं कि ठाकुर को इष्ट-दर्शन उपलब्ध हुआ है और ये काली सिद्ध शक्तिमान् महापुरुष के रूप में दक्षिणेश्वर के कालीमंदिर में आविर्भूत हुए हैं।

किन्तु, साधना-क्रम में ठाकुर का दिव्योन्माद देखकर रानी सशंक हो गईं। कहीं अटूट ब्रह्मचर्य धारण करने और स्वाभाविक यौन-जीवन से सर्वथा विमुख रहने के कारण इनका माथा बिगड़ तो नहीं गया है?

रानी ने कुछ ऐसा प्रबन्ध किया कि ठाकुर को प्रलुब्ध करने के लिए एक रात दो सुन्दर वेश्याओं को ठाकुर के सोने के घर में भेज दिया गया। उन स्त्रियों ने जैसे ही ठाकुर का अंग-स्पर्श किया, ठाकुर 'माँ-माँ' चिल्लाने लगे और उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया।

ठाकुर के परम पवित्र शुद्ध शरीर के स्पर्श से दोनों वेश्याएँ विस्मित-चकित होकर मेज के ऊपर बैठ गईं। घोर पश्चात्ताप की ज्वाला में उनका अन्तर जलने लगा। ठाकुर के होश में आ जाने पर दोनों ने बार-बार उनसे क्षमा माँगी और प्रार्थना-प्रणाम कर अपने घर लौट गयीं।

मथुर बाबू ने ठाकुर को एक दिन कठिन परीक्षा में डाल दिया था। अपने सांसारिक जीवन में मथुर अनेक बार ठाकुर की शक्ति का परिचय पा चुके थे। अनेक संकटों में ठाकुर की कृपा से उनकी रक्षा हुई थी। वे भक्तिभाव से ठाकुर को बाबा कह कर संबोधित किया करते थे। किन्तु वे सोचते थे कि कठिन साधना और कठोर ब्रह्मचर्य व्रत के कारण यदि ठाकुर पागल हो गये तो मेरी रक्षा कौन करेगा।

मथुर ने ठाकुर के मुँह से सुना था कि ठाकुर नारी मात्र को मातृभाव से देखते हैं, जिस किसी स्त्री को देखते, उसे वे जगज्जननी का अंश-रूप मानते थे। इसलिए मथुर ने सोचा कि क्यों नहीं ठाकुर की अच्छी तरह परीक्षा कर ली जाय।

मथुर रानी रासमणि के दामाद थे। शहर के धनी और रसिक लोगों के साथ उनका उठना-बैठना होता था। वे स्वयं भी कुछ कम विलासप्रिय नहीं थे। उन दिनों लक्ष्मीबाई नामक एक परम सुन्दरी नर्तकी थी। जैसा उसका रूप, यौवन और आकर्षण था, वैसी ही वह नृत्यनिपुणा भी थी।

उस रमणी के साथ मथुर बाबू का गुप्त संबंध था। ठाकुर की परीक्षा लेने के लिए उन्होंने उस नर्तकी से कहा, "तुम अकेले मत रहना। अपने जलसाघर में कुछ और नर्तकियों को बुला कर रखना। तुमलोग ठाकुर को मोहित-विचलित करना। इसके लिए अच्छा पुरस्कार मिलेगा।"

उस समय ठाकुर कुछ दिनों के लिए जानबाजार में रानी रासमणि के राजघर में रहने आये थे। एक दिन दोपहर में मथुर ने उनसे कहा, "चलो बाबा, फीटन चढ़कर हमलोग थोड़ा हवा खा आएँ।"

ठाकुर उत्साहपूर्वक राजी हो गये। मैदान के चारों ओर चक्कर लगाकर संध्या समय मथुर लक्ष्मीबाई के मकान पर आ गये। वहाँ जलसाघर में हास्य-लास्यमयी नर्तकियों के बीच ठाकुर को छोड़कर मथुर खिसक गये।

झाड़-फानूस की रोशनी में जलसाघर झिलमिला रहा था। लक्ष्मीबाई और उसकी सुन्दर सहेलियों ने ठाकुर को घेर लिया।

ठाकुर विस्मित-चकित होकर बोल उठे, "ओ मेरी माँ, आज तुम किस रूप में, किस साजसज्जा में मेरे सामने आ खड़ी हुई हो?" इतना कहते-कहते, ठाकुर दिव्य भाव में आविष्ट होकर आनन्दोल्लासपूर्वक अपनी इष्टदेवी माँ श्यामा का आवाहन गीत गाने लगे।

धीरे-धीरे दिव्य भावावेश में ठाकुर का बाह्य ज्ञान लुप्त होने लगा। उन्हें ज्ञान ही नहीं रहा कि कब उनकी कमर से वस्त्र खिसक गया है। वे उद्भ्रांत, दिगम्बर हो गये।

लक्ष्मीबाई और उसकी सहेलियाँ को याद ही नहीं रहा कि वे सब किस काम के लिए एकत्र हुई हैं। जो योगियों का योग भंग कर देती हैं, साधारण संसारी लोगों को भेड़ बना देती हैं, वे ही रूपजीवा सुन्दरियाँ अपनी सम्पूर्ण शक्ति-सामर्थ्य खो बैठीं।

बाह्य ज्ञान लौटने पर ठाकुर मेज पर जा बैठे, आँखों में पुलकाश्रु भरे थे। वे गद्‌गद स्वर से अपना प्रिय श्यामा संगीत गाने लगे। तब तक नर्तकियाँ इन देवमानव की महिमा समझने लगी थीं। सबकी सब हाथ जोड़ कर ठाकुर के सामने खड़ी हो गयीं। उनमें से कोई-कोई मातृस्नेह वश ठाकुर को पंखा झलने लगीं।

उसी समय मथुर लक्ष्मीबाई के घर लौट आये। कमरे का दृश्य देखते ही वे समझ गये कि उनके इन कामजयी बाबा को डिगाना इन वारवनिताओं के सामर्थ्य से बाहर है। यह बाबा का माहात्म्य है कि ये नर्तकिया वात्सल्यमयी मातारूप में परिणत हो गयी हैं।

''चलो बाबा, अब ऐसा नहीं होगा। आज मुझे अच्छी शिक्षा मिली!''— कह कर मथुर रामकृष्ण को लेकर घर लौट आये।

भैरवी योगेश्वरी को रामकृष्ण ने ये सारी बातें एक-एक कर बतला दी थीं। इसलिए भैरवी अच्छी तरह जानती थीं कि रामकृष्ण पूर्णतः जितेन्द्रिय हैं। इसके अलावा, उनकी ही देख-रेख में ही तो रामकृष्ण ने तंत्र साधना के आनन्दासन को बड़ी सहजता से सिद्ध कर लिया था। अतः जैसे ही ठाकुर ने मधुर भाव की साधना करने की इच्छा प्रकट की, भैरवी ने तत्काल अपनी सहमति दे दी। बोलीं, ''बाबा, तुम्हारे समान शुद्ध सत्व आधारवाला व्यक्ति ही गोपी-प्रेम, राधा-प्रेम का रस धारण कर सकता है।''

ठाकुर शीघ्र ही मधुर रस के प्रेम-भाव की साधना में लीन हो गये। उनके शरीर में आठ प्रकार के सात्त्विक प्रेम विकार प्रकट होने लगे। साधना शेष होने पर महाभावमयी राधारांनी और परम पुरुष श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर वे आप्तकाम हो गये।

मधुर-भाव की साधना में भी भैरवी योगेश्वरी रामकृष्ण की सहायता करती रहीं। इस प्रसंग में स्वामी शारदानन्द ने लिखा है:—

''ठाकुर के श्रीमुख से हमलोगों ने सुना था कि ब्राह्मणी वैष्णवी पंचभावाश्रित साधना में भी पारंगत थीं। वात्सल्य और मधुर भाव की साधना में ठाकुर को उनसे कोई विशेष सहायता मिली थी क्या? इस विषय पर कभी

हमलोगों ने ठाकुर से, और हृदय से भी, सुना था कि बालगोपाल श्रीकृष्ण की मूर्ति में वात्सल्यभाव आरोपित कर वात्सल्य-साधना सिद्ध करने में और मधुरभाव की साधना में ब्राह्मणी से ठाकुर को कुछ-न-कुछ सहायता मिली ही थी। इन साधनाओं में उनसे विशेष सहायता नहीं मिलने पर भी इतना तो मानना पड़ेगा ही कि ब्राह्मणी से इन सभी प्रकार की साधनाओं की प्रशंसा सुन कर ही ठाकुर इन सभी भाव-साधनाओं के प्रति आकर्षित हुए थे।''[१]

एक दिन रामकृष्ण ने भैरवी से एक नयी साधना की बात कही। उन्होंने कहा, ''मंदिर में एक वेदान्ती महापुरुष आये हैं। उनका नाम है तोतापुरी महाराज। उन्होंने मेरी जाँच की है और कहा है, ''बेटा, तुम वेदान्त के उत्तम अधिकारी हो। तुम क्या मुझसे अद्वैत वेदांत की साधना सीखोगे?''

इस प्रस्ताव को सुनकर भैरवी चौंक गयीं। बोलीं, ''यह क्या बाबा? वह तो शुष्क-ज्ञान-साधना का मार्ग है। उस मार्ग पर जाने से तुम्हारा सब भाव-रस सूख जायगा।''

किन्तु रामकृष्ण को तो जगदम्बा की अनुमति मिल गयी थी। उन्होंने स्वयं भी समझ लिया था कि निर्विकल्प समाधि की स्थिति में पहुँचे बिना या अद्वैत सिद्धि उपलब्ध किये बिना उनका साधन-जीवन पूर्णांग नहीं होगा।

विभिन्न भावों और साधना-क्रियाओं को सिद्ध करने के बाद माँ भैरवी के सुयोग्य शिष्य रामकृष्ण अब अद्वैत-सिद्धि के महासागर-तट पर खड़े थे।

इस नयी साधना के लिए ठाकुर क्यों इतने व्यग्र हो रहे थे? परवर्ती काल में शिष्यों के पूछने पर उन्होंने कहा, ''समुद्र के किनारे रहनेवाले के मन में कभी-कभी विचार आता है कि देखना चाहिए, इस रत्नाकर के गर्भ में कैसे-कैसे रत्न छिपे पड़े हैं। उसी प्रकार, निरंतर माँ के साथ रहते-रहते, मेरे मन में होता था कि मैं अनन्तभावमयी, अनन्तरूपमयी माँ को सभी भावों, सभी रूपों में देखूँ। और, जिस भाव में, जिस रूप में उसे देखने की इच्छा होती, उसी भाव और रूप के लिए मैं व्याकुल हो जाता था। माँ भी इतनी कृपामयी हैं कि उस भाव और रूप को उपलब्ध करने के लिए जिस भी चीज की जरूरत होती, उसका वे स्वयं प्रबंध कर देतीं और उस भाव और रूप का दर्शन भी करा देतीं। इस तरह से मैंने विभिन्न मतों और पथों की साधना की थी।''

अस्तु, इस बार रामकृष्ण को जगज्जननी पराशक्ति की साधना करनी थी— अद्वैत सिद्धि की महासाधना। इसके लिए माँ भवतारिणी की अनुमति मिल जाने पर ठाकुर ने भैरवी की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया, और महावेदान्ती तोतापुरीजी महाराज को नये गुरु के रूप में वरण कर लिया।

---

१. लीला प्रसंग, गुरु भाव, पूर्वार्द्ध।

ठाकुर ने न तो अपनी गर्भधारिणी माँ को बताया और न तंत्रगुरु भैरवी को ही, और चुपचाप मंदिर के एक निर्जन कमरे में वेदान्त-साधना करने बैठ गये। परम शुद्ध आधारवाले इस नये शिष्य को वेदान्त-साधना की दीक्षा देते ही, पुरी महाराज विस्मयचकित हो गये। ठाकुर आश्चर्यजनक तीव्र गति से निर्विकल्प समाधि के स्तर पर पहुँच गये और तीन दिन तीन रात तक उस स्थिति में रह गये। गुरु महाराज को ही उन्हें उस स्थिति से उतारना पड़ा।

आत्मज्ञानी महासाधक तोतापुरीजी आश्चर्य से बोले उठे, ''यह कैसी दैवी माया है!'' जिस निर्विकल्प समाधि को अर्जित करने के लिए उन्हें चालीस वर्षों तक कठोर साधना करनी पड़ी थी, उसे उनके तरुण शिष्य ने इतने थोड़े समय में उपलब्ध कर लिया!

साधारणत: तोतापुरी महाराज किसी स्थान पर तीन दिनों से अधिक नहीं रहते थे। किन्तु पवित्र गंगा-तट पर अवस्थित दक्षिणेश्वर की भूमि में तोतापुरी जी ने अपने इस नियम में ढील दी और वहाँ ११ महीने रह गये। उन्होंने इस अवधि में अपने प्रिय शिष्य को वेदान्त ज्ञान और साधना में पारंगत कर दिया।

तंत्रगुरु भैरवी को रामकृष्ण की यह अद्वैत-वेदान्त-साधना पसन्द नहीं थी। किन्तु वे ठाकुर की इस नवीन साधना और नवीन गुरु तोतापुरीजी महाराज की महत्ता को मान रही थीं। उन्होंने यह भी ज्ञान लिया था कि ठाकुर को इस नयी साधना के लिए माँ जगज्जननी का आदेश मिल गया है। सर्वोपरि बात यह थी कि निकट भविष्य में ठाकुर को युगाचार्य की भूमिका ग्रहण करनी थी, लोकगुरु होना था। इसलिए ध्यान-साधना के मार्ग से उन्हें वेदान्त की अद्वैत भूमि में पहुँचना ही था।

भैरवी योगेश्वरी देवी की साधना-सिद्धि का आज सही-सही मूल्यांकन करना संभव नहीं है। किन्तु, बंगाल में आकर जिन तीन शिष्यों—चन्द्र, गिरिजा और ठाकुर रामकृष्ण से उन्होंने तन्त्र साधना करायी, उनकी ही जीवन-कथा से हम समझ सकते हैं कि भैरवी योगेश्वरी किस कोटि की साधिका थीं और उनका साधन उत्कर्ष कैसा था।

इसमें संदेह नहीं कि भैरवी तंत्रसिद्धा साधिका थीं। उन्होंने वामाचारी, वीराचारी और वैष्णवी तंत्र की विशेष रूप से साधना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका योगैश्वर्य भी कुछ कम नहीं था। कारण, अपने शक्तिबल से उन्होंने जान लिया था कि बंगाल के किन तीनों शिष्यों को तंत्र-साधना में सहायता देनी है। उन्होंने निर्भ्रान्त रूप से यह भी समझ लिया था कि इन तीनों शिष्यों में ठाकुर रामकृष्ण ही निकट भविष्य में युगाचार्य की भूमिका निभाने के लिए ही चिह्नित व्यक्ति हैं। यह बात उन्होंने उस समय ही समझ ली थी जब ठाकुर दक्षिणेश्वर के कालीमंदिर में, एक दिन, भक्तिमान् ब्राह्मण पुजारी-मात्र समझे जाते थे। मंदिर के

लोग उन्हें पगला छोटा भट्टाचार्य कहा करते थे। उन्हीं दिनों भैरवी ने दृढ़, कुंठाहीन स्वर में घोषित किया था कि रामकृष्ण एक ईश्वरप्रेरित महापुरुष हैं।

भैरवी के महत्त्व, महिमा और साधन-कुशलता का यह भी एक प्रमाण था कि उन्होंने रामकृष्ण से तंत्रोक्त सभी क्रियाएँ हाथोंहाथ संपन्न करा दी थीं जिसका परिणाम था कि ठाकुर का भावोच्छ्वासमय जीवन-मूल सुसंयत, सुदृढ़ रूप से तंत्र-साधना के आधार पर प्रतिष्ठित हो गया। उन्हें अणिमा, लघिमा आदि अष्टसिद्धियाँ उपलब्ध हुईं। उनके शरीर का रंग दिव्य उज्ज्वल प्रभा से झिलमिलाने लगा। सिद्ध जीवन की दीप्ति से उनका मुखमंडल उद्भासित हो चला। उनके सम्पर्क में आने वाले सभी स्त्री-पुरुष स्वीकार कर सहज भाव से उनके प्रति श्रद्धापूर्वक आकर्षित होने लगे।

अपनी तंत्र-सिद्धि के बल पर ठाकुर भी समझने लगे कि उनकी दैवनिर्दिष्ट भूमिका क्या है। स्वामी शारदानन्द लिखते हैं, तंत्र-साधना के प्रभाव से दिव्य शक्ति प्राप्त कर ठाकुर को एक और बात की अनुभूति हुई। श्री माँ जगदम्बा की कृपा से वे समझ गये कि बहुत-से लोग धर्म-शक्ति पाने के लिए उनके पास आनेवाले हैं। इस परम अनुभूति की बात उन्होंने हृदय और मथुर बाबू से कही थी। मथुर ने कहा, ''ठीक ही तो है, बाबा! हम लोग मिलजुल कर खूब आनन्द मनाएँगे।''

ठाकुर की मधुर भाव की साधना में भी भैरवी का विशेष योगदान रहा। इस साधना से उद्भूत महाप्रेम के कारण ठाकुर के प्रति उत्तरकाल में असंख्य लोग आकृष्ट हुए और उनके ईश्वरचिह्नित शिष्य-पार्षद भी आये।

सिद्ध स्त्री-पुरुषों का वास्तविक रूप अन्य सिद्ध पुरुषों के द्वारा ही प्रकट होता है। ठाकुर ने सिद्धा भैरवी योगेश्वरी के विषय में कहा था, 'साधिका के हिसाब से, भैरवी योगेश्वरी का जन्म योगमाया के अंश से हुआ था।'[१]

रामकृष्ण की तंत्रसिद्धि के बाद भी भैरवी बहुत दिनों तक देवमंडल घाट पर रहती रहीं। अपनी कुटिया में बैठी जप-ध्यान करतीं, दक्षिणेश्वर आकर अपने अध्यात्मपुत्र रामकृष्ण को खीर-मक्खन खिलातीं—यही उनकी दिनचर्या थी।

तोतापुरीजी महाराज की कृपा से, ठाकुर के वेदान्त-सिद्धि प्राप्त करने के बाद भैरवी ने समझ लिया था कि उनकी और ठाकुर की साधन-जीवन धाराएँ अब अलग-अलग प्रवाहित होंगी। दोनों के विच्छेद में अधिक देर नहीं है।

१८६१ ई० में, ठाकुर और हृदय के साथ भैरवी भी ठाकुर के जन्मस्थान, कामारपुकुर गयीं। वहाँ पतिदर्शन के लिए किशोरी शारदामणि भी आयीं। स्थानीय भक्त, स्त्री-पुरुष दिनोंदिन बड़ी संख्या में जुटने लगे। वे ठाकुर का दर्शन करते, उनका उपदेश सुनते। बड़े आनन्द का परिवेश जम रहा था। किन्तु इस आनन्द-

१. लीला प्रसंग, द्वितीय भाग, ठाकुर की तंत्र-साधना।

मेले में भैरवी अपने को खपाने में असमर्थ थीं। उन्हें अपने साधन-जीवन में एक अतृप्ति का भाव पीड़ित कर रहा था।

एक दिन एक मामूली घटना के कारण रामकृष्ण के साथ भैरवी का विछोह हो ही गया। उस दिन अन्य भक्तों के साथ श्रीनिवास शाँखारी नामक एक भक्त ठाकुर का दर्शन करने आये। ठाकुर के आग्रह पर श्रीनिवास ने ठाकुर के गृहदेवता रघुवीरजी का प्रसाद खाया।

श्रीनिवास को देखकर और उनकी बातें सुनकर भैरवी बड़ी प्रसन्न थीं। प्रसाद खाने के बाद श्रीनिवास अपना जूठा पत्तल उठाने जा रहे थे। उसी समय भैरवी ने कहा, ''बाबा तुम यह पत्तल मत उठाओ, में ही उठाऊँगी।'' उनकी बात सुनते ही ठाकुर के भाँजे हृदय चिल्लाने लगे। भैरवी से कहा, ''तुमको गाँव-घर का रीति-रिवाज क्या मालूम? तुम ब्राह्मणी होकर शाँखारी का जूठा पत्तल उठाओगी, इससे लोग बिगड़ खड़े होंगे, और वह झमेला निबटाना पड़ेगा हमलोगों को। तुम अगर जूठा पत्तल उठावोगी तो मैं तुम्हें घर में घुसने नहीं दूँगा।''

इस बाताबाती में झगड़ा शुरू हो गया। भैरवी समझ गई कि रामकृष्ण के साथ उनके चिर विछोह की घड़ी आ पहुँची है। माँ जगज्जननी की इच्छा नहीं है कि वे अब अपने अध्यात्म-पुत्र रामकृष्ण के पास रहें। जंजीर तो जंजीर ही है, भले वह सोने की क्यों न हो! इस माया-बंधन को तोड़ कर उन्हें अपनी परम मुक्ति की खोज में निकल पड़ना होगा। वामाचारी साधना और मधुर भाव की साधना में उनके इतने दिन कट गये हैं, ऋद्धि-सिद्धियाँ भी जीवन मे प्राप्त हुईं किन्तु क्या उनकी जीवन-तपस्या पूर्ण हुई है? दिव्याचारी साधना और सिद्धि को लेकर इतना आगे बढ़ जाने पर भी वे अबतक अपनी चिर आराध्या महाशक्ति को, ब्रह्ममयी को, उपलब्ध नहीं कर पाई हैं।

इन सारी बातों पर विचार कर भैरवी ने अपना संकल्प निश्चित कर लिया। उन्हें अपने अध्यात्म-तनय रामकृष्ण के साथ का वात्सल्य-बन्धन खंडित करना ही होगा।

कई दिनों के बाद चिर-विदा का लग्न उपस्थित हुआ। भैरवी बगीचे से बहुत सारे फूल चुन कर ले आयीं। भावमग्न होकर भक्ति-संगीत गाते-गाते उन्होंने रंग-बिरंगे सुगन्धित फूलों की मालाएँ तैयार कीं और बड़े स्नेह से उन मालाओं को अपने बालगोपाल-रूप अध्यात्म-पुत्र रामकृष्ण के गले में पहना दिया; उनके गोरे शरीर पर चन्दन का लेप चढ़ाया और ध्यानमग्न होकर एकटक देखती रहीं।

तत्पश्चात् अपना त्रिशूल और गेरुआ वस्त्रों की झोली लेकर भैरवी विदा हो गयीं। आँखें अश्रुसिक्त थीं, शरीर भावतरंग में काँप रहा था।

कमारपुकुर से विदा होने के बाद भैरवी फिर कभी दक्षिणेश्वर नहीं आयीं और न बंगाल में ही कहीं दिखायी पड़ीं।

सुना जाता है कि 'रमता साधु, बहता पानी' की तरह भैरवी तीर्थों का भ्रमण करने के बाद किसी गहन वन में कठिन दिव्याचारी साधना द्वारा परम तत्त्व की उपलब्धि के लिए बैठ गयीं; जन-जीवन में फिर कभी नहीं लौटीं। उनका परवर्ती जीवन अज्ञेय रहस्य के कुहासे में ढँका है।

—प्रमथनाथ भट्टाचार्य के सौजन्य से

●

१६

सिद्धा परमेश्वरी बाई

जाड़े का मौसम। माघ का महीना बीत रहा था। उस दिन सबेरे से ही आकाश मेघाच्छन्न था। साँझ होते-होते प्रबल वेग से झड़-वर्षा शुरू हो गयी। घनकृष्ण आकाश के कलेजे को विदीर्ण कर बार-बार बिजली चमक जाती थी।

उन दिनों हिमालय में बर्फ का तूफान चल रहा था जिसकी शीतलहरी में वृन्दावन और सारा ब्रजमंडल ठिठुर रहा था। एक तो घोर जाड़े की रात, उस पर आँधी-तूफान के साथ अविरल वर्षा। कनकन ठंढी हवा हाड़ तक छेद रही थी।

यमुना के किनारे वृद्ध वैष्णव गुरु, बाबा दामोदर दास का श्रीनटवर कुंज था। कुंज क्या, एक छोटा-सा अखाड़ा था जहाँ तीन छोटे-छोटे कमरे थे। एक कमरे में श्रीनटवरजी और राधारानी की सेवा-पूजा होती थी। शेष दो कमरों में बाबाजी और उनके दो शिष्य रहते थे। आँगन में एक किनारे पक्की छावनीवाली गोशाला थी, जिसमें तीन गायें थीं। बाबाजी के लिए ये गौवें देवतुल्य पूजनीय थीं। वे इनकी सेवा-टहल में किंचित् भी त्रुटि नहीं होने देते थे।

उस रात की झड़-वर्षा में हवा के झोंके से बाबाजी की कुटिया का दीया बुझ गया था। एक किनारे पड़ी अँगीठी की आग भी बुझ चली थी। कठिन शीत में कँपकपी के कारण बाबाजी अपनी खटिया पर उठ बैठे। भजन की माला हाथ में लिये वे उस-खुस करने लगे। हाथ की माला को दीवार पर टाँग कर उन्होंने दिया जलाया और अँगीठी की आग को भी थोड़ा उकसा दिया।

थोड़ी देर बाद अस्तव्यस्त होकर वे जोर से पुकारने लगे, "अरे नन्ददास, अरे मिठू लाल, तुमलोग उठो, जल्दी इधर आओ।"

बड़ा चेला नन्ददास बंगाली था। दूसरा, मिठू लाल ब्रजमंडल के एक ग्वाले का लड़का था। दोनों ने उस दिन कठिन परिश्रम किया था। मथुरा में हाट लगने का दिन था, इसलिए कुंज का नैमित्तिक काम-काज समाप्त कर दोनों बाजार करने पैदल ही मथुरा गये थे। बाजार में देव-पूजा के लिए आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के बाद गौवों के लिए एक गाड़ी बिचाली, भूसा और चुन्नी खरीद कर दोनों कुंज लौट आए थे।

तब तक काफी रात हो गयी थी। दोनों व्यक्ति जाड़े और थकावट से अवसन्न हो रहे थे। जल्दी-जल्दी खाना-पीना समाप्त कर उन लोगों ने कोठरी में

लकड़ी का कुंदा जलाया और देह को थोड़ा गरमा कर खाट पर लेट गये। कुछ ही देर में उन्हें गहरी नींद आ गयी।

लेकिन इधर, बाबाजी महाराज चिल्ला-चिल्ला कर पुकार जो रहे थे।

अन्ततः दोनों गुरुभाइयों की नींद टूट ही गयी। खाट पर लेटे-लेटे दोनों फुसफुसाने लगे, 'कोई-न-कोई बहाना बना कर बाबाजी हमलोगों को बिछावन से उठा देंगे और जप-भजन के लिए बैठाएँगे।'

उनलोगों की यह खुसुर-फुसुर चल ही रही थी कि बाबा दामोदर दास जी ने क्रोधित होकर पुकारा, "तुम लोग जल्दी उठो। सुनते नहीं हो कि एक गाय बार-बार रँभा रही है। जरूर कोई खर-बिचाली चुरा रहा है।"

मिट्ठू लाल ब्रज का रहनेवाला लड़का है। उसके प्रति बाबाजी को विशेष स्नेह है। इसलिए वह मौका मिलते ही शैतानी करने से नहीं चूकता है, बल्कि कभी-कभी बाबाजी को दो बात सुना भी देता। उसने बाबाजी की पुकार पर अपनी हिन्दी-बँगला मिश्रित जबान में उत्तर दिया, "बाबा, इस झड़ वर्षा और ठंढ में चोर भी चोरी करने नहीं निकलता है। ऐसे समय में वे लोग भी आग तापते हैं या सोते हैं। आपका चिल्लाना सुन कर हमलोग तो जाग ही गये हैं, भगवान् नटवरजी की भी नींद उचट गयी है।"

"तुम चुप रहो, बन्दर-बच्चे! इस कुंज में बैठ-बैठ चिउड़ा-दही खाने में तुम तो यम के सहोदर हो! ठीक है, चोर नहीं आया है, लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि गाय के गले की रस्सी कस गयी हो? सुन नहीं रहे हो, किस तरह रँभा रही है? अरे नन्द दास; तुम मिट्ठू लाल को साथ लेकर जाओ और देख आओ कि क्या बात है। गोमाता के लिए थोड़ा भींग भी गये तो क्या होगा?"

छाता और लालटेन लेकर दोनों चेले गोशाला में घुसे। गौओं के पास जाते ही वे विस्मय-विमूढ़ रह गये। देखा, उनके सामने एक मानव आकृति जमीन पर पड़ी है। सारा शरीर एक ऊनी चादर से ढँका है। यह कोई जीवित व्यक्ति है या मरा हुआ है?

मुँह पर से चादर थोड़ा हटा कर नन्दलाल ने देखा—यह कोई स्त्री है। गोरे रंग की है, चेहरे पर अपूर्व लावण्य है। दोनों बड़ी-बड़ी आँखें मुँदी हुई हैं। लगता है, स्त्री बेहोश पड़ी है।

दोनों गुरुभाइयों ने उस स्त्री की नाक के पास उँगली ले जाकर देखा। हाँ, अभी साँस चल रही है। तब तो अभी मरी नहीं है, जीवित है। मालूम होता है, घोर ठंड के कारण बेहोश हो गयी है। सारा शरीर भी तो भींगा हुआ है!

मिट्ठू लाल दौड़ा-दौड़ा बाबाजी के घर में गया। व्यग्र होकर कहने लगा, "बाबा, गोशाला में चोर नहीं है। वहाँ तो एक अपूर्व सुन्दरी स्त्री है। मालूम पड़ता है, साक्षात् राधारानी हैं।"

बाबा दामोदर दासजी अभी-अभी माला लेकर जप करने बैठे ही थे। मिट्ठू लाल की बात सुनकर थोड़ा बनावटी क्रोध से बोले, "चुप रहो, बुद्धू! राधारानीजी को कोई दूसरा काम नहीं है जो तुम्हारी गोशाला में आएँगी? तुमने कभी राधारानीजी को देखा भी है जो उन्हें पहचान रहे हो?"

"यह माई राधारानीजी नहीं हैं तो कम-से-कम ललिता विशाखाजी जरूर हैं।"

अपने किशोर चेले की चपल-सरल उक्ति सुन कर बूढ़े बाबाजी हँस पड़े; कहा—"जैसे कि तुम ललिता विशाखाजी को पहचानते हो! अच्छा, सुनो। काम की बात करो। तुम और नन्ददास मिल कर उस स्त्री को इस घर में उठा कर ले आओ। और, काठ का एक जलता कुन्दा भी ला देना। बेचारी स्त्री ने बड़ा कष्ट उठाया है। भाग्य की बात ही समझो कि इस ठंढ और वर्षा में भी वह मरी नहीं है।"

चेलों ने बाबाजी के आदेशानुसार काम किया, और करीब एक-दो घंटे में आग के ताप से किंचित् स्वस्थ होकर उस स्त्री ने आँखें खोल दीं। वह कुछ कहने की भी कोशिश कर रही थी।

"मूर्च्छा टूट रही है। तुमलोग इसके कंठ में थोड़ा गरम दूध डाल दो, थोड़ी देर में गरमा जाएगी।" तटस्थ भाव से इतना कह कर बाबा दामोदर दास माला फेरने लगे।

दूसरे दिन सबेरे, यमुना में स्नान कर बाबाजी ने नटवरजी और किशोरीजी की पूजा की और बालभोग चढ़ाया और, इन कार्यों से निवृत्त हो, बरामदे में आ बैठे। दोनों चेलों को बुला कर कहा, "उसको यहाँ ले आओ। कुछ प्रसादी फल-मूल खिला कर उस आफत को यहाँ से विदा कर दो।"

बाबाजी की बात सुनकर नंददास चौंक गया। दुखित स्वर में बोला, "बाबा, यह क्या ठीक होगा? मालूम पड़ता है, कई दिनों से उसने कुछ खाया-पीया नहीं है। थकावट से चूर-चूर हो रही है।"

"देख रहा हूँ, उस स्त्री का चाँद-सा मुखड़ा देख कर तुम्हारा माथा घूम गया है। तुम उसको यहाँ रखोगे कहाँ, और खिलाओगे क्या? कभी यह सब सोचा भी है?"

"यह सब तो बाद की बात है, बाबा। अभी तो उसे इस अवस्था में......।"

"तुम रुको तो! अंधड़ में गिरा हुआ काग घर में घुस आया है। उसको लेकर इतनी माथा-पच्ची करने की क्या जरूरत?"

नंददास तुरत सँभल गया। बहुत दिनों से बाबाजी के साथ रह कर वह उनके माहात्म्य, उनकी अलौकिक शक्ति और प्रेमपूर्ण हृदय को पहचान गया था। वे कितनी भी कठोर बातें क्यों न कहें, उनके अंतस्तल में स्वर्गीय प्रेम का अपार सागर लहराता है। स्वभाव थोड़ा खिट्-खिट जरूर है, और बराबर कटूक्तियों की बाण-वर्षा करते रहते हैं, किन्तु उनके-जैसा अपार स्नेह करनेवाले कितने लोग हैं? उनके आश्रय में आने के बाद तो नंददास माता-पिता, घर-संसार, सब कुछ को भूल गया था। अपने सुख की बात भी उसके मन में नहीं उठती थी। बाबाजी और कुंज-विग्रह के अलावा उसकी कोई दुनिया ही नहीं बच गयी थी।

वही कुछ हाल किशोर चेला, मिट्ठू लाल का भी था। बाबाजी उसे दिन-रात बन्दर-छोकरा कहा करते, हमेशा गाली देते। किन्तु, कितने वात्सल्य-स्नेह से उसे गढ़ रहे थे वे! कितनी ही बार उन्होंने एकान्त में नंददास से कहा था, "उसके प्रति हमेशा सतर्क दृष्टि रखना। वह एक दिन भगवान् के चरणों पर अर्पित होने वाले फूल की तरह प्रस्फुटित हो जायगा। जानते हो? तीन पुश्त से उसके ऊपर राधारानी की कृपा है!"

थोड़ा देर के बाद महिला को बरामदे में बाबाजी के सामने बैठा दिया गया।

प्रणाम करने के बाद बाबाजी की ओर एकटक देखकर वह महिला फूट-फूट कर रोने लगी, "बाबा, आप ही हैं? हाँ-हाँ, आप ही तो उस दिन कलकत्ता गये थे। आप ही न हाथ के इशारे से मुझे वहाँ से यहाँ वृन्दावन में बुला लाए हैं अपनी कुटिया में आश्रय देने के लिए!"

"वह सब बेकार की बातें बन्द करो। विपत्ति में पड़ने पर सब लोग ऐसा ही कुछ कहने लगते हैं। पिछले चालीस वर्षों से मैंने वृन्दावन और ब्रजमंडल के बाहर पाँव नहीं रखा है।"—कह कर दामोदर दासजी माला फेरने लगे।

"हाँ, बाबा! अपने इष्टदेव के नाम की शपथ लेकर मैं कहती हूँ, आपने कलकत्ता में इसी तरह, दिन-दोपहर के समय, जीवन्त मनुष्यरूप में मुझे दर्शन दिया था। ठीक इसी भंगिमा में, इसी तरह माला की झोली में हाथ रखे, आप बैठे थे। हू-ब-हू यही मूर्त्ति थी। केवल इतना ही नहीं, मथुरा पहुँचने के बाद भी मैंने आपको देखा है।"

नंददास विस्मय से बोल उठा, "बाबाजी तो अनेक दिनों से मथुरा नहीं गये हैं! आप सब बात खुलासा कहिए।" किन्तु, समझ तो वह यह रहा था कि यह बाबाजी की नयी कृपालीला है।

मिट्ठू लाल भी आश्चर्यचकित होकर बोला, "यह सचमुच बड़े ताज्जुब की बात है!"

शांत स्वर से वह स्त्री कहने लगी, ''हाँ, बाबा! मथुरा पहुँचने पर मुझे कहीं कुछ भिक्षा नहीं मिली। शरीर और मन से मैं अवश हो रही थी। इधर साँझ हो गयी और वर्षा होने लगी। थकी-माँदी मैं बाजार में ही एक पुआल-घर में रुक गयी। नींद आने पर वहीं सो गयी। अचानक किसी की पुकार सुन कर मैं जग गयी और देखा, आप जप की माला लिये मेरे सामने खड़े हैं और कह रहे हैं—'यही तो खर-बिचाली भरी बैलगाड़ी है। इसी से तुरत वृन्दावन के लिए रवाना हो जाओ। अभी गाड़ी में पीछे थोड़ी जगह बनाकर सो रहो। मेरे पास ठीक-ठीक पहुँच जाओगी।' आपके उसी आदेश के अनुसार मैं यहाँ आयी हूँ, बाबा!''

बाबाजी कुछ क्रोध भरी आवाज में बोले, ''आ तो गयी हो लेकिन यहाँ तुम्हारे रहने के लिए जगह कहाँ है? दाना-पानी का भी क्या इन्तजाम है? कोई राजा-महाराजा मेरा चेला है जो रोज भंडारा करेगा? तुम देर मत करो; झटपट यहाँ से चलती बनो।''

हाथ जोड़ कर अश्रुसजल नेत्रों से वह स्त्री बोली, ''बाबा, मैंने दो बार आपका अलौकिक दर्शन पाया है। भाग्यवश आपका साक्षात् दर्शन भी हुआ। अब मैं आपका आश्रय छोड़कर इस कुंज से बाहर नहीं जाऊँगी। मेरे लिए दूसरी कोई जगह भी नहीं है।''

नंददास और मिट्ठू लाल वहीं सामने खड़े थे। उन्हें गहरा दुःख हो रहा था। लेकिन, बाबाजी के भय से कुछ कहने का साहस भी नहीं था। वे मन-ही-मन सोच रहे थे—'यह स्त्री सचमुच निराश्रय है। अलौकिक दर्शन देकर बाबाजी ने अवश्य इसपर थोड़ी कृपा की है। लेकिन, अभी क्यों इसे कुंज से बाहर निकाल रहे हैं? क्या यह उचित है?'

उन दोनों की ओर देखते हुए बाबाजी कहने लगे, ''मैं समझ रहा हूँ कि तुमलोग क्या सोच रहे हो। लेकिन मैं इसे यहाँ टिकाऊँ कैसे? लोग कहेंगे, बूढ़े दामोदर दासजी बड़े चालाक हैं; फन्दा डाल कर कुंज में एक 'कुनकी' हाथी फँसा लाये हैं!''

हँसमुख लड़का मिट्ठू लाल कुतूहल-वश पूछ बैठा, ''यह 'कुनकी' कौन-सी चीज है बाबा?''

''मूर्ख, निकम्मा कहीं का! इतना भी नहीं जानते हो? पूर्व जन्म के किसी पुण्य-प्रताप से ब्रजमंडल के ग्वाले के घर में तुम्हारा जन्म हुआ है। लेकिन, और तो कुछ हुआ नहीं, बस, दूध-दही खा कर मोटा होता जा रहा है!''

''बाबा, ब्रज के दूध-दही की निन्दा मत कीजिए। आपके कृष्णजी का शरीर उसी से बना था, और तभी तो वे कंस का वध कर सके थे?''

''ब्रज-गोप, तुम अकाट्य मूर्ख हो! अहमकपना तुम्हारा काल हो रहा है। तुम अभी तक समझ नहीं पाए हो कि किसुनजी क्या परम तत्त्व हैं। जानते

हो?—कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन को अहं भाव आया कि सामने खड़े सभी शत्रुओं को उसे ही मारना है। किसुनजी ने उसे दिखला दिया कि उन्होंने सबको पहले से ही मार रखा है, वह तो केवल निमित्त-मात्र है। किसुनजी की मृत्यु के बाद आभीर डाकुओं ने द्वारका की स्त्रियों पर हमला किया। कुरुक्षेत्र-विजयी अर्जुन ने सोचा, मैं स्त्रियों को डाकुओं से बचा लूँगा।'' लेकिन, डाकुओं के सामने वह तो अपना गांडीव धनुष उठा भी नहीं सका। किसुनजी ने इस तरह फिर से दिखला दिया कि उनके बिना अर्जुन का वीरत्व कुछ भी नहीं है।''

इस बार नंददास बोल उठा, ''आप कुनकी हाथी की बात कह रहे थे, बाबा! वह क्या है, आपने बताया ही नहीं।''

''हाँ ठीक कहते हो। सुनो! आसाम के जंगल में जो लोग खेदा में हाथी पकड़ते हैं, वे कुनकी पोसते हैं। कुनकी जवान हथिनी को कहते है। वह कुनकी बाहर जाकर जंगली हाथियों को आकर्षित कर खेदा में फँसा लाती है जहाँ वे पकड़े जाते हैं। इसीलिए मैं कह रहा था कि इस स्त्री को यहाँ कुंज में रखने पर लोग कहेंगे, बूढ़े दामोदर दास ने अच्छा फंदा डाला है। एक सुन्दर युवती को देखकर यहाँ बड़े-बड़े सेठ और राजे-महाराजे आने लगेंगे।''

बाबाजी की बात सुनकर वह स्त्री बड़े करुण स्वर में कहने लगी, ''अगर मेरे यहाँ रहने में मेरा सौंदर्य बाधक बन रहा है तो मैं इसी क्षण इसे नष्ट किये दे रही हूँ। मैं सामने पड़ी जलती लुकाठी से अपना मुँह जला डालती हूँ। तब तो कोई मुँह घुमाकर भी मेरी ओर नहीं देखेगा न!''

''नहीं माई, यह नहीं हो सकता।''—बाबाजी के होठों पर हँसी की रेखा दिखायी पड़ी। ''तुमने क्या स्वयं अपने मुँह को गढ़ा है? तुमको तो प्रभु श्रीकृष्ण ने गढ़ा है। यह सौंदर्य भी उनका ही दिया है। इसको नष्ट करने का अधिकार तुम्हें नहीं है।''

''तब क्या होगा, बाबा?''—स्त्री असहाय-सी देखने लगी।

''उपाय है, माई। खूब सहज उपाय है, और वह तुम्हारे ही हाथ में है। यह देह, यह सौन्दर्य, जो कुछ भी है, सब-कुछ को श्रीकृष्ण को अर्पित कर दो। अपना कहने को कुछ भी न रहे। इसके लिए तुम राजी हो क्या?''

अकूल-अथाह में डूब रही स्त्री को कूल-किनारा मिल गया। वह बूढ़े बाबा दामोदर दासजी के चरणों पर लोट गयी। आँखों से आनन्द के आँसू बह निकले।

''माँ, तुमने बहुत दुःख उठाया है। जाओ, तुम अब प्रभु नटवरजी के आश्रय में आ गयी हो। अब से तुम्हें कोई चिन्ता नहीं, कोई भय नहीं। जब तक यहाँ रहो, तन-मन-प्राण से ठाकुरजी की सेवा करो। उसके बाद तुमसे असल

तपस्या शुरू कराऊँगा। तुमने ठीक ही कहा है, तुम पर नटवरजी की कृपा रही है। इसीलिए मैं स्वयं जाकर तुम्हें यहाँ बुला लाया हूँ।''

उस महिला का नाम था मालती दास। जाति से कायस्थ थी। बाबाजी महाराज के चरणों में बैठ कर वह अपने जीवन की कहानी कहने लगी। कहानी बड़ी ही करुण और हृदय-द्रावक थी।

मालती का जन्म एक साधारण, मध्यवित्त परिवार में हुआ था। अपनी विधवा माँ की वह एकमात्र संतान थी। वह असाधारण सुन्दर और लावण्यवती थी। देह का रंग कनकचम्पा की तरह स्वर्णाभ था। इसलिए किशोरावस्था में ही उसका विवाह कलकत्ता के एक धनी, प्रसिद्ध परिवार में हो गया। श्वशुर एक विदेशी व्यापारिक कम्पनी में ऊँचे पद पर काम करते थे। दो पुश्त में परिवार का व्यवसाय खूब फैल गया था। घर में अपार सम्पत्ति थी। राजमहल-जैसा मकान था, अनेक दास-दासियाँ थीं। कहीं कोई अभाव नहीं था। मालती का पति अपने माँ-बाप की एकलौती संतान था। रूप-गुण में भी कोई त्रुटि नहीं थी। विवाह के दो-तीन वर्षों बाद मालती के एक पुत्र हुआ। अपार धन-दौलत और मान-मर्यादा से परिपूर्ण मालती का जीवन आनन्दोल्लास से तरंगायित था।

लेकिन, दो वर्षों के बाद ही शहर में प्लेग का प्रकोप हुआ जिसमें मालती के श्वशुर की मृत्यु हो गयी। एक महीने के बाद उसका पति भी चल बसा। मालती का हँसी-खुशी का संसार लुट गया। दुर्भाग्य की एक फुफकार से उसके आनन्द की ज्योतिशिखा सदा के लिए बुझ गयी। चारों ओर अंधकार ही अंधकार छा गया।

गोद के शिशु को लिये हुए अकेले मालती पग-पग पर विपरीत परिस्थितियों से जूझने लगी।

मालती के मकान के बगल में एक और बड़ी हवेली थी जो उसके पति के चचेरे जेठ भाई की थी। वह व्यक्ति भी खूब सम्पत्तिशाली था। लेकिन वह कलकत्ता के धनी समाज में व्याप्त सभी पापाचारों में लिप्त रहता था। सुरा और सुन्दरी के पीछे पानी की तरह धन बहा रहा था। इस विलासी जीवन का जो परिणाम होना था, वही हुआ। वाणिज्य-व्यवसाय तो चौपट हुआ ही, उसका स्वास्थ्य भी जर्जर हो गया और अंततः तपेदिक की बीमारी हो गयी। ऊपर से, कर्ज का बोझ बढ़ता जा रहा था।

इतना-कुछ होने पर भी वह व्यक्ति अपनी आदत से लाचार था। उसकी कुदृष्टि सद्योविधवा मालती के रूप-यौवन और विपुल सम्पत्ति पर पड़ी और उन्हें वह अपने कब्जे में लाने का कुचक्र रचने लगा।

उसने सोचा कि उसके रास्ते का सबसे बड़ा काँटा मालती की गोद का बच्चा है जिसको किसी तरह से दूर किया जाय तो वह स्वयं मालती के धन का

उत्तराधिकारी बन जायगा। उसके बाद रूपवती विधवा मालती को अपनी मुटठी में करना कठिन नहीं होगा।

उसके घर की एक पुरानी दासी थी मानदा। वह तुरत अपने मालिक के कुचक्र में शामिल हो गयी और मालती के घर अपना आना-जाना बढ़ा लिया। मालती के छोटे लड़के को खूब गोद खेलाती, लाड़-प्यार करती।

मुहल्ले में मानदा बदनाम औरत समझी जाती थी। मालती के घर के दाई-नौकरों को उसका बार-बार आना अच्छा नहीं लगता था। उन लोगों को सन्देह हो रहा था कि मानदा की नीयत अच्छी नहीं है। फिर भी, मानदा का आना-जाना लगा ही रहा। और, जो होना था वह होकर ही रहा।

एक दिन की बात है, मानदा मालती के घर आयी। बच्चे को दिन-भर खेलाया, खूब लाड़-प्यार किया। शाम को खिला-पिला कर बच्चे को सुला दिया गया। अचानक रात को वह जग गया और जोर-जोर से रोने-चिल्लाने लगा। उसकी बेचैनी और छटपटाहट का कोई अन्त नहीं था। देखते-देखते उसका शरीर नीला पड़ गया। शहर के बड़े-बड़े डॉक्टर बुलाए गये। लेकिन किसी के किये कुछ बन नहीं पड़ा। बच्चे की मृत्यु हो गयी। डॉक्टरों ने बताया, इसे भोजन में विष दिया गया है।

बच्चे की हिम-शीतल मृत देह लिये मालती रोते-रोते बेहोश हो गयी। बच्चे का अंतिम संस्कार करके लोग घर लौटे, उस समय भी वह बेहोश ही पड़ी थी!

घर में राधा-माधव की मूर्ति थी जहाँ नित्य-प्रति पूजा होती थी। मूर्च्छा टूटने पर मालती पागल-सी दौड़ी-दौड़ी पूजा-घर में गयी और आर्तनाद करते हुए कहने लगी, "ठाकुर, मैंने कौन-सा पाप किया है जो तुम एक-एक कर मेरा सभी सहारा छीनते जा रहे हो?" पत्थर की देवमूर्ति ने कोई उत्तर नहीं दिया और बाण-विद्ध पक्षी की तरह मालती छटपटाती रही।

मालती के इस्टेट के मैनेजर और कर्मचारीगण कह रहे थे, बच्चे की मृत्यु के पीछे गहरा षड्यन्त्र है। उस घर के मालिक के इशारे पर ही मानदा ने बच्चे के भोजन में जहर मिलाया है। उन लोगों ने पुलिस को खबर भी दी, लेकिन पुलिस की छानबीन में ऐसा कोई प्रत्यक्षदर्शी गवाह नहीं मिला जिसने अपराधी को भोजन में जहर मिलाते देखा हो। इसलिए जाँच आगे नहीं बढ़ पायी।

दो-तीन महीने में मालती का पुत्रशोक बाहर-बाहर कुछ शांत हो गया, किन्तु भीतर-भीतर वेदना की अव्यक्त आँधी चलती रही। जीवन मरुभूमि की तरह ऊसर हो रहा था। वह चारों ओर से अपने को स्तब्ध शून्यता से घिरी पाती थी। केवल अपने इष्टदेव राधा-माधव के श्रीविग्रह की सेवा-पूजा की ओर ही

वह ध्यान देती और घर के बाकी काम-काज यंत्रचालित पुतली की तरह दास-दासियों से कराती चल रही थी।

किन्तु, दुर्दिन आने पर तो एक के बाद दूसरी विपत्ति आती ही रहती है। मालती के शोक-संतप्त जीवन में भी कुछ वैसा ही हुआ। पाप-परायण भैसुर (स्वर्गीय पति के बड़े भाई) ने उसे फँसाने के लिए लम्बा-चौड़ा जाल फैलाया। उस पापी को रूपवती मालती तो चाहिए ही, मालती की धन-सम्पत्ति भी चाहिए। उसने घूस देकर मालती के मैनेजर, कर्मचारियों और आत्मीय परिजनों को अपनी ओर मिला लिया।

वह मालती को तरह-तरह के प्रलोभन देने लगा। बार-बार उसका प्रस्ताव आता था—"तुम क्यों अपना रूप-यौवन, अपना इतना सारा वैभव इस तरह निष्फल किये जा रही हो? क्यों नहीं अपना सबकुछ मुझे सौंप कर सुखमय जीवन की ओर लौट आती हो? दिल खोल कर जीवन का आनन्द लो।"

यह सब सुनते-सुनते मालती क्रोध, घृणा और आशंका से अस्थिर हो गयी। अपनी रक्षा के लिए उसमें पर्याप्त आत्मबल था और वह संघर्ष करने का सामर्थ्य भी रखती थी। किन्तु वह कब तक जूझती रहेगी? घर के नौकरों और अमलाओं पर उसका विश्वास नहीं रह गया था। कोई ठिकाना नहीं था कि वे लोग कब विश्वासघात कर बैठें और पीठ में छुरा भोंक दें। इन सबके अलावा, सबसे बड़ी बात तो यही थी कि इस शक्तिनाशक संघर्ष का प्रयोजन ही क्या था? मालती सोचने लगी, इस संघर्ष में वह जीत भी गयी तो लाभ क्या होगा? किसको लेकर वह इतनी विपुल सम्पत्ति का भोग करेगी, और वह भी ऐसी जिंदगी में?

एक दिन पूजाघर में जाकर इष्टदेव राधा-माधव के चरणों में रो-रो कर मालती प्रार्थना करने लगी—"हे मेरे ठाकुर, इस दुःखिनी पर दया करो। मेरे दुःसह जीवन का अन्त कर दो और अपने चरणतल में आश्रय दो।"

रोते-रोते उसका देह-मन अवसन्न हो गया और पता नहीं चला कि कब वह वहीं जमीन पर गहरी नींद में सो गयी। स्वप्न में देखा कि कमरे को उद्भासित करते हुए ज्योतिर्मय मूर्त्ति से निकल कर राधा-माधव उसके सामने खड़े हैं और स्नेहपूर्ण स्वर में उससे कह रहे हैं—"क्यों इस तरह रो-रो कर प्राण दे रही हो? यहाँ रहती ही क्यों हो? मेरे धाम वृन्दावन में चली आओ। वहाँ तुम्हारे लिए हमने स्थान रख छोड़ा है। अपनी सारी चिन्ता और परेशानी हम पर छोड़ दो। देखोगी, तुमने कुछ भी खोया नहीं है। तुम्हारा सब-कुछ हमारे पास संचित-सुरक्षित है। जो हमको पाता है, वह सब कुछ पा जाता है।"

मालती की नींद उचट गयी और वह उठ बैठी। कहाँ है ठाकुर का वह ज्योतिर्मय प्रकाश? ठाकुर की इस प्रस्तर-मूर्त्ति में तो कोई भाव-विलक्षणता दिखलायी नहीं पड़ती है; वह तो पहले की तरह ही नीरव, निस्पन्द है एवं निष्पलक नेत्रों से पूर्ववत् देख रही है।

मालती के मन में तरह-तरह की बातें उठने लगीं। स्वप्न क्या हमेशा सच होता है? नहीं-नहीं, जो कुछ भी देखा है, वह मेरे ही मन का खेल है, मेरी ही चिन्ताकुल मानसिकता का प्रतिबिम्ब है। कौन है जो मेरी इस समस्या का समाधान कर देगा और सही रास्ता दिखलाएगा?

यह सब सोचते-विचारते कई दिन बीत गये। एक दिन रात में मालती गहरी नींद में पलंग पर सोयी थी। आधी रात का समय था। हठात् खिड़की से मिट्टी का ढेला आकर उसकी देह पर गिरा। नींद खुल गयी और बिस्तरे से उठ कर उसने बिजली-बत्ती जलायी। देखा, निकट ही मिट्टी का बड़ा-सा ढेला पड़ा है।

मालती सोचने लगी, बगल के घर में सोयी दासियों को जगावें या नहीं। घर के दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द हैं; भय का कोई कारण नहीं है। ढेला तो आया है बगल की गली में खुलनेवाली खिड़की से। वह उस खिड़की के पास आकर खड़ी हुई। खिड़की से जो-कुछ देखा, उससे वह विस्मित रह गयी। गली में मालती के मकान से सटे नीचा छतवाला एक मकान था। उस छत के किनारे एक जटाजूटधारी बूढ़े वैष्णव साधु खड़े थे। अँधेरी रात में भी उनके शरीर से निकलनेवाली ज्योति से आसपास की जगह उद्भासित हो रही थी। उनकी प्रसन्न दृष्टि में स्वर्गीय आनन्द की झलक थी।

मालती की ओर देखते हुए साधु बोले—"उस रात स्वप्न में तुमने जो कुछ देखा या सुना था, वह सब सच है। तुम्हारे ऊपर भगवान् की कृपादृष्टि है। तब फिर, इतनी चिन्ता-परेशानी क्यों है? मन का सब दुविधा-द्वन्द्व छोड़ दो, सब कुछ समेट लो और चली आओ वृन्दावन के लीलाधाम में। यों समय को बर्बाद न करो।"

मालती का सारा शरीर रोमांचित हो गया। अन्त में अनजाना-सा अनास्वादित आनन्द की लहर उसके मन में उठने लगी। वह आश्चर्य से उस साधुमूर्त्ति को देखती रही। साधु फिर हँसकर बोले, माई, तुम्हारे सोए हुए शरीर को जो स्पर्श कर गया है, वह मामूली मिट्टी का ढेला नहीं है, पवित्र ब्रज-रज का पिण्ड है। इसके स्पर्श-गुण और प्रभु श्री नटवरजी की कृपा से तुम्हारा शरीर शुद्ध हो गया। तुम महाभाग्यवती हो, स्वयं ठाकुर ने तुम्हारे लिए स्थान रख छोड़ा है। यहाँ बैठी-बैठी अभागिन का जीवन मत बिताओ। जल्दी ही यहाँ से निकल पड़ो।

इस अलौकिक दर्शन के बाद मालती ने दूसरे ही दिन भोर में अपने पुराने वकील श्रीचौधरी को बुला भेजा। कानूनी सलाह के मुताबिक एक ट्रस्ट का मसविदा तैयार किया गया, जिसमें मालती ने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी। विवाह के बाद पतिगृह में आने पर उसे एक लाख से भी अधिक मूल्य के हीरे-जवाहरात मिले थे। उन सबको भी उसने उस ट्रस्ट में डाल दिया। लेकिन, इन हीरे, जवाहरात को जौहरियों के हाथ बेचने की बात उठने पर वकील श्रीचौधरी ने कहा माँ, तुमने अपने लिए कुछ भी सम्पत्ति नहीं रखी अन्ततः यह स्त्रीधन ही अपने पास रहने दो। अपनी बीमारी आदि या किसी संकट में यह काम आ सकती है। मालती हँसकर बोली, मैं जिनके आश्रम में जा रही हूँ, उनके जैसा ऐश्वर्य किसी को नहीं है।

वह किसी धनी मठ का महंत है, क्या? श्रीचौधरी ने जिज्ञासा की।

''वह नारायण हैं जिनकी बगल में स्वयं लक्ष्मी स्वर्ण सिंहासन पर बैठी रहती हैं। उनके पास मैं किस लज्जा से ये अलंकारादि लेकर जाऊँ, आप ही बताइए? नहीं, नहीं, मुझे इन चीजों की कोई जरूरत नहीं है। इनकी बिक्री के रुपए देव-तहवील में जमाकर दीजिए।''—मालती ने अपने वकील को यह स्पष्ट निर्देश दिया।

सात दिन के अन्दर सारी-सारी व्यवस्था पूरी हो गई। उसके बाद श्रीराधा-माधव को प्रणाम करके वह सदा के लिए कलकत्ता से विदा हो चली। उसका गंतव्य वृन्दावन धाम था।

पश्चिम में उन दिनों बहुत ठंढ थी। सबके अनुरोध पर उसने अपने शरीर पर पश्मीने की चादर डाल ली। उसकी गाड़ी जब मथुरा पहुँचती है, उसके पास एक भी पैसा नहीं है। लेकिन यहाँ से मालती का भार लिया बाबा दामोदरदास और श्रीनटवरजी ने। कलकत्ता में ही ठाकुर ने उन्हें आश्वासन दिया था कि उसके लिए स्थान आरक्षित है वृन्दावन में। यह आश्वासन भी अक्षरशः सच हुआ। बाबाजी के आश्रम में उसे परम आश्रय प्राप्त हुआ है।

मालती ने अपनी सारी बात बाबाजी से कही और करुण दृष्टि से बाबाजी को देखने लगी।

मालती ने कहा, ''बाबा अब मैं क्या करूँ?'' बाबाजी बोले, ''जिसके लिए ठाकुर तुम्हें यहाँ लाए हैं, माई, तुम उसी काम में व्रती हो पड़ो।''

''समझाकर कहिए, आपका क्या निर्देश है?''

''जीवन के सभी सुख-दुख की बातें हैं, माई, उन्हें तुम्हें भूल-भूल जाना है और यह संभव होगा ठाकुर की सेवा-पूजा और आत्मसमर्पण के द्वारा। ठाकुर खुद ही वह सब सिखा देंगे। लेकिन, सावधान? श्रीनटवरजी खूब जाग्रत् हैं। वे जितने रसिक और दिलदार हैं उतने ही पत्थर जैसे कठोर भी। ब्रज की गोपियों

को लेकर जितना रास किया था, उतना ही उन्हें रूलाया भी। पांडव कुल और यदुकुल ने कितना दुःख भोगा।'' श्रीनटवरजी की सेवा-पूजा का सब भार बाबाजी ने मालती को सौंप दिया। उसे वैष्णव मंत्र की दीक्षा दी और वैष्णव वेश धारण करवाया। उसको नया नाम दिया—कुंजदासी। यही नवीन वैष्णवी कुंजदासी आगे चलकर ब्रजमण्डल के विहार-वन की साधिका सिद्धा परमेश्वरी बाई के नाम से विख्यात हुई।

बाबाजी ने कुंजदासी की दिनचर्या के प्रत्येक काम को कठोर नियमों की शृंखला में बाँध दिया। उसे विग्रह पूजा की छोटी-बड़ी सभी बातें समझा दीं, और उन सब कार्यों के साथ भगवान् का आठों पहर लीलास्मरण और ध्यान करने की निगूढ़ पद्धति भी सिखला दी।

श्रीविग्रह का सभी काम यमुनाजी के ही जल से होता था। इसलिए रात के पिछले पहर, जबकि चारों ओर कुछ अँधेरा ही रहता था, और आकाश में कुछ तारे झिलमिलाते रहते थे, कुंजदासी एक बड़े घड़े में यमुनाजी से जल भर-भर लाती थी।

पूजा-अर्चना के लिए आवश्यक वस्तुओं का जोगाड़ करना और भोग-राग की व्यवस्था करना भी उसका ही दायित्व था।

बाबाजी के कृष्णकुंज में भोजन के नाम पर एक तरह का कृच्छ्र ही चलता था। कुंज में दूध देने वाली गौएँ थीं जिनसे कुछ दूध मिल जाता था। भक्त गृहस्थों के घर से भी भेंट में पर्याप्त दूध आ जाता था। वह सब दूध श्रीविग्रह के भोग-राग के लिए खीर और मक्खन तैयार करने के काम आता था। भोग-प्रसाद की थोड़ी भी सामग्री कुंजवासियों को प्राप्त नहीं होती, सब कुछ निकटवर्ती साधुओं के अखाड़ों में भेज दी जाती।

विशेष अवसरों पर जब बाहर के एक-दो धनी भक्त बड़े पैमाने पर भोग का प्रबन्ध करते और प्रचुर मात्रा में दूध-दही और मिठाई लाते, तभी उन सबका कुछ अंश बाबाजी, उनके दोनों चेलों और कुंजदासी के उपयोग में आता था। लेकिन ऐसे ही दुर्लभ अवसरों को लेकर बाबाजी अपने दोनों चेलों—नंददास और मिट्ठू लाल की खूब गंजना किया करते थे। कहते, ''तुमलोग दूध-दही और खीर के लोभ से ही कुंज में पड़े हुए हो, दिन-रात मोटे होते जा रहे हो। तुमलोगों को कुंज से निकाले बिना मुझे चैन नहीं मिलेगा।''

बाबाजी की बात सुन कर दोनों चेले हँसने लगते। कहते, ''आपको धन में धन चार गायें हैं जिनमें दो तो बूढ़ी हैं। उन गौओं के लिए खड़बिचाली और चुन्नी-भूसा का इन्तजाम करने में हम लोगों का प्राणान्त ही हो रहा है। धनीमानी सेठों और राजाओं को आप कुंज के पास भी फटकने नहीं देते हैं। आपके दो-

एक विशेष भक्त हैं जो नटवरजी को कुछ भेंट चढ़ा जाते हैं और तभी हमलोगों को मंड-मिठाई का दर्शन होता है। इसके अलावा, हमलोगों के रोज-रोज के प्रयोजन के लिए यहाँ दूध-दही का क्या इंतजाम है? और, हमलोगों को इन वस्तुओं की कोई जरूरत भी नहीं है। केवल आपकी कृपा के लिए हमलोग यहाँ पड़े हैं। वह हमलोगों को अवश्य मिले, इसका ध्यान रखिएगा।''

बाबाजी मुँह घुमाकर चल देते और कृत्रिम क्रोध में बड़बड़ाते जाते, ''जितने बानर हैं, सब इसी कुंज में आ जुटे हैं। काम के समय किसी का कोई अंग नहीं हिलता। सब-के-सब बातों की फुलझड़ी छोड़ते रहते हैं।''

कुंजदासी मन-प्राण देकर बाबाजी द्वारा स्थापित श्रीविग्रह पूजा करती जाती थी। दिन-पर-दिन उसकी कृच्छ्रमय त्याग-वैराग्यमय वैष्णवी साधना चल रही थी। इस तरह से पाँच वर्ष बीत गये।

अब कुंजदासी के साधन-जीवन में कृष्णकृपा की ज्योतिश्छटा कुछ-कुछ दिखायी पड़ने लगी थी। उसके देह-मन-प्राण पर कृष्ण-भावना और सात्त्विक प्रेम-विकारों का अधिकार हो रहा था।

गुरु बाबा दामोदरदास ने एक दिन शिष्या को बुलाकर कहा, ''माँ, तुम्हारी साधना का आधार सुदृढ़ हो गया है। तुममें कृष्णकृपा का उदय भी दिखलायी पड़ रहा है। तुम्हें अब इस नटवर कुंज में रहने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हें अब ब्रजमण्डल के किसी एकान्त पवित्रवन में जाना होगा। जाने के पहले तुम्हें में संन्यास मंत्र की दीक्षा दूँगा। तत्पश्चात् तुम्हारी नये स्तर की साधना शुरू होगी।''

बाबाजी कुंजदासी के सब-कुछ थे—आश्रयदाता थे, स्नेहमय गुरु थे, पिता-तुल्य थे। अचानक उन्हें छोड़कर चले जाने की बात से उसे वज्राघात-सा लगा। विछोह की घड़ी बिल्कुल निकट है, यह जान कर वह रोने लगी। हाथ जोड़ कर गुरु से बोली, ''बाबा, जब मैं अतल गर्त में डूब रही थी तब तो तुमने मुझ पर कृपा की, मुझे बचा लिया और आश्रय दिया। अब तुम इस कंगालिनी को क्यों अपने से दूर हटा रहे हो? क्यों वनवास दे रहे हो। तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, मुझे यहाँ ही प्रभु नटवरजी और किशोरीजी की सेवा-पूजा में लगी रहने दो। प्रतिदिन अपने चरणों का दर्शन करने का सौभाग्य दो।''

बाबाजी ने उत्तर दिया, ''यह संभव नहीं है, माई। तुम कृष्ण-भावना में डूब रही हो। यह तुम्हारे शुभ संस्कारों का सुफल है। अब तुम्हें राधाकृष्ण के लीलामय संभोग-रस की साधना करनी है। इसके लिए और भी तीव्र वैराग्य चाहिए और बहुत दिनों तक एकान्त वनवास करना भी आवश्यक है। यह बड़ी कठिन साधना है, रे माई। मन में लेशमात्र भी आसक्ति या भोगेच्छा रहने पर उस दिव्य रस-संभोग का अधिकारी होना संभव नहीं है। इसलिए, किसी जनहीन

जंगल में जाकर तुम्हें तपस्या करनी होगी। यह प्रभु नटवरजी का आदेश है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। उन्होंने तो यह भी तय कर दिया है कि तुम किस जंगल में झोपड़ी बना कर रहोगी और सिद्धि-लाभ करोगी। लेकिन यहाँ से जाने के पहले तुम्हें मैं संन्यास-दीक्षा दूँगा।''

गुरु दामोदरदासजी ने शिष्या कुंजदासी को वैष्णव संन्यास की दीक्षा देकर उसका नया नामकरण किया 'परमेश्वरी दासी'। यह दीक्षा देकर गुरु बड़े आह्लादित थे। इस अवसर पर एक छोटा-मोटा भंडारा आयोजित करने का निश्चय किया।

बाबाजी का यह मनोभाव जानकर मथुरा के कई भक्त सेठों ने प्रचुर परिमाण में घी, चीनी, आटा भेज दिया। वृन्दावन के विभिन्न अखाड़ों के पुराने वैष्णव साधुओं को आमंत्रित किया गया। वे लोग आये और प्रेमपूर्वक भोजन करके संतुष्ट हुए।

संन्यासिनी शिष्या के कुंज से विदा होने के समय बाबाजी ने बता दिया कि उसे कहाँ जाकर तपस्या करनी है। वे बोले, ''माई, तुम विहार-वन में जाकर अपनी कुटिया बना लो। प्राचीन काल में वहाँ राधा-कृष्ण की विहार-स्थली थी। वह दुर्गम वन वृन्दावन से गोवर्धन जाने वाले रास्ते में पड़ता है। जरूरत हुई तो मैं साल में दो-एक बार वहाँ जाकर तुम्हें देख आऊँगा। लेकिन तुम अपनी तपस्या छोड़कर वन से बाहर कभी कहीं मत जाना।''

पास में ही खड़े नन्ददास ने पूछा, ''लेकिन बाबा, दीदी का भिक्षाटन कैसे चलेगा ?''

दामोदरदासजी ने उत्तर दिया, ''इस बात के लिए तुम अपना माथा मत घुमाओ। कृपालु प्रभु नटवरजी ने पहले से ही इसका प्रबन्ध कर रखा है।''

शिष्या परमेश्वरी को आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा, ''माँ, तुम्हें किसी बात की चिन्ता नहीं करनी है। विहार-वन से सटे ही रासगाँव है। वहाँ के लोग यथेष्ट सम्पन्न हैं। अच्छे, सज्जन लोग हैं। वहाँ मेरे कुछ भक्त भी रहते हैं। वे सब तुम्हारी देखभाल करेंगे।''

विहार-वन के भीतर एक तमाल गाछ के नीचे परमेश्वरी दासी ने सूखी लकड़ियों, लताओं और घास-पात से अपने लिए एक कुटिया बना ली। वहीं उसका पूजा-घर था, और उसी में उसके सोने की जगह भी थी। गुरु के निर्देशानुसार उसने कृच्छ्रमय जीवन और ध्यान-भजन की कठिन तपस्या शुरू कर दी। उसका सारा समय ध्यान, जप और भजन में बीतने लगा। दिन-भर निराहार रह कर साँझ में केवल एक बार कुछ भोजन कर लेती थी। भिक्षाटन के लिए वह कभी वन के बाहर नहीं जातीं। मानवहीन उस जंगल में आटा, मैदा और नून

आदि कहाँ मिलता? वन में जो थोड़े फल-मूल उपलब्ध होते, उन्हें वह चुन लाती और ठाकुर को भोग लगाती। भोग की प्रसादी ही उसका आहार था।

लेकिन, वहाँ जल की समस्या बड़ी कठिन थी। विहार-वन में कोई तालाब नहीं था, केवल एक पुराना कुआँ था जिसका पानी खारा था। उस पानी से किसी तरह स्नान कर लिया जा सकता था, लेकिन उसे पीना तो असंभव ही था। परमेश्वरी पानी को औंट कर किसी तरह पी लिया करती थी। दूसरा उपाय ही क्या था?

गुरु-कृपा से परमेश्वरी की वह समस्या भी एक दिन दूर हो गयी। उस दिन वह जंगल में फल-मूल चुन रही थी। वहाँ एक लकड़हारे से उसकी भेंट हुई। लकड़हारे का नाम था भीखनलाल।

भीखनलाल रोज जंगल में जाकर लकड़ी काटता और उसे बाजार में बेचकर अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करता। उस दिन लकड़ी काटते समय उसकी नजर गेरुआ-वस्त्रधारिणी अपरूप सुन्दरी संन्यासिनी परमेश्वरी पर पड़ी। वह चकित-विस्मित होकर सोचने लगा, 'यह कोई मानवी है या वन देवी है? ऐसा रूप, ऐसा दिव्य भाव तो कभी देखने में नहीं आया।'

आगे बढ़कर उसने संन्यासिनी को दण्ड-प्रणाम किया। आशीर्वाद देकर सरल भाव से परमेश्वरी उस लकड़हारे से बात करने लगी। बातचीत के दौरान भीखनलाल ने पूछा, "माई, इस गहन वन में रहकर तुम भगवान् का ध्यान-भजन करती हो, यह तो बड़ी अच्छी बात है। जंगल से फल-मूल चुनकर अपने भोजन का प्रबन्ध भी कर लेती हो। लेकिन, तुम्हें पीने का पानी कहाँ मिलता है? यहाँ कोई जलाशय तो है नहीं, केवल खारे पानी का एक कुआँ है। इस तरह से तुम कैसे जीवन धारण कर सकोगी?"

परमेश्वरी ने हँसते-हँसते उत्तर दिया, "बेटा, मैंने मनुष्य-समाज को छोड़ कर इस जंगल में भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का आश्रय लिया है। वे तो अन्धे नहीं हैं। वे निश्चय ही कोई प्रबन्ध करेंगे।"

भीखनलाल स्वयं बोल उठा, "चिन्ता की कोई बात नहीं, माँ। मैं हर रोज, जंगल में लकड़ी काटने आता हूँ। अबसे तुम्हारे लिए अपने गाँव से एक कलसी मीठा, अच्छा जल रोज ले आया करूँगा। इस पर कोई आपत्ति मत करना, माँ। मैं तुम्हारे पुत्र तुल्य हूँ।"

परमेश्वरी ने उसका प्रस्ताव मान लिया और भीखनलाल भी धीरे-धीरे उसका परम भक्त बन गया।

इसी बीच बाबा दामोदरदास ने रासगाँव के अपने भक्तों और परिचितों को परमेश्वरी दासी की खबर भेज दी थी। वे लोग परमेश्वरी की तपस्या-कुटी में

आने लगे और बीच-बीच में एक-दो सेर आटा, नमक रख जाते। इससे भगवान् के भोग और परमेश्वरी के आहार की समस्या बहुत कुछ मिट गयी।

गुरु महाराज भी बीच-बीच में अपनी शिष्या को देखने विहार-वन में आते थे। कभी तो वे किसी काम से आते और कभी शिष्या की तपस्याग्नि को किंचित् उकसा जाते। इस क्रम में वे उसे साधना की नवीन, निगूढ़ क्रियाएँ भी सिखलाते।

वे साल में कई बार पवित्र गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा के लिए निकलते थे। उस सिलसिले में भी तपस्यालीन परमेश्वरी को दर्शन दे जाते। गुरु का दर्शन पाकर वह आनन्द विह्वल हो जाती थी।

निर्जन वन में तपस्या करते हुए परमेश्वरी का दस वर्षों से भी कुछ अधिक समय कट चला था। एक दिन गुरु दामोदरदास अपने कुछ भक्तों और शिष्यों को साथ लिये उसकी तपस्या-कुटी में आए। उनके मुखमंडल पर दिव्य आनन्द का प्रकाश फैल रहा था।

उन्हें दण्डवत-प्रणाम कर परमेश्वरी जैसे ही खड़ी हुई, बाबाजी ने पूछा, ''क्यों री, कुशल है न? अपनी तपस्या की बात बताओ।''

हाथ जोड़ कर परमेश्वरी ने कहा, ''बाबा, आप अन्तर्यामी हैं, सब कुछ जानते हैं। आपकी कृपा से सब कुछ ठीक है, मैं बड़े आनन्द में हूँ।'' साधनासिद्ध उस वैष्णवी का सारा शरीर रोमांचित था, आँखों से पुलकाश्रु झड़ रहे थे।

''मैं जानता हूँ माँ! तुम प्रेम-सिद्धा हो गयी हो। तुम्हें राधा-कृष्ण के चिन्मय लीला-रस का आस्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब तुम्हारे मानस-लोक में श्री श्री नंदलाल और किशोरीजी की नित्यलीला के अनेक अन्तरंग, अनेक निगूढ़ स्तर प्रस्फुटित होंगे। उसके बाद लीलामय प्रभु तुम्हें आत्मसात् कर लेंगे।''

कुछ क्षण चुप रहने के बाद बाबाजी बोले, ''माँ, इस बार मुझे अंतिम विदा दो। मैं गिरि गोवर्धन जा रहा हूँ। यह मेरी अन्तिम परिक्रमा होगी। वहाँ से वृन्दावन लौट कर मैं श्री नटवरजी के चरण तल में अपने शरीर का यह खोल त्याग दूँगा।''

गुरु के मुख से चिर विछोह की बात सुनकर परमेश्वरी दासी शोक-विह्वल हो गयी। डकर-डकर कर रोने लगी और पछाड़ खाकर बाबाजी के चरणों पर गिर पड़ी।

कुछ देर बाद परमेश्वरी के थोड़ा शांत होने पर बाबाजी ने धीर स्वर से कहा, ''माँ, इतने दिनों तक इस घोर जंगल में मैं तुम्हारी रक्षा करता रहा हूँ। अब तुम्हें उसकी कोई जरूरत नहीं है। कठोर साधना के फलस्वरूप तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो गयी है और तुम्हारे भीतर प्रभु की नित्यलीला स्फुरित हो रही है। तुम अब

स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ हो। बल्कि, तुम्हारी शरण में जो भी भक्त और आश्रित आएँगे, उन लोगों की भी रक्षा तुम करोगी। अपने सिद्धिलाभ का मंगल प्रसाद समाज के लोगों को भी कुछ देना होता है।''

बाबा दामोदरदासजी सदलबल गोवर्धन की ओर चल दिये। विषादखिन्न परमेश्वरी निष्पलक नेत्रों से उनकी ओर देखती रहीं।

दस वर्षों से कठिन तपस्या करने वाली इस वैष्णवी साधिका का नाम आसपास के गाँवों में फैल गया था। वैष्णव साधु-संतों ने मान लिया था कि यह अत्यंत उच्च कोटि की साधिका हैं। ब्रज क्षेत्र के अनेक स्त्री-पुरुष भक्त उनके दर्शनों के लिए आने लगे थे। वे इन्हें बड़ी श्रद्धा और आदर से देखते थे। वे समझ रहे थे कि ये बड़ी शक्तिमती साधिका हैं, इनकी शरण में आने से कल्याण होगा। सुप्रसिद्ध महात्मा दामोदरदास ने भी घोषित कर दिया था कि ये साधना-सिद्ध साधिका हैं। इसलिए भी लोगों के मन में किसी प्रकार की दुविधा नहीं थी। वे इन्हें सिद्धा परमेश्वरी बाई कहने लगे थे।

कोई समस्या या संकट आने पर गाँवों के लोग इनके पास विहार-वन में दौड़े आते थे और इनका आशीर्वाद पाकर संतुष्ट लौटते थे।

सिद्धा बाई जंगल में अपनी खड़-पात की झोपड़ी में रहती थीं। इस छोटी-सी जगह में आगंतुक भक्तों को उठने-बैठने में असुविधा होती थी। इसलिए रासगाँव के लोगों ने वहाँ एक कुटी बना देना चाहा, लेकिन त्याग-तितिक्षा की जीवन्त मूर्त्ति सिद्धा बाई इसके लिए राजी नहीं हुईं। लोगों के बहुत आग्रह करने पर वे अपनी झोपड़ी के पास एक पर्णकुटी बनवाने के लिए किसी तरह राजी हुईं।

सिद्धा बाई ने असामान्य प्रेम-भक्ति और वैष्णवी सिद्धि प्राप्त की थी। उन्हें कृष्ण दर्शन का भी दुर्लभ सौभाग्य मिला था। फिर भी, उनका कृच्छ्र व्रत, ध्यान-भजन और जप-तप पूर्ववत् अनवरत चलता रहा। उनकी दिनचर्या नियम की कठिन जंजीर में बँधी थी। उसमें किसी तरह भी ढिलाई आने की गुंजाइश नहीं थी। गुरु बाबा दामोदरदास के आदेश से उन्होंने विहार-वन के निर्जन जंगल में कठोर तपस्या करने का व्रत लिया था। उस आदेश का वे अक्षरशः पालन करती थीं। वे तीस वर्ष की आयु में इस जंगल में आयी थीं और ३५ वर्षों तक वहाँ रहीं। इस लम्बी अवधि में विहार-वन के बाहर वे कभी कहीं नहीं गयीं। यहाँ तक कि वे भिक्षाटन के लिए भी नहीं निकलीं। गुरु ने उन्हें आकाशवृत्ति से जीवनयापन करने का आदेश दिया था। उस आदेश का उन्होंने आजीवन पालन किया।

सिद्धि की ख्याति फैल जाने के कारण उनके दर्शनार्थ रासगाँव, गोवर्धन, राधाकुण्ड और बरसाने से दल-के-दल भक्त और तीर्थयात्री आने लगे। निकट के

गाँव से आनेवाले भक्तों की भी संख्या कुछ कम नहीं थी। लेकिन दर्शनार्थीगण केवल दिन में ही उनसे मिलने आ सकते थे। साँझ होने के बाद उनकी भजन-कुटी के निकट आना सर्वथा वर्जित था। सिद्धा बाई ने अपनी कुटी के चारों ओर अपने हाथ से एक अभिमंत्रित लकीर खींच दी थी। भक्त और दर्शनार्थी लोगों को मालूम था कि उस मंत्रपूत रेखा के भीतर पाँव देना सब तरह से निषिद्ध है।

किसी कौतूहली भक्त ने एक दिन पूछा, "माई, अगर कोई आदमी तुम्हारी निषेधाज्ञा न मान कर इस रेखा को लाँघना चाहे तो क्या फल होगा?"

सिद्धा परमेश्वरी ने दृढ़ कंठ से कहा, "फलाफल की बात तो दूर की है, इस रेखा के अन्दर पाँव देना किसी भी मनुष्य के लिए संभव नहीं है, वह दुष्ट हो या कितना ही बड़ा तपस्वी भी क्यों न हो।"

सिद्धा बाई की भजन-निष्ठा और अलौकिक शक्ति की चर्चा धीरे-धीरे दूर-दूर तक फैल गयी थी। इसलिए सरल हृदय जाट कृषकों और ब्रज मण्डल की गोप-गोपिकाओं का उनके दर्शनार्थ आना-जाना लगा ही रहता था। वे सब कोई-न-कोई मनोकामना लिये आते थे और सिद्धा बाई उन्हें देखते ही उनके मन की बात समझ जाती थीं। कल्याणमयी माँ की तरह वे उनलोगों की मदद भी करती थीं। वैष्णव, अवैष्णव, सबको विश्वास हो चला था कि सिद्धा बाई की शरण में जाने पर उनका कष्ट अवश्य दूर हो जायेगा।

वृन्दावन और ब्रजमण्डल के साधु-संत भी सिद्धा बाई की महिमा को स्वीकार करते थे। गोवर्धन-परिक्रमा करने वाली साधु-मण्डलियाँ अवश्य ही दल बाँध कर विहार-वन में उनका दर्शन करने आतीं।

अपने व्यावहारिक जीवन में भी सिद्धा बाई इच्छा-आकांक्षा से ऊपर उठ गयी थीं। दर्शनार्थी भक्त लोग ढेर सारा फल-मूल और मिठाई भेंट में दे जाते थे। लेकिन वे तत्काल सभी वस्तुओं को दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषों में बाँट देती थीं। बाँटने का काम बाई के परमभक्त भीखन लाल का था। उसे बाई ने स्पष्ट आदेश दे रखा था कि वह कुछ भी संचय न करे और भजन-कुटी में तो कुछ रखे भी नहीं। इस कठोर नियम में किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं हुआ।

एक बार गोवर्धन-परिक्रमा करने वाले सैकड़ों दरिद्र तीर्थयात्री सिद्धा बाई का दर्शन करने आ गये। वे सब तेज धूप और थकावट से चूर हो रहे थे। बड़े भूखे भी थे।

उस समय सिद्धा बाई के कई विशिष्ट भक्त वहाँ थे। वे बड़ी चिन्ता में पड़े कि अभ्यागत दर्शनार्थियों के भोजन-पानी का क्या प्रबन्ध किया जाय। कुछ भक्तों ने कहा, "माई की इस पर्णकुटी में तो एक मुट्ठी आटा या फलमूल भी संचित नहीं रहता है। इसलिए इतने भूखे लोगों के भोजन की यहाँ क्या व्यवस्था हो

सकती है? इन लोगों को रासगाँव ले चलना चाहिए। वहाँ कई गृहस्थ माई के भक्त हैं। वहाँ इन लोगों के लिए भोजन की अच्छी व्यवस्था हो जायेगी।''

परमेश्वरी बाई ने उन लोगों की राय सुन कर कहा, ''बेटा, तुम लोग परेशान मत होओ। इन लोगों को पेड़ की छाया में विश्राम करने को कहो। ठाकुर नटवरजी इन लोगों के लिए अवश्य भोजन भेजेंगे।''

सिद्धा बाई की बात थोड़ी देर में ही सच सिद्ध हुई। मथुरा के एक सेठ उस दिन गोवर्धन-दर्शन के लिए आये थे। उन्हें स्वप्न में भगवान् का आदेश मिला, 'सिद्धा परमेश्वरी बाई मेरी अंतरंग भक्त है। उनका दर्शन कर अपना जीवन सार्थक करो। बाई के स्थान पर भंडारा भी करना।' भगवान् के इस आदेश पर सेठजी दो बैलगाड़ियों पर पूरी, लड्डू, पेड़ा वगैरह भोजन-सामग्री लाद कर विहार-वन में आये। माई के वास-स्थान पर जम कर भण्डारा हुआ। क्षुधार्त दर्शनर्थियों ने जी-भर भोजन किया। जो भक्तजन इन लोगों को रासगाँव ले जाकर भोजन कराने की बात कर रहे थे, उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा।

विख्यात बूढ़े साधु बाबा अनन्तदासजी ने परवर्त्ती काल में आकर सिद्धा परमेश्वरी बाई की छोड़ी हुई कुटिया में बहुत दिनों तक तपस्या की थी। उनके मुँह से अनेक तीर्थयात्रियों ने बाई की साधना-सिद्धि की बहुत सारी कहानियाँ सुनी थीं। विद्धान् लेखक डॉ॰ विमानबिहारी मजुमदार ने बाबा अनन्तदासजी से सुनी एक आश्चर्यजनक घटना का विवरण दिया है।[१]

''एक बार एक ब्रजवासी सज्जन परमेश्वरी बाई का दर्शन करने आये। दर्शन करने के बाद वे जब भी लौट जाने के लिए तत्पर होते, बाई उनसे कुछ देर और रुकने का अनुरोध करतीं। इस तरह देर तक वहाँ रुके रहने के बाद वे सज्जन यह कहकर कि एक जरूरी काम है, इसलिए और अधिक देर तक रुकना ठीक नहीं होगा, चल दिये।''

''वे कुछ ही दूर गये होंगे कि रास्ते में एक विषधर सर्प ने काट लिया और वे चीत्कार कर गिर पड़े। साथ के लोग उन्हें उठा-पठाकर बाई के निकट ले आये। बाई ने उदास हँसी हँसते हुए कहा, ''मैं तो स्पष्ट देख रही थी कि ये किसी गम्भीर दुर्घटना में पड़ने वाले हैं। इसीलिए, मैं उन्हें यहाँ से जाने से रोक रही थी लेकिन दैव की गति प्रबल है; उसे कौन रोक सकता है?''

''उन सज्जन की प्राण-रक्षा के लिए उनके संगी-साथी बड़े व्यग्र थे। बाई ने अपनी धूनी से थोड़ी भस्म लेकर उनके शरीर पर मल दिया और थोड़ी देर में वे विषमुक्त होकर उठ बैठे।''

---

१. सिद्धा परमेश्वरी बाई, उज्जीवन, वैशाख, १३७८ (बंगाब्द)।

रासगाँव के सुदामा चौधरी एक सम्पन्न जमींदार थे। प्रचुर धन-सम्पत्ति रहने पर भी उनकी स्त्री के मन में बड़ा दुःख था कि उनके कोई सन्तान नहीं है। स्त्री की उम्र भी पचास वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। चौधरी अनेक साधु-सन्तों के पास गये, अनेक तीर्थों की यात्रा की। उनकी स्त्री ने भी अनेक व्रत-उपवास किये। किन्तु उनकी संतान-कामना पूरी नहीं हुई।

उस इलाके के अनेक लोग सिद्धा बाई की कृपा से संकटमुक्त हुए थे। सब लोग जानते थे कि बाई को प्रभु राधाकृष्ण की कृपा प्राप्त है और वे वाक्‌सिद्धा तपस्विनी हैं। सब तरफ से निराश होकर चौधरी भी अपनी पत्नी के साथ सिद्धा बाई की शरण में आये।

उन्हें प्रणाम कर चौधरी बोले, ''माई, तुम्हारी कृपा से बहुतों के दुख दूर हुए हैं। मुझ दुखी जन पर भी अपनी कृपा-दृष्टि फेरो। सारा जीवन कष्ट सह कर मैंने विशेष सम्पत्ति अर्जित की है, लेकिन उसका उपभोग कौन करेगा? दूसरे, हम लोगों की काफी उम्र हो गयी है। कोई पुत्र नहीं है जो हमलोगों को मरने पर मुखाग्नि और पिंडदान देकर हमारा उद्धार करे। हमें आशीर्वाद दो, माँ, कि हमारे एक पुत्र होवे।''

उन लोगों से बात करने पर सिद्धा बाई को ज्ञात हुआ कि चौधरी की स्त्री की आयु पचास के पार हो गयी है। उन्होंने कहा, ''देख रही हूँ, इस माँ की उम्र बहुत हो गयी है। इस उम्र में सन्तान होने की आशा नहीं देख रही हूँ।''

चौधरी की स्त्री ने बड़े कातर स्वर में कहा, ''माई, हमलोग तुम्हारी शरण में आये हैं। हम लोगों पर कृपा करो।''

सिद्धा बाई किंचित् कठोर स्वर में बोलीं, ''तुम लोगों ने कभी सोचा भी है कि जीवन में तुम लोगों ने कितना पाप किया है? तुम लोगों ने जोर-जुल्म करके छलबल से गरीब लोगों की जमीन हड़प ली है; उनके घर पर कब्जा कर लिया है। उसके ऊपर से कड़ा सूद लेकर उन लोगों का खून चूस-चूस कर धन इकट्ठा कर लिया है। ऐसे पापी घर में कृष्णजी और राधारानीजी सन्तान क्यों भेजेंगे?''

चौधरी और उनकी पत्नी सिद्धा बाई के चरणों पर गिर कर कृपा की भीख माँगने लगे। उनकी रुलाई से द्रवित होकर माई ने कहा, ''सुनो चौधरी, तुम्हारी तरह तुम्हारी पत्नी दुष्ट नहीं है। उसमें कुछ भक्तिभाव है, पूजा-अर्चना भी करती है। उसको ही देखकर मैं तुम्हारी मनोकामना पूरी करती हूँ। जाओ, तुम्हारे एक पुत्र होगा, लेकिन तुम्हें वचन देना पड़ेगा कि तुम अबसे गरीबों पर जोर-जुल्म नहीं करोगे और पापाचार की ओर पाँव नहीं बढ़ाओगे।''

चौधरी ने विनीत होकर कहा, ''माई, मैं अब पापकर्म में लिप्त नहीं होऊँगा। माँ की कृपा मुझ पर बनी रहे।''

सिद्धा बाई ने अपनी धूनी में से थोड़ी भस्म लेकर चौधरी-पत्नी को खाने के लिए दिया और चौधरी से कड़े शब्दों में कहा, ''चौधरी, कृष्णजी की कृपा से तुम्हारे एक पुत्र होगा और सात्त्विक स्वभाव का होगा। लेकिन मैं तुम्हें सावधान किये देती हूँ कि अगर तुमने अबसे पापाचार किया तो वह लड़का बचेगा नहीं। पापी के घर में मोटी साँस चलती है जिसे वह सात्त्विक स्वभाव वाला बालक सहन नहीं कर सकेगा। किसी बीमारी का बहाना लेकर वह देहत्याग कर देगा।''

माई का आशीर्वाद पाकर चौधरी प्रसन्नचित्त पत्नी के साथ घर लौट आये। उन्होंने गाँव के लोगों से माई की कृपा की बात कही। पड़ोसियों को विश्वास नहीं हुआ। वे लोग हँसने लगे ''इस उम्र में भी क्या सन्तान होती है ? लेकिन जो हो, चौधरी की स्त्री बड़ी भली है; संतान की आशा में उसका मन आनन्दित तो रहेगा।''

लेकिन, करीब एक साल के बाद ही चौधरी की स्त्री ने एक सुन्दर, सुलक्षणयुक्त पुत्र को जन्म दिया।

विलियम फॉकनर नामक एक तरुण अंगरेज मथुरा घूमने आया। वह मथुरा के मजिस्ट्रेट का अतिथि था। उसे मन्दिरों-मूर्तियों की कला-कृतियाँ और लकड़ी की कारीगरी के काम देखने का शौक था। चिड़ियों का शिकार करने का भी नशा था।

मथुरा के मन्दिरों को देखने के बाद एक दिन वह गोवर्धन की ओर जा रहा था। तम्बू और भोजन-सामग्रियाँ लिये कुली लोग आगे-आगे चल रहे थे। रास्ते में घना जंगल देख कर साहब को शिकार खेलने का शौक जग पड़ा।

रासगाँव के सीमाने पर तम्बू गाड़ दिया गया। पास में ही विहारवन का घना जंगल था।

दूसरे दिन फॉकनर साहब दो भारतीय शिकारियों को साथ लेकर शिकार की खोज में निकला। रासगाँव के कुछ लोग कुतूहलवश उसके पीछे-पीछे चले।

गहन वन में घुसने पर सिद्धा बाई की पर्णकुटी दिखायी पड़ी। उन दिनों पास-पड़ोस में एक प्रथा-सी चल पड़ी थी कि जब भी लोग सिद्धा बाई की कुटिया के नजदीक से निकलते, वे बड़े जोर में चिल्लाते 'सिद्धा परमेश्वरी बाई की जय!' उन लोगों का विश्वास था कि बाई के कानों में जयकार की आवाज जाने के बाद रास्ते के साँप और जंगली जानवर स्वतः हट जायँगे। वैसी कोई आपद्-विपद् उपस्थित हुई भी तो माई रक्षा करेंगी।

सिद्धा बाई की कुटिया के निकट पहुँचकर फॉकनर साहब के पीछे-पीछे चलने वाले स्थानीय लोगों ने बाई की जयध्वनि की। आवाज सुन कर साहब ने कुतूहलवश पूछा, ''यह क्या बात है।''

लोगों ने उत्तर दिया "यहाँ हमलोगों की सिद्धा माताजी रहती हैं। वे दिन-रात भगवद्-भजन और साधना में लीन रहती हैं। उनको अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। उनकी जयकार करते हुए हमलोग निर्भय होकर इस जंगल में प्रवेश करते हैं।"

साहब ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा; "तुम लोगों की यह महिला साधु कहाँ हैं? उनके सिर पर तो जटा होगी और वे बहुत बूढ़ी भी होंगी?"

उनलोगों की बात चल ही रही थी कि सिद्धा बाई पर्णकुटी का दरवाजा खोल कर बाहर आँगन में चली आयीं। गाँववालों ने हाथ जोड़ कर बड़े भक्तिभाव से उन्हें प्रणाम किया। फॉकनर साहब विस्मय से अवाक् होकर उन्हें एकटक देखने लगा। यह तपस्विनी बूढ़ी नहीं है बल्कि तरुणी है। केवल तरुणी ही नहीं, रूपवती भी है। कच्चे सोने की तरह चम्पक-वर्ण है। गेरुआ वस्त्र से शरीर ढँका है लेकिन सौन्दर्य का प्रकाश फूटा पड़ रहा है। मुखमंडल पर अपूर्व आनन्द की ज्योति छिटक रही है। इतनी आकर्षक रूपछटा थी कि साहब टकटकी लगाये देखता रह गया।

आँगन से कुछ आगे आकर सिद्धा बाई ने शान्त-मधुर स्वर में गाँववालों से पूछा, "बेटा, तुमलोग इतना शोरगुल करते हुए कहा जा रहे हो?"

"माई, ये साहब और उनके साथी मथुरा से आये हैं। ये लोग विहार-वन में चिड़ियों का शिकार करेंगे। देखो न! इनके हाथ में बन्दूक है।"—गाँव के एक परिचित व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"बेटा, तुमलोग बता सकते हो कि ये लोग निर्दोष पक्षियों को मारेंगे क्यों? यहाँ यह सब खून-खराबा ठीक नहीं।"—शांतभाव से इतना कह कर सिद्धा बाई अपनी कुटियाँ में चली गयीं।

सिद्धा बाई के रूप को देखकर फॉकनर साहब विमुग्ध था। गाँव के लोगों से उनकी जो बात हुई, उसकी ओर उसने ध्यान ही नहीं दिया। बल्कि, साथ चलने वाले लोगों से सिद्धा बाई की महिमा सुनकर वह हो-हो कर हँसने लगा। कहा, "अरे, चलो, मेरे साथ आओ। बेकार बातों में समय क्यों बर्बाद करते हो?"

सब लोग शिकार करने के इरादे से जंगल में घुसे। लेकिन यह कैसा आश्चर्य? जो जंगल चिड़ियों के कलरव से मुखर रहता था, आज बिलकुल शांत, नीरव था। कहीं कोई चिड़िया नजर नहीं आयी। क्या शिकारियों को चकमा देकर वे सब जुट बाँध कर अन्यत्र चली गयी हैं?

निराश होकर सब लोग लौट चले। सिद्धा बाई की कुटिया के निकट पहुँच कर गाँववालों ने पुनः जयजयकार किया। बाई ने बाहर आकर पूछा, "क्यों रे, तुम लोगों को कोई शिकार मिला या नहीं?"

''नहीं माई! शिकार कहाँ? सभी चिड़ियाँ वन छोड़ कर भाग गयी हैं।''

''हाँ, यह तो होना ही था। यह प्रेम का स्थान है। यहाँ खूनखराबा का खेल नहीं चलने का। मैंने तो सभी चिड़ियों को खबर दे दी है।''—माई ने बताया।

तीसरे पहर शिकारी लोग फिर वन में आये। लेकिन उन्हें फिर निराशा ही हाथ लगीं। चिड़ियों का कहीं कोई पता नहीं था। लगता था, वे सब आपस में राय-मशविरा कर जंगल से चली गयीं।

विलियम फोकनर क्षुब्ध मन लिये अपने कैम्प रासगाँव में लौट आया। एकान्त में बैठा-बैठा वह सोचने लगा, 'चिड़ियों का शिकार नहीं हुआ, कोई बात नहीं। लेकिन दूसरा शिकार तो जैसे भी हो, फँसाना ही है।' वह एकान्तवासिनी सिद्धा बाई के रूपाकर्षण से पागल हो रहा था।

रात में भोजनोपरांत उसने गाँव के मुखिया को बुलवाया और धीरे-से उसके कान में कहा कि वह वनवासिनी रमणी उसे चाहिए ही। ''आज रात में उस औरत को कैम्प में ले आओ। उसे कुछ रुपया दे देना। उसका कोई मर्द हो तो उसे भी कुछ रुपया दे दो। जैसे भी हो, उसको ले आना है।''

मुखिया विस्मय-विमूढ़ रह गया। बोला, ''साहब, आप यह क्या बकवास कर रहे हैं? सिद्धा बाई खानदानी तपस्विनी हैं। वे संन्यासिनी हैं। उनके लिए रुपया-पैसा और जीवन का सुख-भोग, सब-कुछ तुच्छ है।''

फॉकनर क्रोध से आगबबूला हो गया, ''तुम क्या कहना चाहते हो? ऐसी सुन्दर स्त्री वन में अकेले रहती है और उसका कोई प्रेमी नहीं है?''

''साहब, आप बात नहीं समझ रहे हैं। वे सचमुच संन्यासिनी हैं। वे भगवान् की प्राप्ति के लिए जंगल में वैराग्य और जप-ध्यान में तल्लीन रहती हैं।''

''डैम नन्सेन्स! तुमलोग फाँकी दे रहे हो। मुझे वह औरत चाहिए। मैं खुद उसकी कुटिया में जाता हूँ।'' फॉकनर साहब उत्तेजनावश फों-फों कर रहा था।

उसने एक हाथ में राइफल ली और दूसरे में लालटेन। जूता ठक-ठक करता हुआ विहार-वन की ओर चल पड़ा। गाँव के मुखिया ने उसे सतर्क करते हुए कहा, ''आप जा रहे हैं तो जाइए। लेकिन याद रखिए, साँझ के बाद सिद्धा बाई की कुटिया के चारों ओर पड़ी अभिमंत्रित रेखा को लाँघ कर कोई आदमी अन्दर नहीं जा सकता। आदमी और जानवर की बात तो दूर रही, एक मच्छर भी अन्दर नहीं घुस सकता।''

लेकिन साहब इस चेतावनी को अनसुनी कर आगे बढ़ता ही गया। कामोत्तेजना से उसकी अक्ल मारी गयी थी, भले-बुरे का विचार नष्ट हो गया था।

सिद्धा बाई की कुटिया के पास पहुँच कर वह क्षण-भर के लिए रुका और कुटिया के आँगन की ओर जैसे ही उसने पाँव बढ़ाया, किसी अदृश्य शक्ति ने उसके कलेजे पर इतने जोर से आघात किया कि वह दूर जा गिरा।

किसी तरह से अपने को सँभाल कर फॉकनर उठ खड़ा हुआ और फिर कुटिया के आँगन में जाने लगा। दो-चार डग आगे बढ़ा होगा कि उसके सामने एक भयंकर महाबलिष्ठ पुरुष प्रकट हुआ और उसे उठाकर बहुत दूर फेंक दिया। फॉकनर गिर कर बेहोश हो गया।

बहुत रात बीत चुकी थी। फॉकनर अपने कैम्प में नहीं लौटा था। उसके साथ मथुरा से जो दो-चार लोग आये थे, कहने लगे, साहब अभी तक नहीं लौटे हैं; वे कह गये थे कि दो-तीन घंटे में लौट आयेंगे। आधी रात बीत गयी और वे वापस नहीं आये हैं। कहीं वे वन में रास्ता भूल कर भटक तो नहीं गये? या, उन्हें वन में किसी विषधर सर्प ने तो नहीं काट लिया?

वे लोग साथ में दो-तीन आदमी लेकर लालटेन लिये फॉकनर को खोजने निकले। विहार-वन में कुछ आगे बढ़ने पर उन लोगों ने देखा कि साहब एक वटवृक्ष के नीचे बेहोश पड़ा हुआ है। चेहरा विवर्ण है और मुँह से फेन निकल रहा है।

उसे उठा-पठा कर लोग कैम्प में ले आये। सेवा-शुश्रूषा कर उसे होश में लाया गया। कुछ दवाएँ दी गयीं और गरम दूध पिलाया गया।

दूसरे दिन फॉकनर ने गाँव के मुखिया को बुलवाया। मुखिया की पीठ ठोकते हुए वह बोला, ''गुड मैन, तुमने ठीक ही कहा था। बाई खूब 'पॉवरफुल' है, साक्षात् माँ मरियम है। तुम मेरे साथ चलो, मैं माई से मिलूँगा, उनका आदर-सम्मान करूँगा और माफी माँगूँगा।''

साहब के मुँह से रात की सारी घटना सुन कर मुखिया ने कहा, ''साहब, आप अपने माता-पिता के पुण्य-प्रताप से और अपने सौभाग्य से बच गये। हमलोग जानते हैं कि रात में कोई भी व्यक्ति माई की कुटिया को घेरनेवाली मंत्रपूत रेखा को लाँघ नहीं सकता है।''

उन लोगों के वहाँ पहुँचने पर सिद्धा बाई कुटिया के बाहर आयीं। साहब ने अपनी टोपी सिर से हटाकर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में माई से बात करने लगा। ''माताजी, मैं अपने आचरण के लिए बहुत लज्जित हूँ और दु:खित हूँ। आप मुझे क्षमा कीजिए।''

सिद्धा बाई ने उत्तर दिया, ''मैंने तो तुम्हें पहले ही माफ कर दिया था, नहीं तो मेरी अभिमंत्रित रेखा को पार करने पर तुम जीवित कैसे बचते? सांसारिक लोग तो अनेक प्रकार की भूल करते ही हैं। वन में वास करनेवाले हमलोगों का काम ही है उनलोगों की भूल सुधारना।''

''मैं बहुत कृतज्ञ हूँ कि आपने मेरा भूल-सुधार किया।''

''साहब, मैं, जैसे और सब लोगों के कल्याण की कामना करती हूँ, वैसे तुम्हारे लिए भी करती हूँ। लेकिन तुमसे एक बात कहती हूँ। तुम विदेश से आये

हो; तुम्हें यहाँ की बातें मालूम नहीं हैं। तुमने यहाँ राह बाट में, जंगल में अनेक साधु-सन्तों को देखा होगा। किन्तु उनमें जो सिद्ध या सिद्धा हैं, उनका अपमान मत करना, नहीं तो विपत्ति में पड़ जाओगे।''

साहब ने फिर टोपी उतार कर माई के प्रति सम्मान दिखलाया और वहाँ से विदा हुआ।

किसी दूसरे दिन की बात है। खड़ी दुपहरी का समय था। सिद्धा परमेश्वरी बाई भगवान् को भोग लगा कर, स्वयं कुछ प्रसादी ग्रहण कर कुटिया में विश्राम कर रही थीं। उसी समय कृटिया के आँगन में दो बलिष्ठ आदमी आये। उनलोगों ने बड़े जोर से हाँक लगायी, ''सिद्धा परमेश्वरी बाई की जय।''

साहब ने फिर टोपी उतार कर माई के प्रति सम्मान दिखलाया और वहाँ से विदा हुआ।

किसी दूसरे दिन की बात है। खड़ी दुपहरी का समय था। सिद्धा परमेश्वरी बाई भगवान को भोग लगा कर, स्वयं कुछ प्रसादी ग्रहण कर कुटिया में विश्राम कर रही थीं। उसी समय कुटिया के आँगन में दो बलिष्ठ आदमी आये। उनलोगों ने बड़े जोर से हाँक लगायी, ''सिद्धा परमेश्वरी बाई की जय।''

आवाज सुनकर माई बाहर आयीं और बोलीं, ''क्यों रे, तुम लोग इस असमय में क्यों आये हो? तुम्हारे हाथ में यह सब क्या है?''

हाथ की टाँगी और गैंता ऊपर उठाते हुए उनमें से एक व्यक्ति बोला, ''माई, आज हमलोग तुम्हारे यहाँ डकैती करने आये हैं।''

''तो इस दोपहर में क्यों? चोरी-डकैती तो रात में की जाती है।''

''नहीं माई! हमलोग जानते हैं कि रात में तुम्हारी कुटिया का मंत्र पढ़ा हुआ घेरा कोई नहीं लाँघ सकता है। सबको मालूम है कि उस रात घेरे के अन्दर जाने की कोशिश करने पर शिकारी साहब की क्या दशा हुई थी। इसीलिए तो हमलोग दोपहर में आये हैं।''

''लेकिन, मैं कंगाल वैष्णवी हूँ। यहाँ तुमलोग किस अक्ल से आये हो? यहाँ क्या मिलेगा?''

''कुछ तो मिलेगा ही, माई! हमलोग तुमको कोई कष्ट नहीं देंगे। केवल कुटिया में घुसकर देखेंगे कि क्या कुछ मिलता है। हमलोग टाँगी-गैंते से कुटिया का फर्श और भीत कोड़ कर देखेंगे। तुम्हारे यहाँ बड़े-बड़े सेठ-साहूकार और धनी गृहस्थ आते हैं; मिठाई, वस्त्र और रुपया-पैसा भेंट चढ़ाते हैं। ऐसा तो हो नहीं सकता कि तुम्हारे घर में कुछ भी छिपा कर नहीं रखा हुआ हो। यहाँ जो कुछ मिलेगा, हमलोग उठा कर ले जाएँगे। हमलोग बड़े गरीब हैं, माई। इसलिए चोरी-डकैती जैसा पापकर्म करते हैं।''

सिद्धा बाई कुछ क्रोधित होकर बोलीं, ''तुमलोग क्या जानते नहीं कि जो कुछ भेंट में आता है, सब-का-सब मैं गरीबों में बाँट देती हूँ? तब फिर क्यों मुझे परेशान करने आये हो? इसका फल तुम्हें हाथों-हाथ मिलेगा।''

लेकिन दोनों डकैत कुछ भी मानने को तैयार नहीं थे। बोले, ''तुम जो भी कहो, हमलोग तो घर में घुस कर देखेंगे ही।''

''मैं कह रही हूँ, यहाँ गुण्डई-डकैती करने से तुमलोग घोर विपत्ति में पड़ोगे।''

वे लोग ज्यों हीं कुटिया में घुसने के लिए आगे बढ़े, सिद्धा बाई तेजी से अपने आसन पर आयीं और धूनी से थोड़ी भस्म लेकर उन लोगों के मुँह पर फेंक दिया। फिर क्या था, दोनों डकैत चीत्कार करने लगे ''माई, तुमने यह क्या किया? हमलोगों की तो आँखें जल रही हैं, कुछ भी नहीं दिखायी पड़ रहा है; हमलोग अन्धे हो गये हैं। हमलोग तुम्हारे पैरों पड़ते हैं; हमारी रक्षा करो।''

बाई ने शान्त स्वर से कहा, ''तो ठीक है, आकर हमारी धूनी के सामने बैठो और प्रतिज्ञा करो कि इस इलाके में फिर कभी किसी साधु-सन्त या सद्‌गृहस्थ को तुमलोग कष्ट नहीं दोगे और उनलोगों के घर चोरी-डकैती नहीं करोगे।''

''हाँ भाई, हमलोग वचन देते हैं। दुहाई है। हमलोगों की रक्षा करो!''—कह कर वे लोग सिद्धा बाई के चरणों पर गिर पड़े और व्याकुलतर होकर लौटने लगे। आँखों की जलन से वे छटपट कर रहे थे।

सिद्धा बाई ने अपनी धूनी से थोड़ी भस्म लेकर दोनों के सिर, मुँह और आँखों पर छींट दिया। बोलीं, ''जाओ, तुमलोग अब अच्छे हो गये। लेकिन, जो वचन दिया है, उसे बराबर याद रखना।''

दोनों डकैतों की आँखों की ज्वाला शान्त हो गयी और बाई को प्रणाम कर वे वहाँ से चलते बने।

रासगाँव के लोगों ने बताया कि उस दिन की घटना के बाद वे डकैत बहुत-कुछ सुधर गये। उनलोगों का उपद्रव बहुत कम हो गया।

सिद्धा बाई के विहार-वन में आकर दस वर्षों तक तपस्या करने के बाद उनके गुरु दामोदर दास बाबाजी का देहान्त हुआ। इन दस वर्षों के दरमियान कई बार बाबाजी वृन्दावन से गोवर्धन आये और अपनी प्रिय शिष्या परमेश्वरी को वैष्णवी रस-साधना की निगूढ़ क्रियाएँ सिखला गये।

जिस दिन बाबाजी को शरीर त्याग करना था, वे गम्भीर रात में अपने सूक्ष्म, दिव्य ज्योतिर्मय शरीर में परमेश्वरी बाई के समक्ष प्रकट हुए। उन्होंने कहा, ''माई, मेरे शरीर का प्रयोजन पूरा हो गया है। इसे त्याग कर मैं दिव्यलोक में जा रहा हूँ। प्रभु श्री श्री नटवरजी के आदेश पर मैं तुम्हें यहाँ खींच लाया था और उनके निर्देशानुसार

तुम्हारी यह तपस्या-स्थली तैयार की गयी थी। अब तुममें अन्तरंग वैष्णवीय साधना-सिद्धि और लीलादर्शन का प्रस्फुटन हो रहा है। लेकिन, तुम्हें और भी गम्भीर स्तर पर जाना है। मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हारा साधन-जीवन सार्थक हो।''

गुरु महाराज के तिरोधन के बाद सिद्धा बाई करीब ३० वर्षों तक विहार-वन में साधना करती रहीं। वे राधाकृष्ण के दिव्य लीलादर्शन की गम्भीरतम गहराई में क्रमशः उतरती चली गयीं।

तीस वर्षों की इस एकान्त साधना-सिद्धि के बाद बाई के जीवन का लोक-कल्याण पर्व आरम्भ हुआ। ब्रजमंडल के पुराने तपस्वियों से मालूम हुआ है कि उस समय कई वैष्णव साधु बाई से वैष्णवी साधना की निगूढ़ प्रक्रियाएँ सीख गये और उनलोगों की साधना सार्थक हुई।

तत्पश्चात् १९१० ई० के अन्त में, सिद्धा बाई के शरीर-त्याग का समय आया। उनके मुँह से शरीर-त्याग के मुहूर्त की बात सुनकर अन्तरंग शिष्य और भक्त लोग बड़े व्याकुल हो गये। रासगाँव और अन्य निकटवर्ती गाँवों से दल-के-दल अगणित स्त्री-पुरुष दर्शनार्थ आने लगे। सारा विहार-वन राधेश्याम और सिद्धा बाई की जयध्वनि से गूँज उठा।

गुरु द्वारा दिये गये आसन पर बैठ कर गुरुप्रदत्त नामजप करते हुए इन महान् साधिका ने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

आज विहार-वन की वह दुर्गमता और निर्जनता नहीं रही। तपस्या के अनुकूल वहाँ का परिवेश भी नहीं रहा। लेकिन, सिद्धा बाई की उस तपस्या-स्थली को आज भी लोग आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। उस तरफ होकर आने-जाने वाले लोग भक्तिभाव से 'सिद्धा बाई की जय' बोल कर उनके आशीर्वाद की कामना करते हैं। गोवर्धन अंचल में तपस्या करनेवाले पुराने वैष्णव सन्तजन सिद्धा बाई की याद कर भाव-पुलकित हो जाते हैं और श्रद्धा-भाव से उनके माहात्म्य की चर्चा करते हैं।[१]

—प्रमथनाथ भट्टाचार्य के सौजन्य से

●

---

१. सुनने में आता है कि गोवर्धन के प्रसिद्ध साधक बाबा मनोहरदास के शिष्य अनन्तदास ने सिद्धा परमेश्वरी बाई की पर्णकुटी में बहुत दिनों तक साधना की थी। वे जब वहाँ साधना करने आये, स्थानीय लोगों ने उन्हें सतर्क किया कि सिद्धा बाई का साधना-स्थल अत्यन्त पवित्र है। वहाँ कामिनी-कांचन की आसक्ति का सर्वथा परित्याग करके ही तपस्या करनी चाहिए, नहीं तो लाभ के बदले हानि होने की ही सम्भावना है। अनन्तदासजी ने इस चेतावनी को ध्यान में रखकर वहाँ बहुत दिनों तक साधना की और उनकी तपस्या सार्थक भी हुई।

भारत के महान योगी *विश्वनाथ मुखर्जी*

चौदह भाग, ७ जिल्द में, प्रत्येक सौ रुपये

भारत योगियों, संतों, साधकों और महात्माओं का देश है। देश के सभी भागों में अनेक योगी तथा संत हुए हैं जिन्होंने देश की चिन्तनधारा और जीवन को प्रभावित किया है। अपने चमत्कारी जीवन से जनमानस को चमत्कृत भी किया है। ऐसे योगियों का जीवन-चरित चौदह भागों (७ जिल्द) में प्रस्तुत किया गया है।

भाग : १-२ तंत्राचार्य सर्वानन्द, लोकनाथ ब्रह्मचारी, प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी, वामा खेपा, परमहंस परमानन्द, संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत रविदास, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस।

भाग : ३-४ योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी, महर्षि रमण, भूपेन्द्रनाथ सान्याल, योगी वरदाचरण, नारायण स्वामी, बाबा कीनाराम, तैलंग स्वामी, परमहंस रामकृष्ण ठाकुर, जगद्गुरु शंकराचार्य, सन्त एकनाथ।

भाग : ५-६ स्वामी रामानुजाचार्य, रामदास काठिया बाबा, राम ठाकुर, साधक रामप्रसाद, भूपतिनाथ मुखोपाध्याय, स्वामी भास्करानन्द, स्वामी सदानन्द सरस्वती, पवहारी बाबा, हरिहर बाबा, साईं बाबा, रणछोड़दास महाराज, अवधूत माधव पागला।

भाग : ७-८ किरणचन्द्र दरवेश, स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज), भोलानन्द गिरि, तंत्राचार्य शिवचन्द्र विद्यार्णव, महायोगी गोरखनाथ, बालानन्द ब्रह्मचारी, प्रभु जगद्बन्धु, योगिराज गंभीरनाथ, ठाकुर अनुकूलचन्द्र, बाबा सीतारामदास ओंकारनाथ, मोहनानन्द ब्रह्मचारी, कुलदानन्द ब्रह्मचारी, अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी, स्वामी प्रणवानन्द, बाबा लोटादास।

भाग : ९-१० भक्त नरसी मेहता, सन्त कबीरदास, नरोत्तम ठाकुर, श्रीम, स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ, सन्तदास बाबाजी, बिहारी बाबा, स्वामी उमानन्द, पाण्डिचेरी की श्रीमाँ, महानन्द गिरि, अन्नदा ठाकुर, परमहंस योगानन्द गिरि, साधु दुर्गाचरण नाग, निगमानन्द सरस्वती, नीब करौरी के बाबा, परमहंस पं० गणेशनारायण, अवधूत अमृतनाथ, देवराहा बाबा।

भाग : ११-१२ बालानंद ब्रह्मचारी, श्री भगवानदास बाबाजी, हंस बाबा अवधूत, महात्मा सुन्दरनाथजी, मौनी दिगम्बरजी, गोस्वामी श्यामानन्द, फरसी बाबा, भक्त लाला बाबू, श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी, नंगा बाबा, तिब्बती बाबा, गोस्वामी लोकनाथ, काष्ठ-जिह्वा स्वामी, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, अवधूत नित्यानन्द।

भाग : १३-१४ श्री मधुसूदन सरस्वती, आचार्य रामानुज, आचार्य रामानन्द, अद्वैत आचार्य, चैतन्यदास बाबाजी, भक्त दादू, गुरुनानक देव, सिद्ध जयकृष्ण दास, शैवाचार्य अप्पर, साधक कमलाकान्त, राजा रामकृष्ण, यामुनाचार्य, आचार्य मध्व, स्वामी अभेदानन्द, भैरवी योगेश्वरी, सिद्धा परमेश्वरी बाई।

Rs. 100.00
ISBN 81-89498-14-2
9788189498146

अनुराग प्रकाशन
विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : **(0542) 2421472**
Shop at : **www.vvpbooks.com**